संस्कृत लोककथा में लोक-जीवन

डॉ॰ गोपाल शर्मा



हंसा प्रकाशन
जयपुर

पुस्तक संस्कृत लोककथा मे लोक जीवन

लेखक डॉ॰ गोपाल शर्मा

ISBN 81-86120-41-6

संस्करण 1999 (प्रथम)

मूल्य 300/- (तीन सौ रुपये मात्र)

प्रकाशक हंसा प्रकाशन
57, नाटाणी भवन, मिश्रराजाजी का रास्ता
चांदपोल बाजार, जयपुर-302001

टाईप सैटिंग स्वास्तिक कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर

मेरे माता-पिता
एवं
स्व.जीजाजी श्री देवीलाल जी
के लिए

शुभाशंसा

श्री गोपाल शर्मा की शोधकृति "संस्कृत लोककथाओं में लोकजीवन" प्रकाशित हो रही है यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। छः अध्यायों में रचित इस ग्रन्थ में श्री शर्मा ने गुणाढ्य की आजकल अलभ्य बृहत्कथा की संस्कृत वाचनाओं, वेताल पंचविंशतिका, सिंहासनद्वात्रिंशिका तथा शुकसप्तति आदि के आधार पर तत्कालीन लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का एक सर्वांगीण चित्र अंकित किया है।

साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है, इस दृष्टि से लोक साहित्य लोकजीवन का दर्पण माना जा सकता है। साहित्य की विधाओं में कथा संभवतः लोकजीवन की निकटतम अभिव्यक्ति है। गुणाढ्य की बृहत्कथा प्राचीन भारत की परम्परागत लोककथाओं का एक विशाल संग्रह था जिसकी रचना पैशाची प्राकृत में की गई थी। दुर्भाग्य से बृहत्कथा तो अब लुप्त हो चुकी है परन्तु बुधस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी एवं सोमदेव के कथासरित्सागर के रूप में बृहत्कथा के संस्कृत रूपान्तर हमें उपलब्ध हैं। इन रूपान्तरों में बृहत्कथा की ये कथाएँ विभिन्न देश काल व कथा शैली के अनुसार अपना कलेवर बदल कर प्राचीन भारत के लोकजीवन की एक विराट झांकी अपने में समेटे हुए हैं। श्री गोपाल शर्मा ने प्रस्तुत ग्रंथ में इन कहानियों में चित्रित जनसमाज के जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक आदि विभिन्न आयामों को गहराई व विस्तार से जाकर अनावृत किया है जिससे हम तत्कालीन लोकमानस की आशाओं, आकांक्षाओं, कष्टों, खुशियों, अभावों और संघर्षों से भलीभांति परिचित हो सकते हैं। भारतीय लोक संस्कृति के इतिहास व परम्परा की एकसूत्रता के लिए यह सामग्री विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इन कथाओं में अनेक शताब्दियों से परिव्याप्त भारतीय लोकजीवन के हृदय का स्पन्दन सुना जा सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि श्री गोपाल शर्मा ने इस कृति में लोककथाओं में प्रतिबिम्बित लोकजीवन का वस्तुपरक विवरण मात्र नहीं किया है अपितु उसकी अन्तरात्मा में झाँक कर उसकी वास्तविक स्थिति का पता लगाया है। लेखक के अनुसार तथाकथित उच्च वर्ग का लोक कहे जाने वाले जनसाधारण के साथ संबंध प्रायः शोषण व उत्पीड़न पर आधारित था। लोक रंजन एक साधन था राजा व सामन्त वर्ग की विलासिता व ऐश्वर्यमय जीवन का। वह स्वयं दैन्य व दारिद्र्य से पूर्ण कष्टमय जीवन गुजारने के लिए विवश था। फिर भी धर्म व नैतिकता उसके जीवन की धुरी थी। बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी उसने जीवन के नैतिक मानदण्डों व मानवीय मूल्यों का तिरस्कार नहीं किया।

यह स्वाभाविक ही है कि प्रस्तुत प्रबन्ध में श्री शर्मा की सहानुभूति आद्यन्त अभावों व विपदाओं से जूझ रहे लोक के प्रति रही है, लोककथाओं के तथाकथित निम्न वर्ग की आन्तरिक उच्चता व श्रेष्ठता को प्रकाश में लाकर लेखक ने इन कथाओं में चित्रित लोक के साथ तो न्याय किया ही है, आज के सामाजिक सदर्भ में अपने प्रगतिशील दृष्टिकोण व सरोकारों को भी उजागर किया है।

एक उदीयमान कहानीकार व कवि के रुप में साहित्य में अपनी पहचान बनाने के लिए साधनारत श्री गोपाल शर्मा इस शोधकृति के द्वारा एक उत्कृष्ट शोध विद्वान् के रुप में भी साहित्य-जगत् में प्रतिष्ठित होंगे, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। उनके व्यक्तित्व में प्रतिभा, लगन व परिश्रम का दुर्लभ सयोग है, अत भविष्य में भी उनसे अनेक ऐसी उत्तम कृतियों की आशा की जा सकती है। इस विषय में मेरी आशीष व शुभाशसा सदैव उनके साथ है।

डॉ मूलचन्द्र पाठक
पूर्व आचार्य एव अध्यक्ष सस्कृत विभाग,
मोहनलाल सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्राक्कथन

लोकसाहित्य लोकजीवन का दर्पण है, जिसमें हमारी विशाल लोकसंस्कृति की आत्मा का पुनीत इतिहास अभिव्यक्त हुआ है। "लोक कथा" लोकसाहित्य का ही एक सशक्त एव प्रमुख अग है। सच तो यह है कि लोककथा लोकसाहित्य का ही नही अपितु साहित्य मात्र का आदि स्रोत है। लोककथा का उद्भव तो मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही हो गया उसने पृथ्वी पर घटित विभिन्न वस्तुएँ आश्चर्य, अद्भुत घटनाएँ आदि देखे, अनुभूत किये और उन्हें मौखिक अभिव्यक्ति दी उसी क्षण लोक कथा का उद्भव हुआ। शनै शनै उसमे और घटनाएं अनुभव विचार जुडते गये वह पूर्ण "लोकथा" बनी और लिपि के अभाव में मौखिक परम्परा में सदियों पीढी दर पीढी प्रवहमान रही भले ही कालान्तर में उसे लिपिबद्ध कर लिया गया हो।

मौखिक परम्परा में प्रवहमान लोककथा म ही लोक सस्कृति प्रवहमान रही है। प्रस्तुत शोध प्रबध का उद्देश्य "सस्कृत लोककथा में लोक जीवन" विषय पर अध्ययन करना रहा है। लगभग सभी भारतीय प्रादेशिक भाषाओं, बोलियों एव क्षेत्र विशेष क आधार पर इस सदी में लोक साहित्य पर कार्य हुआ है। परन्तु सस्कृत साहित्य के सदर्भ में "लोक जीवन" को आधार मानकर शोध कार्य का प्राय अभाव ही दृष्टिगत होता है। सस्कृत कथा साहित्य के सदर्भ में भारतीय सस्कृति एव कथासारित्सागर कथासरित्सागर एक सास्कृतिक अध्ययन The Ocean of Story Folk lore in Mahabharata सस्कृतकाव्य में शकुन सस्कृत लोककथा में नारी Cultural life of India as Known from Somadeva क्षेमेन्द्र एक सामाजिक अध्ययन, पचतत्र में लोक जीवन आचार्य क्षेमेन्द्र Aphorisms and Proverbs in the Kathasaritsagara, Ksemendra Studies आदि ग्रथो में प्रसगवश "लोक जीवन" के कतिपय पक्षों का किंचित् स्पर्श किया गया है परन्तु सस्कृतकथा साहित्य के विशाल आयाम को देखते हुए इसे पर्याप्त नही कहा जा सकता है।

लोक जीवन का सुस्पष्ट एव सरल चित्र लोककथाओं में अभिव्यक्त हुआ है। सस्कृत प्राकृत अपभ्रश हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं एव बोलियों में लिखे गये अधिकतर साहित्य का आधार लोक कथा ही है। अपौरुषेय वेद का सर्जन स्रोत लोक कथा ही रहा है। लोककथाओं के सकलन एव सपादन का कार्य ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में गुणाढ्य की "बृहत्कथा" के साथ ही प्रारम्भ हो गया था। "बृहत्कथा" की भाषा पैशाची प्राकृत थी। तत्कालीन पिशाच जाति या प्रदेश विशेष में बोली जाने वाली भाषा पैशाची प्राकृत थी। "बृहत्कथा" में जिस रूप में जो कथाएँ सकलित हुई सभव है उसी रूप में

तत्कालीन लोक जीवन में भी प्रचलित रही हों, परन्तु प्रमाणाभाव मे यह कहना कठिन ही है क्योंकि "बृहत्कथा" मूल रूप में आज अनुपलब्ध है। "बृहत्कथा" की सम्कृत तथा प्राकृत भाषा में अनुदित चार वाचनाएँ प्राप्त होती हैं—

1 प्राकृत वाचना—सघदासगणिकृत—वसुदेवहिण्डी।

2 नेपालीवाचना—बुधस्वामीकृत—बृहत्कथाश्लोकसग्रह

3 काश्मीरीवाचना—क्षेमेन्द्र—बृहत्कथामजरी एव सोमदेवभट्ट कृत कथासरित्सागर।

4 तमिल वाचना—

हम यह निश्चित रूप से कहने की स्थिति में नहीं है कि कौनसी वाचना "बृहत्कथा" का रूपान्तरण है या उसके अधिक निकट है। "बृहत्कथा" की वाचनाओं के अतिरिक्त सम्कृत लोककथा की परम्परा वेतालपचविंशतिका, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकसप्तति भट्टरकद्वात्रिंशिका कथार्णव आदि के रूप में प्रवहमान रही है।

एक जिज्ञासा सहज उद्भूत होता है कि क्या इन सस्कृत कथाओं को आरम्भ से ही लोककथा कहा गया है। सम्कृत साहित्य परम्परा में जो कथाएँ सगृहीत कर लिखी गइ उन्हें अतीत में "लोककथा" नही कहा गया एव न ही ऐसा भेद काव्यशास्त्रादि ग्रथों मे मिलता है। वस्तुत साहित्य का नव विशेषण लोक" बीसवी सदी के विद्वानों के मस्तिष्क की देन है। इस सदी में "लोक शब्द जिस विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ यहाँ उसके आधार पर सस्कृतकथा का "लोककथा" कहा गया है। सम्कृत लोककथाओ की अपनी विशेषता है कि वे सर्वप्राचीन हैं वे लोक जीवन से सम्बन्धित हैं जिन्हें निरन्तर चिरयोवन का वरदान है। सस्कृत लोककथा में जन सामान्य की स्वीकृति है। भाषा सरल है एव एक शब्द सार्थक है, प्रत्येक शब्द की आत्मा में यथार्थ जीवन की चेतना घुली मिली है चाहे वह उच्चवर्गीय जीवन का आडम्बर अस्वाभाविक चमत्कृति और प्रपचमय जीवन की प्रवचना हो या हो लोक के उत्पीडन एव शोषण की यथार्थ छवि।

सस्कृत लोककथा पर वैसे तो बहुत शोध-कार्य हो चुका है, परन्तु वह एक पारम्परिक दृष्टि से अभिजात वर्ग के सदर्भ में सतही एव आदर्शपरक ही हुआ है। उससे उच्च एव सभ्य कहे जाने वाले राजा, सामत एव ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग का अन्तर्कलुष उजागर न हुआ। वस्तुत क्या वे उच्च एव सभ्य थे? सस्कृत कवि के दरबारी होने से यद्यपि वह स्वय उन्हें उच्च एव श्रेष्ठ कहता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो स्वय कवि का उसकी कृतियों मे गौण पात्रो के माध्यम से अनैतिकता एव शोषण के विरोध में स्वर प्रस्फुटित हुआ है। कवि शशक सिंह जैसी कथाओं से शक्तिशाली, दुराचारी शासक का *अन्त कराता है। यहाँ कवि क्रांति का सकेत करता है। यह सत्य है कि कवि का विद्रोह स्वर* सीधे सीधे मुखर न होकर अन्योक्ति के माध्यम से सकेत करता है। जहाँ एक ओर वह राजा सामत को श्रेष्ठ उच्च कहता है वहाँ "वर्णसकरदास" शब्द के प्रयोग मात्र से उनके नैतिक पतन की पराकाष्ठा की भी अभिव्यक्त करता है। ऐसे राजाओं की अन्तपुर में निवसने वाली रानियाँ राजकुमारियाँ सच्चरित्र न थी। वे दासियों के सहयोग से परपुरूष का ससर्ग करती थी। सुरा सुन्दरी द्यूत आखेट में लीन रहने वाले राजाओं का राज्य भार

मत्री सभालते थे। सस्कृत लोककथा में अभिजात वर्ग के साथ-साथ तत्कालीन लोक जीवन की स्पष्ट छवि अभिव्यक्त हुई है।

शोध की उपयोगिता समाज कल्याण मे है। शोध विषय से सम्बन्धित साहित्य में से सकलित तथ्यों को प्रस्तुत कर देना मात्र शोध नही है, अपितु सकलित तथ्यो के आधार पर तत्कालीन परिस्थितियों को प्रस्तुत कर नीति एव कर्तव्य-पथ को प्रशस्त करना होता है। प्रस्तुत शोध प्रबध मे प्रगतिवादी एव आधुनिक दृष्टि से शोध उपादेयता के परिप्रेक्ष्य मे सकलित तथ्यो का विश्लेषण एव विवेचन किया गया है। साहित्य रसानुभूति एव सौन्दर्य बोध के लिए ही नही है वह एक ऐसा दर्पण है जिसमें तत्कालीन समाज की यर्थाथ नग्न तस्वीर प्रस्तुत होती है। सूक्ष्म दृष्टि से देखकर अग प्रत्यग का कारण सहित विवेचन करना अपेक्षित है। प्राय हम उस दर्पण में मात्र रसानुभूति एव सौन्दर्य बोध हेतु झाकते हैं। हमे उस दर्पण के माध्यम मे समाज के अन्तस् मे भी देखना होगा कि कोई चोरी किसके यहाँ कैसे और किस उद्देश्य से कर रहा है—क्षुधावश या सुख ऐश्वर्य की अभिवृद्धि के लिए। "सस्कृत लोक कथा मे लोक-जीवन शोध विषय के अध्ययन हेतु सकलित तथ्यों के प्रस्तुतीकरण को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि कोई व्यक्ति बिना किसी छल कपट एव लालच के क्षुधावश चोरी कर रहा था तो उस 'चोर' कहा जा रहा था एव अपने सुख ऐश्वर्य की अभिवृद्धि एव विलासिता के साधन प्राप्त करने के लिए विश्वास एव आस्था की ओट म "लोक" से कर वसूल करने वाला सम्पत्ति, नव सुन्दरियों की प्राप्ति एव साम्राज्य विस्तार हेतु युद्ध करने वाला और प्रजा के स्वेद-रक्त का शोषण कर अपने जीवन को अभिसिचित करने वाला वर्ग प्रजापालक, सभ्य एव उच्च कहा जा रहा था।

किसी भी समाज मे अत्यधिक दीनता एव अमीरी बुरी है। दोना एक दूसरे की कारण हैं। सस्कृत लोककथा साहित्य कालीन समाज में राजा सामन्त, वणिक् आदि के श्रीसम्पन्न होने एव विलासितापूर्ण जीवन जीने का आधार दीन जनों का शोषण रहा है। यदि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समान सुविधाएँ एव अवसर प्राप्त हों तो न कोई अमीर रहेगा और न कोई निर्धन ही।

वस्तुत सस्कृत लोककथा में चित्रित लोक जीवन सत्य त्याग, स्नेह सहयोग प्रेम विश्वास आस्था अनुष्ठान अपरिग्रह सरलता आदि को जीवन म व्यावहारिक रूप देने की प्रेरणा देता है। इसी लोक सस्कृति की आज अत्यधिक आवश्यकता है जो आदमी आदमी को स्नेह सूत्र म बाँध सकती है उसे कर्तव्य अकर्तव्य का विवेक प्रदान कर सकती है जो विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों से ऊपर उठकर धर्म के अर्थ मानव कल्याण की राह प्रशस्त कर सकती है आदर्श कथनों को जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान कर सकती है स्व पर को भुलाकर "वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना जागृत कर सकती है। ये ही लोक जीवन की व विशिष्टताएँ हैं जिनकी आज के समाज को भी आवश्यकता है।

प्रस्तुत शोध प्रबध म बृहत्कथा की वाचनाओं (केरल वाचना अनुपलब्ध है) के अतिरिक्त वेतालपचविशतिका सिंहासनद्वात्रिंशिका शुकसप्तति को आधारभूत ग्रथ

मानकर तत्कालीन लोक जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एव धार्मिक पक्ष का अध्ययन किया है। शोध प्रबध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में "लोक साहित्य की अवधारणा एव संस्कृत लोककथा" विषयक अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में "लोक" की अवधारणा, लोक साहित्य का अर्थ एव उसका महत्त्व, लोककथा का अर्थ संस्कृत लोककथा का उद्भव एव विकास, उसकी विशेषताओं के साथ संस्कृत लोककथा एव लोक-जीवन आदि बिन्दुओं को विश्लेषण एव विवेचन के साथ प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में लोक के सामाजिक जीवन के वर्ण व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, पारिवारिक जीवन, सस्कार, प्रेम, विवाह, नारी, दास-दासी, खान-पान, रहन सहन, शिक्षा एव कला, लोक विश्वास, लोक एव उच्चवर्ग के अन्त-सम्बन्ध आदि पक्षों का अध्ययन किया गया है।

तृतीय अध्याय में लोक-जीवन के आर्थिक पक्ष में जीविका के साधन, तोल, माप एव मुद्रा, वर्गभेद एव विभिन्न वर्गों के अन्तःसम्बन्ध, प्राकृतिक आपदाओं का लोक-जीवन पर प्रभाव, आर्थिक शोषण एव लोक चेतना आदि विषयों को प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में तत्कालीन राजनीति एव लोक, उनकी परस्परता तथा लोक जीवन में राजनैतिक चेतना आदि बिन्दुओं का अध्ययन किया गया है।

पचम अध्याय में तत्कालीन लोक धर्म, धर्माचरण, नैतिक मान्यताएँ, अपनीति एव दुराचार आदि विषयों को प्रस्तुत किया गया है।

अन्तिम षष्ठ अध्याय में उपसहार है।

सहज, सरल अकृत्रिम लोक-जीवन विषय पर कार्य करने के लिए अपेक्षित दिशा प्रदान करने वाले सरल सहज एव स्नेहापूर्ण आशीर्वाद प्रदाता गुरूवर से जो अजस्र धारा प्रवहमान रही, उसी का परिणाम है कि संस्कृत लोककथा-हृदय हिमालय से निर्मल, पुनीत लोक जीवन की यह गड्गा उद्भूत हुई। उस मनीतापूर्ण सरिता में अवगाहन किया है मैंने। यदि उस गड्गा में कलुष तत्त्व हैं तो मेरी त्रुटियाँ ही हैं। ऐसे गुरूवर डॉ मूलचद्र जी पाठक के लिए क्या कहूँ, वस्तुत स्नेह मना मैं मूक, कोई शब्द नहीं है मेरे पास।

संस्कृत विभाग के प्राध्यापकों डॉ बिहारी लाल जैन, डॉ विष्णु प्रसाद भट्ट, डॉ बाबूलाल शर्मा डॉ कुसुमसगल, डॉ हेमलता बोलिया का प्रत्यक्ष परोक्ष एव अनौपचारिक सहयोग अविस्मरणीय है। विभाग में ही कार्यरत श्री सुभाष जी नागला एव श्री तुलसीराम जी का स्नेह एव सहयोग प्रेरणास्पद है।

मेरे प्रिय मित्रो डॉ हेमेन्द्र चण्डालिया, डॉ अनिल पालीवाल, डॉ श्रीनिवासन् अय्यर सा के प्रति मैं धन्यवाद एव आभार ज्ञापित करना उचित नहीं समझता हूँ। स्नेह मित्रता में औपचारिकता कैसी ? प्रस्तुत शोध प्रबध को पूर्ण प्रकाशित रूप देने की जिन्हें चिन्ता थी उन्हीं मित्रों एव स्नेहीजनों के सहयोग एव शुभकामनाओं से ही मैं कर्मरत रहा और उसी का परिणाम है प्रस्तुत शोध प्रबध। मुझे समझने प्रेरित करने वाले गौतम, ओम एव लाडकी के लिए क्या कहूँ ?

सुखाडिया विश्वविद्यालय पुस्तकालय सामाजिक विज्ञान एव मानविकी महाविद्यालय पुस्तकालय, साहित्य सस्थान एव श्रमजीवी महाविद्यालय पुस्तकालय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान उदयपुर एव जाधपुर राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय जयपुर दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान पुस्तकालय वाराणसी राजकीय माणिक्यलाल वर्मा महाविद्यालय भीलवाडा, आर्टस एव कॉमर्स कॉलेज, कपडवज (गुज) आदि पुस्तकालयो एव शोध सस्थानों तथा उनके कर्मचारियों के प्रति आभार एव धन्यवाद व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे शोध कार्य में सहयोग एव सुविधाएँ प्रदान की।

उन ग्रथकारों के प्रति आभार ज्ञापित करता हूँ जिनके ग्रथों से शोध कार्य में मार्गदर्शन एव दिशा मिली।

साथ ही मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली के प्रति भी अपना हार्दिक आभार ज्ञापित करता हूँ, जिसके द्वारा प्रदत्त कनिष्ठ एव वरिष्ठ शोधवृत्ति मेरे लिए शोध कार्य में आर्थिक अवलम्ब बनी।

अन्तत श्री प्रकाश नेमनानी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने शोध प्रबध को सुचारू रूप से टकित कर मेरे कार्य को सपूर्णता प्रदान की। इस शोध प्रबध को प्रकाशित कर पुस्तक का आकार देने का समग्र श्रेय आदरणीया श्रीमती पुष्पादेवी नाटाणी को जाता है उन्हें धन्यवाद एव बधाई।

उदयपुर गोपाल शर्मा

सकेताक्षर सूची

अभि शा	— अभिज्ञानशाकुन्तलम्
क स मा	— कथासरित्सागर
क स सा एक सास्कृतिक अध्ययन	— कथासरित्सागर एक सास्कृनिक अध्ययन
क स सा तथा भा म	— कथासरित्सागर तथा भारतीय सस्कृति
वृ क म	— वृहत्कथामजरी
वृहद्	— वृहदारण्यकोपनिषद्
मनु	— मनुस्मृति
महा	— महाभारत
याज्ञ	— याज्ञवल्क्यस्मृति
रामा	— रामायणम्
शुक्र	— शुक्रसप्तति
सि द्वा	— सिंहासनद्वात्रिंशिका
सि ब	— सिंहासनबत्तीसी
o s	— The ocean of story

-- --------

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

लोक साहित्य की अवधारणा एव सस्कृत लोककथा

- लोक की अवधारणा
- लोक साहित्य   अर्थ एव अवधारणा
- लोक साहित्य का महत्त्व
- लोककथा   अर्थ एव अवधारणा
- सस्कृत लोककथा   उद्भव एव विकास
- सस्कृत लोककथा की विशेषता
- सस्कृत लोककथा एव लोक-जीवन

1. लोक की अवधारणा

"लोक" शब्द की व्युत्पत्ति लोक पु लोक्यतेऽसौ लोक्+घञ्। 1 भुवने भुवनशब्दे दृश्यम्। 2 जने च अमर । भावे घञ् 3 दर्शन, तीन अर्थों में हुई है।[1] हलायुधकोश में "लोक" शब्द का अर्थ ससार, मर्त्यलोक एव जन के साथ प्रजा भी किया गया है।[2] शब्दकोशों म "लोक" शब्द के कितने ही अर्थ मिलते हैं जिनमें से साधारणत दो अर्थ विशेष प्रचलित हैं। एक तो वह जिससे इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोक का ज्ञान होता है। लोक का दूसरा अर्थ है—जन सामान्य। इसी का हिन्दी रूप "लोग" प्रचलित है।[3] विश्व साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ वदों में लोक" शब्द ससार[4], स्थान[5], आलोक[6] एव स्वर्गान्तरिक्षादि[7] विभिन्न लोकों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कीथ एव मैक्डोनल के अनुसार, "लाक ऋग्वेद और बाद में ससार का द्योतक है। अक्सर तीन लोकों का उल्लेख हुआ है और अय लोक' (यह लोक) का नित्य ही 'असौ लोक' (दूरस्थ अर्थात् दिव्यलोक) के साथ विभेद किया गया है। कभी-कभी स्वय लोक शब्द भी द्युलोक का द्योतक है, जबकि कुछ अन्य स्थलों पर अनेक प्रकार के लोकों का उल्लेख हुआ है।"[8]

उपनिषदों के अनुसार "इहलोक और परलाक" ये ही दो लोक हैं। भू, भुव स्व, मह जन तप, और सत्यम्—ये ही सब सप्त व्याहृतियाँ कहलाती हैं। पौराणिक काल में ये ही सात लोकों के आधार हुए और फिर सात पाताल[9] मिलकर कुल चौदह लाक बने।"[10] बृहदारण्यकोपनिषद् एव हरिवशपुराण में "लोक" शब्द विभिन्न लोकों के साथ

1 वाचस्पत्यम् (बृहत्सस्कृताभिधानम्) षष्ठेभाग, पृ 4833
2 हलायुधकोश (अभिधानरत्नमाला), पृ 581
3 हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम भाग, पृ. 747
लोक के भुवन विश्व स्वर्ग पाताल, समाज, प्रजा, जनता-समूह मानव जाति, यश, दिशा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, पापी आदि अर्थ किये जाते हैं।
4 ऋग्वेद—10 85 24 9 2 8 8 86 21 10 133 1 6 120 1
अथर्ववेद—5.30 17 8 8 8 2 10 7 4 11 4 6 119 1 6 122 3 7 88 4 8 9 15 11 1 37
5 ऋग्वेद—7 33.5 7 60 9 7 84 2 10 16 4 10 85 20
6 वही 10 104 10, 9 92.5 अथर्ववेद—3 28 6
7 ऋग्वेद—7 99 4 9 113 7 10 90 14 10 180 3
अथर्ववेद—9 12 4 11 1 7 3 29 4 4.34 2 4 38.5 19.54.5 19 9 12 12 3 16
8 वैदिक इण्डेक्स, भाग दो पृ. 259
9 अतल, वितल, सतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल ये सात पाताल हैं।
10 पौराणिककोश, पृ 453

आया है[1] तथा इहलोक परलोक[2] एवं जन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[3] स्मृतियों में "लोक" से तात्पर्य इहलोक (संसार) स्वर्गादि तीन लोकों से है।[4] आदिकाव्य रामायण एवं महाभारत में 'लोक' शब्द संसार[5] एवं जनसामान्य अर्थात् प्रजा[6] के अर्थ में आया है। महावैयाकरण पाणिनि ने वेद से विलग "लोक" की सत्ता को स्वीकार किया है— लोकसर्वलोकाट्ठञ्।[7] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लोकप्रचलित शब्दों का उल्लेख अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में किया[8] एवं पञ्चम आह्निक में कृत्रिमाकृत्रिम न्याय की प्रवृत्ति के सन्दर्भ में लोक व्यवहार को जिस उदाहरण से समझाया है उससे "लोक" का ग्रहण धूलिधूसरित पाद वाले शिशुओं से दूर ग्रामीण से किया जा सकता है।[9] भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अनेक नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जिसके अनुसार सामान्य प्रजाजन के आचार एवं क्रियाओं को सादगीपूर्ण एवं अविकृत रूप में प्रदर्शित करने वाली अभिनय विधि लोकधर्मी

---

1 बृहदारण्यकोपनिषद्—1/5/16 3/6/1
गीतारहस्य—63/38 1/71 4 4 56 74
2 बृहद्— 1/4 15 1/5 4 2/1 12
3 वही— न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रियाः
भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति 2 4 5
हरिवंश—"लोकानां भूतये भूमिभागाया मनसा दृप्तम्।
सर्वलोकाधिवासिन्या भासास्थानमधिष्ठितम् ॥ 57 167
लोकोपालम्भता भाता ममकाञ्च निराकृत ॥ 33/20 1/6 52/75 24/44 19/121 9/87
4 लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। मनुस्मृति 1/31
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ मनु 1/11
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः। मनु 2/230
मनु 1/7 1/84 2/5 2/57 2/110 2/163 2/214 2/232 2/33
ये लोका दानशीलानां स तानाप्नोति पुष्कलान्
याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय 1/213
याज्ञ—प्रायश्चित्ताध्याय—3/145 1/67 3/187 3/193 3/194 3/196 3/220 3/256 3/329
आचाराध्याय—1/33 1/50 1/78 1/156 1/212 1/213
व्यवहाराध्याय—2/73 2/74
5 रामायणम्—3/50/4 3/50/5 5/5/2 6/40/10
महाभारतम्—11/1/40 1/154/44 2/22/8
6 रामा—2/33/14 1/366/7 4/30/57 6/25/29 7/10/44 7/34/20 7/97/16
महा—1/1/41 1/4/126 1/102/8
7 अष्टाध्यायी—5/1/44
8 केषां शब्दानाम्। लौकिकानां वैदिकानां च। लौकिकास्तावत् गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। व्याकरणमहाभाष्य प्रथम आह्निक पृ 2
9 "प्रकरणान्न लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]"
—व्याकरणमहाभाष्य, पञ्चम आह्निक पृ 291

कही गई है ।[1] भगवद् गीता में इहलोक[2] परलोक[3] एव सामान्यजन[4] के अर्थ में प्रयुक्त "लोक" की सत्ता एव महत्ता को स्वीकार किया गया है—"अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ।"[5] लौकिक सस्कृत-साहित्य के काव्य-नाटक एव काव्यशास्त्रादि ग्रन्थों में "लोक" शब्द विशेष रूप से ससार[6] एव सामान्यजन[7] के लिए ही आया है। साहित्य में प्रयुक्त विभिन्न लोककान्त[8], लोकनाथ[9], लोकपाल[10], लोकलोचन[11], लोकयात्रा[12], लोकस्वभाव[13], लोकप्रवाद[14], लोकापवाद[15], एव प्राकृत अपभ्रश में प्रचलित "लोकजत्ता", "लोअप्पवाय" शब्दों के सन्दर्भ में "लोक" शब्द का अर्थ "जनसामान्य" या "प्रजा" है।

यहाँ अभिप्रेत "लोक" का अर्थ विभिन्न लोकों से नही है अपितु प्रजा, जनता, जन-समुदाय से है। इसी अर्थ में "लोक" शब्द साहित्य का विशेषण भी है। किन्तु इतने मात्र से "लोक" का पूर्ण अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाता। साहित्य को यह एक नया विशेषण मिला है। भाषा एव स्थान भेद से साहित्य हमारे लिए अपरिचित नही है।[16] परन्तु "लोक साहित्य" किस प्रकार का साहित्य है ? भारतीय साहित्य-परम्परा में "लोक" और "वेद" का विभेद प्राय प्रतिपादित किया जाता है।[17]

यहाँ लोक के अर्थ को साहित्य विशेषण के रूप में कदापि ग्रहण नही किया जा सकता, क्योंकि लौकिक साहित्य में वेद से इतर सारा साहित्य आ जाता है जबकि वाल्मीकी

---

1 स्वभावभावोपगत शुद्धन्त्वविकृत तथा ।
लोकवार्ता क्रियोपतमङगनलीलाविवर्जितम् ॥ 69
स्वभावाभिनयोपेत नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृश भवन्ननाट्य लोकधर्मी तु सा स्मृता ॥ 70 —नाट्यशास्त्र, चतुर्दशोऽध्याय, पृ.195

2 भगवद् गीता–2/5 3/3 3/9 3/24 3/20 3/25 4/12 4/40 6/42 7/25 9/33 10/6 15/7 15/16 16/6

3 वही 11/28 11/43 3/42

4 वही 3/21 5/14 5/29 18/17

5 वही 15/8

6 क. स. सा. 1/6/36 2/2/113 2/2/215 कौ अर्थशास्त्रम् 92/4/1, अभि. शाकुन्तलम् 4/2 7/33 काव्यप्रकाश 1/3 1/27 उत्तररामचरितम् 7/6 दशरूपक 2/63, नातिशतकम्–13, 12 33 87

7 अभि. शा. 5/7, उत्तराम–1/12, 1/93, नीतिशतकम्–46 62 108 दशरूपक 2/1 3/63 साख्यतत्त्वकौमुदी–पृ.58

8 रामायणम्–2/38/6

9 राजतरङ्गिणी 1/38

10 वही 1/349

11 कथासरित्सागर, 18/92

12 कौ. अर्थशास्त्रम्–92/4/1, महाभारत–1/1/49

13 रामायणम्–3/66/7

14 वही 5/25/12

15 वही 7/97/16

16 बगला साहित्य, हिन्दी-साहित्य, भारतीय-साहित्य, सोवियत साहित्य इत्यादि ।

17 वैदाच्च वैदिका. शब्दा सिद्धा, लोकाच्च लौकिका. । महाभारत 12/288/11
अतोऽस्मि लोके वदे च प्रथित. पुरुषोत्तम: । भगवद्गीता 15/8

की रामायण, कालिदास की शकुन्तला तथा माघ, भारवि आदि की रचनाओं को पूर्ण रूप से "लोक साहित्य" में समाविष्ट नही किया जा सकता। साहित्य परम्परा में "लोक" शब्द सज्ञा के रूप में या विशिष्ट "आलोक" आदि अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, किसी जाति विशेष या विशेषण के रूप में नही। विशेषण के रूप में प्रयुक्त "लोक" का अर्थ यदि जन समाज या जनता ग्रहण करे तो समग्र साहित्य लोक-साहित्य कहा जायेगा, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है। फिर "लोक" विशेषण का औचित्य या विशिष्ट अर्थ क्या होगा?

"लोक" शब्द अग्रेजी के फोक (FOLK) शब्द का समानार्थी है। 'FOLK' शब्द ऐंग्लोसेक्सन शब्द 'FOLC' का विकसित रूप है। जर्मन में यह VOLK हो गया। HERDER ने लोक-सगीत Volkslied, लोक-आत्मा Volksseela और लोक विश्वास Volkglaube आदि शब्दों का प्रयोग 18वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किया। उनका प्रसिद्ध लोक गीत सग्रह "Stimmen der Volker" 1778 1779 में प्रकाशित हुआ, परन्तु लोक जीवन के व्यवस्थित अनुशीलन के रूप में यह विज्ञान बाद में ही आरम्भ हुआ। ग्रिम भाइयों ने उनके प्रसिद्ध ग्रथ— Kinder und Hausmarchen का पहला भाग 1812 मे प्रकाशित किया जबकि अग्रेजी में 'FOLK' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम Thomas (थोमस) ने सन् 1846 में किया।[1] इससे पहले "पॉपूलर इण्टीक्विटीज" (लोक प्रिय) शब्द प्रयोग में आता था। विशेषण के रूप में प्रयुक्त "लोक"[2] शब्द को भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है।

भारतीय विद्वानों में लोक-साहित्य के शोधकर्त्ताओं में अग्रणी डा सत्येन्द्र ने "लोक" के विषय में कहा है—"लोक मनुष्य का वह वर्ग है जो अभिजात्य, सस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं वे लोक तत्व कहलाते है।"[3] डा कृष्णदेव उपाध्याय के मत में "आधुनिक सभ्यता से दूर, अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली तथाकथित अशिक्षित एव असस्कृत जनता को लोक कहते हैं जिनका आचार विचार एव जीवन परम्परागत नियमों से नियत्रित होता है।"[4] काका कालेलकर

1 Herder has used such terms as Vokslied (Folk song) Volksseela (Folk Soul) and Volksglabe (Folk belief) in the late eighteen centruy His famous anthology of folk-songs, stimmen der Volker in Liedern was first published in 1778 1779 but folkloristics proper in the sense of the scholarly study of folklore did not emerge unite later The Grimm brothers published the First volume of their celibrated Kinder and Haumarchen in 1812. While the English word folkore was not coined until *Thoms first proposed it in 1846*

Essay in Folkloristics page 1

2 लोक साहित्य (Folk literature) लोक-कहानी (Folk tale) लोक गात (Folk-song) लोक-वार्ता (Folk lore) आदि।

3 लोक-साहित्य विज्ञान, पृ 3

4 लोक-साहित्य की भूमिका, पृ 28

पारम्परिक जीवन जीने वाले गरीब ग्रामीणों को "लोक" मानते हैं।[1] महावीर प्रसाद उपाध्याय की दृष्टि में "वे लोग जो सभ्य या सुसंस्कृत माने जाने वाले लोगों के रहन-सहन, शिक्षा-संस्कृति तथा जीवन शैली से भिन्न प्राचीन परम्पराओं के प्रवाह में आदिम प्रवृत्तियों से संलग्न होकर अकृत्रिम, सरल या प्राकृतिक ढंग से जीवन-यापन करते हैं चाहे नगर निवासी हों या ग्रामीण, लोक के अन्तर्गत आते हैं, यह लोक मानव का बहुसंख्यक वर्ग होता है।"[2] श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी कहते हैं कि "लोक' से तात्पर्य सर्वसाधारण जनता से है तथा दीन हीन, दलित, शोषित, पतित, पीड़ित लोग और जंगली जातियाँ कोल, भील, संथाल, गोंड, नाग, शक, हूण, किरात, युक्कस, यवन, खस इत्यादि सभी लोक समुदाय मिलकर "लोक" संज्ञा को प्राप्त होता है।"[3] डॉ श्याम परमार ने साधारण जन समाज को[4], डॉ त्रिलोचन पाण्डेय ने उन सभी मानव समूहों को जो नगर अथवा ग्राम में कहीं भी रहते हों[5], मदनमोहन सिंह ने जन सामान्य को[6] तथा डॉ हरगुलाल ने जनपद-निवासियों को[7] "लोक" संज्ञा से अभिहित किया है। डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने ग्राम-जन[8] को "लोक" की संज्ञा दी है। हिन्दी के शीर्षस्थ साहित्यकार डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "लोक" शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचि सम्पन्न, सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जिन्दा रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।"[9]

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार सामाजिक वर्गीकरण की कल्पना दो रूपों में हुई—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। निम्न वर्ग के व्यक्तियों से सम्बन्धित समस्त विकारों एवं व्यापारों को "फोक-लोर" शब्द के भाव में आबद्ध किया गया।[10] ऐन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

1 "भारत की सच्ची शक्ति गावों में रहने वाले हिन्दुस्तान के करोड़ों गरीब और उनकी लाखों बरस की मंजी हुई संस्कृति के अन्दर है।"
—लोक-जीवन" पृ. 5

2 अष्टछापकृष्णकाव्य में लोक-तत्व, पृ. 25

3 सूर में लोक संस्कृति, पृ 57

4 वही पृ 57

5 लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ 104

6 मानसेतर तुलसी साहित्य में लोक तत्व की विवेचना, पृ 8

7 "जनपदों ने नगरों को अपने जीवन का नवनीत प्रदान करके उन्हें पुष्ट किया है। अतः उनकी उपेक्षा करना भारतीय जनता के उस विराट जन-समूह का निरादर करना है जिसने अपना रक्त दान करके नगरों को जीवन प्रदान किया है तथा अपने परिश्रम के बल पर नगरों की काया-पलट दी है उन्हें भव्य बनाया है।"
—सूर सागर में लोक-जीवन, पृ. 11

8 पृथ्वीपुत्र, पृ 38

9 जनपद, वर्ष 1, अंक 1, लोक साहित्य का अध्ययन, पृ 65

10 लोक-साहित्य, विद्या चौहान, पृ 11 12

में "FOLK" की व्याख्या इस प्रकार की गई है— एक आदिम समाज में उस समुदाय के समस्त व्यक्ति लोक हैं और शब्द के व्यापक अर्थ में इसे एक सभ्य राज्य की समस्त जनसंख्या के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके सामान्य प्रयोग में पश्चिमी प्रकार की सभ्यताओं में (लोक संगीत, लोक साहित्य आदि शब्द युग्मों में) उसका संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है तथा इसमें वे ही लोग शामिल किये जाते हैं जो व्यवस्थित शिक्षा और नगरीय संस्कृति की धारा से बाहर हों जो अशिक्षित अथवा अल्प शिक्षित तथा ग्रामीण क्षेत्रों के निवासी हों।"[1] कभी "लोक" एक ऐसे समूह को समझा गया जो समाज के भद्र उच्च वर्ग की तुलना में निम्न वर्ग में आते हों। एक ओर उन्हें सभ्यता के विपरीत रखा गया—वे एक सभ्य समाज का असभ्य हिस्सा थे दूसरी ओर उन्हें "आदिम" अथवा "जंगली" लोगों से भी अलग माना गया जो उर्ध्व विकास के क्रम में इनसे भी नीचे की सीढ़ी पर थे।[2]

"लोक" शब्द को लेकर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने प्रायः साम्य रखने वाले विचारों को ही अभिव्यक्त किया है। उपर्युक्त परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि "लोक" शब्द न केवल एक साहित्यिक विशेषण ही है अपितु समाज के एक बहुत बड़े वर्ग का वाचक बन गया है। "लोक" कभी समाज के पर्याय के रूप में स्वीकृत किया गया तो कालान्तर में समाज का एक अंग मात्र—"जनसाधारण" बन गया। समाज दो भागों में विभाजित हुआ—वेदराति प्रधान अर्थात् विशिष्ट और लोकराति प्रधान सामान्य। समाज में ये वर्ग मनुष्य में समझ के पैदा होते ही बहुत प्राचीनकाल में ही बन गये होंगे।[3] गीता में श्रीकृष्ण ने अपनी स्थिति विशिष्ट और सामान्य के भेदक "वेद" और "लोक" दोनों में बताई है।[4] साधारण जनता शिष्टादि की परम्परा से होती है। इस बात का समर्थन महाभारत के इस श्लोक से होता है—

1 In a primitive community the whole body of persons composing it is FOLK and in the widest sense of the whole population of a civilized state in its common application however to civilizations of the western type (in such compounds of Folk lore Folk music etc) It is narrowed down to include only those who are mainly out the currents of urban culture and systematic education the lettered or little lettered in habitants of village and country side

—Encyclopaedia Vol 7 p 444

2 The folk were understood to be a group of people who constituted the lower stratum the so-called "Vulgus in populo" in contrast to the upper stratum or elite of that society the Folk were contrasted on the one hand with civilisation —They were the uncivilised element in a civilised society but on the other hand the folk was also contrasted with the so called savage or primitive society which was considered even lower on the evolutionary ladder

—Essay in Folkloristics p 2

3 वैदिकं वैदिकं शब्दा सिद्धा लोकाच्च लौकिका।
उपयोगतरोषु लोकेषु च समो भव। महाभारत 12 288 ।।

4 अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः गीता 15 18

अज्ञानतिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टत ।
ज्ञानाजनशलाकाभिर्नेत्रोन्मीलनकारकम् ॥[1]

परवर्ती विद्वानों ने इसी जन-सामान्य को जो निम्न या असभ्यवर्ग है, आदिम अर्थात् प्रिमिटिव या जगली हैं, अनपढ, ग्रामीण, गवार है, शास्त्रीयता एव पाण्डित्य से दूर, अकृत्रिम जीवन का अभ्यस्त, परिष्कृत या सुसस्कृत तथा तथाकथित सभ्य प्रभावों से दूर रहकर प्राचीन परम्परा के प्रवाह में जीवनयापन करने वाला है, "लोक" कहा है। सहज प्रश्न उठता है कि परम्परा के प्रवाह में जीवन यापन करने वाले को "लोक" माने तो सभ्य एव सुशिक्षित कहे जाने वाले उच्च विशिष्ट समाज के लोगों में भी आदिम मानव परम्परा, विश्वास एव धार्मिक-अनुष्ठान के अवशेष मिलते हैं। इस स्थिति में तो समग्र समाज ही "लोक" कहा जायेगा। परन्तु यह अधिक सम्भव है कि शिक्षित एव सभ्य वर्ग ने लोक-विश्वास, अनुष्ठान आदि लोक-सम्पर्क में आकर अपनाए हों, वे उसे परम्परा से प्राप्त न हुए हों। इस स्थिति में समग्र समाज को "लोक" कहना अनुचित ही होगा। प्राय यह भी देखा जाता है कि सभ्य एव सुशिक्षित वर्ग जिन्हें अधविश्वास मानता है, उन लोक विश्वासों व अनुष्ठानों आदि को प्राय प्राकृतिक एव अन्य प्रकार की सकटापन्न स्थितियों में ही अपनाता है, उनका उद्देश्य सकट से मुक्ति प्राप्त करना होता है जिसके लिए वह कुछ भी कर सकता है किन्तु निम्न, असभ्य, पारम्परिक दीन हीन के पास सिवाय परम्परा में प्राप्त लोक विश्वासों एव धार्मिक अनुष्ठानों के और चारा ही क्या ? अत उच्च वर्ग को "लोक" में परिगणित नहीं किया जा सकता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "लोक" शब्द से समाज के पिछडे वर्ग का अर्थ ग्रहण किया गया है, फिर उसका आदिम जाति के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया और उसके बाद वह कृषक एव ग्रामीण जनसमुदाय के अर्थ में प्रयुक्त किया गया। किन्तु "लोक" शब्द का यह सीमित एव एक पक्षीय अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। कृषक एव ग्राम में रहने वाले को ही "लोक" नहीं कहा जा सकता क्योंकि "एक ओर तो ग्रामवासियों का नगरों में आवागमन होता रहा। दूसरे, नगरों में रहने वाले निम्नवर्गीय लोगों के बीच भी लोक परम्परा ही प्रतिष्ठित होती रही, जिनकी सख्या अब श्रमिक वर्गों के रूप में उत्तरोत्तर बढती जा रही है।"[2]

निष्कर्ष रूप में "लोक" शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि "लोक" वह है जो ग्राम या नगर कहीं भी रहता हो, साक्षर हो या निरक्षर, किसी भी जाति या धर्म का हो, परिस्थितियों एव अभावों के कारण समाज का एक ऐसा वर्ग जो सम्पत्ति, सम्मान एव शक्ति की दृष्टि से सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एव धार्मिक जीवन में तथाकथित उच्च, सभ्य सुशिक्षित एव सम्पन्न वर्ग की दृष्टि में उपेक्षित है एव निम्न है या उसके शोषण का शिकार है, फिर भी जिसके जीवन में उस देश की पारम्परिक पुनीत सस्कृति का जीवन्त रूप झलकता है।

---

1 अज्ञानरूपी अधकार से विचरते इस लोक की आँखों को यह ग्रथ (महाभारत) खोल देता है। निश्चित ही अज्ञानान्धकार में विचाता यह लोक जनसाधारण ही है।

—अष्टछाप कृष्णकाव्य में लोक-तत्व, पृ. 19

2. लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ. 56

2. लोक साहित्य · अर्थ एव अवधारणा

मनुष्य ने जब सबसे पहले सामाजिक परिवेश में रहना आरम्भ किया एव परित प्रकृति में भय, आश्चर्य एव उल्लास के अनुभवों को ग्रहण कर उन्हें मौखिक अभिव्यक्ति देना आरम्भ किया, तब से ही "लोक साहित्य" का जन्म हो गया और वह मौखिक साहित्य ही लिखित साहित्य का आधार बना। अत "लोक साहित्य मानवता की प्राचीनतम एव प्राथमिक शाब्दिक अभिव्यक्ति ठहरता है।"[1] जिस मनुष्य ने शाब्दिक अभिव्यक्ति दी उसके विषय में वेद व्यास ने महाभारत में बडे उदार शब्दों में कहा है—

गुह्य ब्रह्ममिद ब्रवीमि। नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरमिह किंचित ॥[2]

"लोक साहित्य" अर्थात् लोक का साहित्य जो मौखिक परम्परा से एक पीढी से दूसरी पीढी को प्राप्त हुआ है। इस विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है कि "लोक साहित्य" समुदाय विशेष की रचना है या किसी अज्ञातनामा व्यक्ति की रचना में समुदाय के योगदान का फल है। "लोक-साहित्य' को "लोक-श्रुति" भी कहा गया है।[3] इस विषय में रामप्रसाद दाधीच ने कहा है कि "लोक-साहित्य" वस्तुत लोक की मौखिक अभिव्यक्ति है। यह साहित्य अभिजात्य सस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना से शून्य होता है। यह किसी एक व्यक्ति की कृति नही होता। परम्परा में मौखिक क्रम से यह अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य में सरचण करता है। इसमें समूचे लोक मानस की प्रवृत्ति समाई रहती है।[4] शङ्करलाल यादव के अनुसार लोक-साहित्य उस वन्य कुसुम के सदृश है जो बिना सजाये हुए भी अपनी प्राकृतिक आभा से दीप्तिमान है। इसमें नैसर्गिक रूक्षता (खुरदरापन) है, किन्तु है एक लावण्य एव सौन्दर्य से सयुक्त।[5] डॉ सत्येन्द्र ने कहा है कि "लोक साहित्य" के अन्तर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें—

(अ) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों,

(ब) परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो, और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो।

(स) कृतित्व हो किन्तु वह लोक मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।[6]

---

1 रूसी लोक साहित्य, पृ 19
2 लोक साहित्य विमर्श पृ 11
3 हरियाणा प्रदेश का लोक-साहित्य, पृ 39
4 राजस्थानी लोक साहित्य अध्ययन के आधार, पृ 2
5 हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य, पृ 40
6 लोक साहित्य विज्ञान, पृ 4

आद्याप्रसादत्रिपाठी न कहा है कि—"मौखिकता प्राचीन युग का सकेत है जबकि मौखिक वाणी या मौखिकता एकमात्र साधन थी, जिसकी सहायता से मानवता ने प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध सघर्ष किया और आने वाली पीढी को अपना अनुभव सौंपा। लेखन कला तो बहुत बाद में विकसित हुई और फिर वह प्रभु-वर्ग मे ही सीमित रह गई। सामान्य जनता तो इससे वचित ही रही। साहित्यिक क्रिया-कलाप की सुविधाओं और सम्भावनाओं से वचित जनता ने अपनी समस्त सर्जनात्मक शक्ति और कलात्मक शिल्प को मौखिक काव्य में ढाल दिया।"[1] डॉ रवीन्द्रनाथ व्यास लिखते हैं कि—"लोक साहित्य शिशु साहित्य है जिसका मानव मन में स्वत जन्म हुआ है।"[2] लोक-साहित्य शब्द का प्रयोग बहुत परवर्ती है और इसका रचना व्यक्ति विशेष के द्वारा जनसाधारण के लिए की जाती है जबकि दूसरी ओर "लोक साहित्य" जनता के द्वारा जनता के लिए रचा जाता है।[3] लोक साहित्य सदैव सार्थक, अर्थहीन न होने वाला सत्य, शिव, सुन्दरम् का समन्वय है।

"लोक" को परिभाषित किया जा चुका है। अत सक्षेप में "लोक" की मौखिक अभिव्यक्ति ही लोक-साहित्य हुई अर्थात् एक व्यक्ति या समूह विशेष के मन में स्वत उद्भूत विचार, कथा, गीत, गाथा आदि के रूप में प्राप्त कर, नैसर्गिक रूक्षता, लावण्य एव सौन्दर्य स सयुक्त मौखिक-परम्परा में पीढी दर पीढी प्रवाहमान रहते हैं, जिसमें प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से लोक विश्वास आस्थाएँ, विचार, व्यवहार, कला, भाषा आदि की प्रवृत्ति एव परम्परा से सम्बन्धित सारे तत्व समाहित रहते हैं यही "लोक साहित्य" कहलाता है।

विद्वानों में लोक साहित्य (Folk-literature) एव लोकवार्ता (Folk lore) शब्दों को लेकर बडा मतभेद है। कुछ विद्वान दोनों को पर्याय मानते हैं तो कुछ विद्वानों का मानना है कि "फोक-लोर" एक व्यापक अर्थ और परिवेश वाला शब्द है। लोक साहित्य उसका अग मात्र है।[4] वस्तुत "लोक साहित्य" को न तो "लोक-वार्ता" का समानार्थी ही माना जा सकता है और न उसका अग ही। "लोक वार्ता" शब्द अधिक व्यापक नहीं हो सकता। अत "लोक-वार्ता" के स्थान पर "लोक-साहित्य" शब्द ही अधिक उपयुक्त है, जिससे "लोक प्रचलित समग्र मौखिक साहित्य" का अर्थ ग्रहण हो सकेगा। हाँ, यदि "वार्ता" से वृत्तान्त अर्थ ग्रहण किया जाये तो फिर भी उचित होगा क्योंकि उसके अन्तर्गत "लोक-जीवन" का अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु इसका अर्थ यदि समाचार, सूचना, जनश्रुति आदि, जो कि लोक में प्रासगिक भी है, लिया जाए तो "लोक-वार्ता" लोक-साहित्य

1 रूसी लोक-साहित्य, पृ 3-4

2 "जिस प्रकार शिशु प्रकृति की सृष्टि है किन्तु वयस्क मानव बनकर स्वय अपनी रचना है इसी प्रकार लोक-साहित्य भी शिशु साहित्य है मानव-मन में उसका स्वत जन्म हुआ है।"

—लोक साहित्य विमर्श पृ 9

3 लोक साहित्य का अध्ययन, त्रिपा पृ 93

4 राजस्थानी लोक साहित्य अध्ययन के आयाम, पृ 1

"लोक-वार्ता का अध्ययन लोक साहित्य लोक-विज्ञान, लोक भाषा एव लोक-चेष्टाओं (लोक की आंगिक गतियाँ) आदि चार विशेष अगों के अन्तर्गत हो सकता है।"

—कश्मीरी और हिन्दी के लोक-गीत एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ 4

का एक अंग मात्र हुई। अतः लोक वार्ता के स्थान पर 'लोक वृत्तान्त' या "लोक जीवन" शब्द अधिक स्पष्ट एवं उपयुक्त है। लोक वृत्तान्त या लोक जीवन की समग्र विषय वस्तु का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(1) लोक साहित्य
1 लोक गीत
2 लोक कथा
3 लोक गाथा
4 धर्म गाथा
5 अवदान
6 लोकनाट्य

(2) लोकाचार एवं रीति-रिवाज
1 संस्कार
2 धार्मिक परम्पराएँ, लोकोत्सव पूजा व्रत अनुष्ठान पर्व, त्यौहार मेले जुलूस
3 आचार विचार
4 अन्य परम्पराएँ एवं प्रथाएँ।

(3) लोक विश्वास एवं मान्यताएँ
1 शास्त्रोक्त विश्वास—मंत्र तंत्र जप तप स्तुति आदि।
2 लौकिक विश्वास जादू टोना टोटका झाड़ फूंक शकुन अपशकुन।
3 अन्य मान्यताएँ।

(4) लोक कलाएँ
1 लोक नृत्य
2 लोक संगीत
3 लोक चित्र
4 लोक शिल्प
5 लोक व्यवसाय आदि।

(5) लोकानुरंजन
1 खेलकूद
2 गीत
3 कुश्ती दंगल नट खेल आदि।

(6) लोक भाषा
1 लोक शब्दावली
2 लोकोक्तियाँ मुहावरे
3 पहेलियाँ
4 सूक्तियाँ आदि।

(7) विविध—संकेत प्रतीक विचारधारा आदि।

3. लोक-साहित्य का महत्त्व

"यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो यथार्थ रूप में लोक-साहित्य समाज की आत्मा का उज्जवल प्रतिबिम्ब है।"[1] किसी भी देश के ऐतिहासिक, साहित्यिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक जीवन की वास्तविकता को जानना है तो लोक-साहित्य ही प्रामाणिक आधार हो सकता है। "जीवन के निश्छल और स्वाभाविक रूप का दर्शन हमें लोक-साहित्य में ही होता है।"[2] लोक साहित्य से ही हम जान पाते हैं कि विश्व-सस्कृति कैसे उद्भूत हुई, कैसे पनपी, कब सास्कृतिक चेतना का अभ्युत्थान हुआ, कब पतन हुआ आदि आदि। विश्व और मानव की रहस्यमय पहेली को सुलझाने के लिए, उसके प्राचीनतम रूपों की खोज के लिए और उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए जहाँ इतिहास के पृष्ठ मौन हैं, शिलालेख और ताम्र पत्र मलिन हो गये हैं वहाँ उस तमसाच्छन्न स्थिति में लोक साहित्य ही दिशा निर्देश करता है।"[3] ज्ञान एव नीति की दृष्टि से भी लोक साहित्य अत्यधिक समृद्ध है चाहे इसके रचयिता को अक्षर-ज्ञान भी न रहा हो, क्योंकि कान के माध्यम से प्राप्त किये गये पारम्परिक अनुभव दुनिया की सबसे बडी खुली पुस्तक है।

लोक-साहित्य लोक-जीवन का दर्पण है जिसमें हमारी विशाल लोक-सस्कृति का पुनीत इतिहास प्रतिबिम्बित हुआ है। लोक साहित्य के विषय में मैक्सिम गोर्की का कहना है कि "लोक-साहित्य निराशावाद को नही जानता यद्यपि इसके रचयिताओं का जीवन अत्यन्त कष्टमय उत्पीडन, दमित, अधिकार-विहीन और आरक्षित था।"[4] आज प्रत्येक रचनाकार को चाहिए कि वह अपने लोक साहित्य एव लोक-जीवन से परिचित हो, तभी वह समाज को नई वस्तु दे पायेगा जो लोक में स्वीकृत भी होगी।

4. लोक कथा · अर्थ एव अवधारणा

"लोक कथा" में "कथा" शब्द स्त्री कथ् + अड् + टाप् से बना है। जिसके कथा, कहानी, वृत्तान्त, वार्तालाप आदि अर्थ हैं।[5] "लोक" शब्द यहाँ विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। "लोक कथा" लोक-साहित्य का आधारभूत एव एक विशिष्ट अग है। "लोक कथा" लोक में मौखिक परम्परा में एक पीढी से दूसरी पीढी को प्राप्त होती रही है, भले ही परवर्तीकाल में उन्हें सकलित कर लिखित रूप दे दिया जाता हो। "लोक-कथा" का उद्भव सीधे रूप में मनुष्य के जन्म से जुडा हुआ है। मनुष्य ने समूह बनाकर रहना आरम्भ किया, अपने चारों ओर विभिन्न दृश्य एव अद्भूत घटनाएँ घटित होते देखकर

1 हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य, प्रस्तावना
2 लोक साहित्य विमर्श पृ 9,
3 हरियाणा प्रदेश का लोक-साहित्य, पृ 43
4 रूसी लोक-साहित्य, पृ 9
5 सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ 242

उत्पन्न भावों को अभिव्यक्ति दी। तभी से श्रवण परम्परा में द्वितीय, तृतीय—व्यक्ति ने उसमें अपने अनुभव और जोडे। इस परम्परा में पता नही कब उसने कथा का रूप ले लिया। पर यह जरूरी नही कि ऐसी कथाएँ सीधे रूप में "लोक जीवन" से जुडी हुई रही हों, क्योंकि उसने परित जो कुछ भी घटित होते देखा, उसे अभिव्यक्ति दी। पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में लोक-जीवन का जीवन्त प्रतिबिम्ब उन कथाओं में दिखाई पडता है। "लोककथा लोक प्रचलित कहानी के रूप में होती है और उसमें लोक-मानस की सीधी सच्ची और सहज अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। उसमें लोक जीवन के प्राचीन विश्वासों, परम्पराओं और प्रथाओं के रूप में लोक संस्कृति का सन्निवेश रहता है।"[1] आज संकलित रूप में जो लोककथाएँ मिलती हैं उनके रचयिता के विषय में कुछ भी कहना असम्भव है क्योंकि मौखिक परम्परा में कितनी ही बार उनके रूप (आकार प्रकार) बदले होंगे, पात्रों के नाम बदले होंगे, परन्तु सम्भव है कथा का मूल भाव अर्थात् आख्यान वही रहा हो, जो मूल उत्पत्ति के समय था। इस प्रकार "लोककथा" वह हुई जो मौखिक परम्परा में पीढी दर पीढी संवाहित लोक प्रचलित तथा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में लोक जीवन से जुडी हों।

"लोक कथा" शब्द अंग्रेजी के फोक टेल (Folk-Tale) का समानार्थी है। लेकिन "लोक कथा" के लिए अंग्रेजी का ही फोक स्टोरी (Folk Story) शब्द उपयुक्त नही हो सकता। प्रश्न यह है कि यहाँ पर "लोक कथा" या "लोक कहानी" शब्द उपयुक्त है ? "कथा" शब्द संस्कृत के कथ् (कहना) धातु से बना है। सम्भव है हिन्दी भाषा एवं सामान्य व्यवहार में प्रचलित "कहानी" शब्द प्राकृत के "कहा" शब्द से बना हो। प्राकृत लोकभाषा रही है जिसमें "कथा" के लिए "कहा" शब्द प्रचलित रहा है, जैसे—बड्डकहा। राजस्थानी भाषा में "कहानी" का "केणी" हो गया। संस्कृत साहित्य परम्परा में "कथा" (कहानी) के लिए "कथा" शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।[2] कथासरित्सागर का पेंजर ने जो THE OCEAN OF STORY नाम से अंग्रेजी अनुवाद किया है उसमें "कथा" के लिए अंग्रेजी में STORY शब्द दिया गया है जो उपयुक्त नही लगता है। अंग्रेजी का STORY एवं हिन्दी का "कहानी" शब्द वर्तमान साहित्यिक विधा विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। हालाँकि "कथा" एवं "कहानी" के शब्दार्थ में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु अंग्रेजी TALE' एवं STORY में अवश्य अन्तर करना होगा।

संस्कृत साहित्य परम्परा में जब जो कथाएँ संगृहीत कर लिखी गई तब उन्हें "लोक कथाएँ" नही कहा गया एवं न ही ऐसा भेद काव्यशास्त्रादि ग्रन्थों में मिलता है।[3]

---

1 संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्त्व, पृ 45

2 बृहत्कथा, बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, बृहत्कथा-मंजरी, कथासरित्सागर, कथार्णव।

3 (अ) प्राचीन आचार्यों के अनुसार कथा के दो भाग हैं—(1) कथा (2) आख्यायिका। कथा कवि कल्पना-प्रसूत होती है जैसे बाणभट्ट की कादम्बरी तथा आख्यायिका ऐतिहासिक इतिवृत्त से जुडी होती है जैसे बाणभट्ट का हर्षचरित।

(ब) हरिभद्राचार्य के अनुसार कथा के चार भेद हैं—(1) अर्थकथा (2) कामकथा (3) धर्मकथा (4) संकीर्णकथा।

(स) आनन्दवर्धनाचार्य ने कथा के तीन भेदों का उल्लेख किया है—(1) परिकथा (2) सकलकथा (3) खण्डकथा; आनन्दवर्द्धन, पृ 127

ऐसी स्थिति म यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उन्हें "लोक-कथा" कब एव क्यों कहा जाने लगा। वस्तुत साहित्य का नव विशेषण "लोक" आधुनिक काल के विद्वानों के मस्तिष्क की देन है। आधुनिक काल मे 'लोक" शब्द जिस विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसक आधार पर मस्कृत कथाओं को भी "लोक कथाएँ" कहा जाने लगा होगा। सम्भवतया य कथाएं[1] मौखिक परम्परा में पीढी-दर पीढी लोक प्रचलित रही हों तथा गुणाढय न मकलित कर "बृहत्कथा" में तत्कालीन लोक भाषा "पैशाची प्राकृत" में लिपिबद्ध किया हो। 'बृहत्कथा" ही सस्कृत लोक कथा का आदि ग्रन्थ माना जाता है जिसे हेमचन्द्राचार्य ने कथा भद रूप म स्वीकार किया है।[2]

लाक साहित्य मर्मज्ञ कृष्णदेव उपाध्याय न "लाक-कथा" को वर्ण्य विषय की दृष्टि स छ वर्गों में विभाजित किया—(1) उपदेश कथा (2) व्रत कथा (3) प्रेम कथा (4) मनोरजन कथा (5) सामाजिक कथा (6) पौराणिक कथा।[3]

मर जार्ज गामे एण्टी आर्ने, स्टिथ थामसन प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने लोक कथाओं को निम्नाकित वर्गा म रखा—

(1) स्थानीय या परम्परागत कथाएँ—इसके अन्तर्गत सृष्टि-उत्पत्ति विषयक कथाएँ अतिमानवीय अर्द्ध ऐतिहासिक-स्थानीय कथाएं रखी गई हैं।
(2) परीकथाएँ
(3) पशु-पक्षी विषयक कथाएँ
(4) नीनि कथाएँ
(5) पुराण कथाएँ[4]

"लोककथा" का वर्ण्य-विषय के आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरण उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि मौखिक परम्परा में प्रवहमान "लोक-कथा" की कथा-वस्तु या उसका आख्यान उपदेश, व्रत, पूजा, आस्था विश्वास शकुन, धर्म, अनुष्ठान, प्रेम, मनोरजन, पौराणिक, ऐतिहासिक, साहस, रोमाच तथा लोक-जीवन के किसी भी पक्ष से सम्बन्धित हो सकता है।

---

1 बृहत्कथा वाचनाए एव वेतालपचविशतिका, सिंहासनद्वात्रिंशिका, शुकमप्तति कथार्णव आदि की कथाएँ लाक प्रचलित रही हों।

2 (1) उपाख्यान (नलोपाख्यान) (2) आख्यान (गोविन्द) (3) निदर्शन (पचतन्त्र) (4) प्रवहलिका (चेटक) (5) मथलिका (गोरोचन व अनगवती) (6) मणिकुल्या (मत्स्यहसित) (7) परिकथा (शूद्रककथा) (8) खण्डकथा (इन्दुमति) (9) सकलकथा (समरादित्य) (10) उपकथा (11) बृहत्कथा (नरवाहनदत्तचरित) — जैनविद्या का सास्कृतिक अवदान, पृ 82

3 लोक साहित्य की भूमिका, पृ. 129

4 राजस्थानी लोक साहित्य अध्ययन के आयाम, पृ 43

5 संस्कृत-लोककथा : उद्भव एवं विकास

लोककथा संसार के समस्त कथा साहित्य की जनक है।[1] इन "लोक कथाओं का जन्म उस समय हुआ था जब मनुष्य कल्पना कथा और इतिहास में अन्तर नहीं कर सकता था। स्मृतिपटल पर जीवित रखने योग्य घटनाएँ जन जीवन में व्याप्त होकर लोक कथाओं अथवा गीतों के रूप में अमर हो जाती थी उन्हें चाहे कल्पना कहिये, कथा कहकर सम्बोधन करिये अथवा इतिहास के पन्नों में बाँधिये।"[2] "लोक कथा का मूल उद्‌गम किसी एक स्थान विशेष एवं समय विशेष में नहीं माना जा सकता है। जहाँ जिस समय मानव समूह ने अनुभवों की अभिव्यक्ति दी, वहीं उसी समय लोक कथा का जन्म हो गया। फिर भले ही वह मौखिक परम्परा से विश्वभर में फैल गयी हो। यद्यपि बेनफे मैक्सम्यूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भारत को लोक कथा का प्रथम जन्म स्थान माना परन्तु "कल्पना विश्वास तथा प्रथाएँ यत्र तत्र सर्वत्र समान रूप से विद्यमान होती है। मूल लोक कथा की उत्पत्ति का कोई एक मात्र केन्द्र नहीं हो सकता। जहाँ मानव समाज की ये मूल प्रवृतियाँ क्रियाशील रही है वहीं उनका उद्गम भी स्वभावतः हो गया था। लोककथा की उत्पत्ति भारत में ही प्रथम हुई यह हम नहीं मान सकते।[3] "कहानी का मौखिक रूप सृष्टि के समारम्भ से ही प्रत्येक देश में पाया जाता है। ये परम्परित कहानियाँ सब देशों में घास की तरह अपने आप पैदा हुई है।[4]

"लोक कथा" के मूल स्रोत की खोज के लिए वैदिक संहिताओं का अनुशीलन आवश्यक है। आरम्भ में लोक कथाएँ मौखिक परम्परा में रही हैं। भले ही वे मूलतः किसी व्यक्ति विशेष की रचना रही हो किन्तु प्रकट होते ही लोक ग्राह्य और लोकानुप्राणित होकर लोक की रचना बन जाती है। ऋग्वेद में ऋषि शुन-शेप (1 24 30) का प्रसिद्ध आख्यान अपाला आत्रेयी (8 9 1) की कथा च्यवन और सुकन्या (10 39 4) की कथा यम यमी (10 10) पुरूरवा उर्वशी (10 15) सरमा पणि (10 108) विश्वामित्र नदी (3 33) आदि संवाद सूक्तों में लोक कथाएं झाँक रही हैं। ऋग्वेद लौकिक सुखों की कामना से अधिक जुड़ा तो अथर्ववेद में ऐहिक तथा लौकिक तत्त्वों को प्रकट होने का अवसर मिला। यजुर्वेद का विषय कर्मकाण्ड था। उसका अन्तिम लक्ष्य पारलौकिक सुख था किन्तु अथर्ववेद लोक जीवन से जुड़ा एवं उसमें लोक विश्वास जादू, धर्म अनुष्ठान आदि को स्थान मिला। एक तरफ जहाँ वैदिक साहित्य में तत्कालीन समाज एवं सभ्यता का भली भाँति परिचय मिलता है तो दूसरी तरफ हम उनके माध्यम से तत्कालीन लोक कथाओं से भी परिचित होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक कथाएँ समाहित हैं। शतपथ ब्राह्मण में पुरूरवा और उर्वशी (11 5 1) की कथा ताण्डव ब्राह्मण में च्यवन भार्गव और सुकन्या

1 लोक साहित्य की भूमिका पृ ५
2 लोक साहित्य विमर्श पृ 41
3 संस्कृत साहित्य में नीतिकथा का उद्भव एवं विकास पृ 125
4 हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य पृ 37

मानवी (14 6 11) की कथा, ऐतरेय ब्राह्मण में शुन शेप (7.3) का आख्यान, शाट्यान ब्राह्मण में महर्षि वृश नामक पुरोहित (5 2) आख्यान आदि का आधार तत्कालीन लोक में मौखिक प्रचलित कथाएँ ही हो सकती हैं। इसी प्रकार उपनिषद् साहित्य में कठोपनिषद में नचिकेता की कथा, केनोपनिषद् में अग्नि और यक्ष की कथा, बृहदारण्योकपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी (3 6) कथा तथा देवासुर सग्राम (1.2) की कथा, छान्दोग्य उपनिषद् में सत्यकाम जाबाली (4.5 9 1) की कथा एव श्वान कथा (1 12 1-5) आदि कथाएँ लोक से ही ग्रहण की गयी होंगी। वैदिक सहिता और उपनिषदों में जिन कथाओं की केवल सूचना मात्र मिलती है उनका विस्तृत "बृहद्देवता" में और षड्गुरु-शिष्य रचित "कात्यायनसर्वानुक्रमणी" की वेदार्थ दीपिका की टीका में किया गया है।"[1]

लोक में मौखिक परम्परा में प्रचलित आख्यानों, गाथाओं एव प्रशस्तियों का सकलन करने वाले घराने प्राचीन भारत में विद्यमान थे। इनमें सूत प्रमुख थे। महाभारत न केवल इतिहास, धर्मशास्त्र या पुराण ही है अपितु उसके आख्यान, उपाख्यान, सवाद आदि में तत्कालीन समाज में प्रचलित लोक-कथाओं का विशाल सकलन भी है जिसके सग्राहक सूत थे। "किसी पशु या पक्षी की विशेषता को देखकर उसकी कारण कथा गढने में प्राचीन लोक-समाज की प्रवृत्ति रही है।"[2] अत महाभारत में सर्प कथा पाई जाती है—सर्प के दो जिह्वाएँ क्यों होती हैं। महाभारत में बकासुर वधकथा, हिडिम्बावधकथा, स्वर्णकमलकथा, शकुन्तलोपाख्यान, नल दमयन्ती कथा, द्रोणाचार्य एकलव्य कथा आदि लोक कथाएँ ही तो हैं। वाल्मीकि रामायण की मूल रामकथा तो लोक में मौखिक परम्परा में प्रचलित ही है। आज भी "रामकथा" के विभिन्न रूप मौखिक परम्परा में जीवित हैं। कथासरित्सागर में भी राम सीता कथा मिलती है।[3]

वैदिक कथाओं का रूप पुराणों में, रामायण में, महाभारत में एव परवर्ती लौकिक साहित्य में आने पर अवश्यमेव किञ्चित परिवर्तित हुआ। परन्तु आख्यान वही रहा। तदनन्तर रामायण और महाभारत तो परवर्ती कवियों के लिए उपजीव्य काव्य बन गये। इनमें से कथा-वस्तु लेकर तथा उस समय के समाज से जोडकर साहित्य रचा जाने लगा।

बृहत्कथा—

लोक में प्राचीनकाल से ही लोकवाणी में पीढी दर-पीढी मौखिक परम्परा में कथाएँ कही-सुनी जाती रही हैं। गुणाढ्य ने ऐसी ही कथाओं का लोकभाषा "पैशाची प्राकृत" में सग्रह किया। "पैशाची और मागध प्राकृत निम्न जाति के लोगों में प्रचलित थी।"[4] सम्भव है गुणाढ्य ने लोक-प्रचलित जन-जीवन से जुडी कथाओं को रोचक एव कुतूहलपूर्ण बनाने के लिए देव और मनुष्य के बीच एक कल्पना निर्मित विद्याधरों, किन्नरों एव गन्धर्वों की योनि की सृष्टि की हो। या उस समय ये कोई जातियाँ भी रही हों एव यह भी सम्भव

1 लोक-साहित्य की भूमिका, पृ. 125

2 सस्कृत-साहित्य में नीतिकथा का उद्गम एव विकास, पृ. 343

3 क स.सा. 9 1.59 112

4 "यह भी सम्भव है कि पिशाच प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा को "पैशाची" कहा जाता रहा हो।"
—कथासरित्सागर तथा भारतीय सस्कृति, पृ. 43

है कि ये कथाएँ जिस रूप में "बृहत्कथा" में सकलित हुई उसी रूप में लोक में भी प्रचलित रही हों। लोक जीवन वैसे भी अनेक समस्याओं, अभावों एव कष्टों से ग्रस्त होता है, अत मनोरजन के लिए परी कथाएँ लोक में प्रचलित रही हों। अत हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार यह भी "अनुमान किया जा सकता है कि गुणाढ्य पण्डित ने मूल रूप में कथा नगर से दूर रहने वाले ग्राम्य या वन्य लोगों से सुनी थी।"[1]

"बृहत्कथा" की वाचनाओं बृहत्कथामजरी एव कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि गुणाढ्य प्रतिष्ठान नामक किसी नगर के किसी सुप्रतिष्ठित नामक उप नगर के निवासी रहे होंगे। जे.एस. स्पेयर ने गुणाढ्य को कश्मीर निवासी तथा लगभग चतुर्थ शती ईस्वी का माना है।[2] किन्तु प बलदेव उपाध्याय के अनुसार "बृहत्कथा के अमर रचयिता गुणाढ्य सातवाहन राज्य के दरबार से सम्बद्ध कवि थे, जिनका समय प्रथम द्वितीय ईस्वी था।"[3] इस युग में स्थल एव समुद्री यात्री, सार्थवाह एव व्यापारी भारत की चहारदीवारी में गाँवों, नगरों, पहाड़ों, जगलों में विचरण करते थे। वे राह में घटने वाली विभिन्न विचित्र घटनाओं का रोमाचक विवरण अपने श्रोताओं को सुनाकर आश्चर्य एव विस्मय उत्पन्न किया करते थे। ऐसी ही कथाओं का प्राचीनतम सग्रह "बृहत्कथा" अपने काल में प्रसिद्धि की पराकाष्ठा पर रहा होगा। दुर्भाग्य का विषय है कि आज "बृहत्कथा" मूल रूप में उपलब्ध नही है। इस विषय में निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि "बृहत्कथा" गद्य में थी या पद्य में अथवा गद्य पद्य के मिश्रित रूप में।

"बृहत्कथा" भारतीय साहित्य में अधिक लोकप्रिय रही है। उसे आधार मानकर कई सस्कृत नाटक एव कथाग्रन्थ रचे गये।[4] सस्कृत के अनेक कवियों ने इसका आदर के साथ उल्लेख भी किया है।[5] बृहत्कथा की कीर्ति भारत में ही नही, बृहत्तरभारत में भी

---

1 जनपद, वर्ष 1, अक 10, पृ 69

2 Aphorisms and proverbs in the Kathā Saritsāgar Introduction p 16

3 सस्कृत साहित्य का इतिहास ब उ, पृ 433

4 दशकुमारचरित, कादम्बरी वासवदत्ता, तिलकमञ्जरी यशस्तिलक नागानद मृच्छकटिकम् चारुदत्त, स्वप्नवासवदत्त, मालतीमाधव, अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, रत्नावली पचतत्र, हितोपदेश, कथाकोष आदि।

5 (अ) "समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥" —हर्षचरित, मगलाचरण श्लोक 17

(ब) "बृहत्कथालम्बैरिव सालभञ्जिकानिवहै।" —वासवदत्ता

(स) "कथाहि सर्वभाषाभि सस्कृतेन च बध्यते।
भूतभाषामयी प्राहुरद्भुतार्था बृहत्कथाम्॥" काव्यादर्श 1.38

(द) "निशीथसूत्र" पर लिखी चूर्णि में लौकिक कामकथा के रूप में "नरवाहन-दत्तकथा" का निर्देश है—"अणे णित्याहि जा काम-कहा। तत्थ लोइया णरवाहणदत्तकहा। लोउत्तरिया तरगवती मगधसेणादीणि।

(य) "सकलकलागमविलया सिक्खाविय कइयणा सुमुहयन्न।
कयलासपो गुणड्ढो सरस्सई जस्स बड्डकहा॥" कुवलयमालाकथा

(र) इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजात रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथा आसूत्रयेत्तु नेतृरसानुगुण्याच्चित्रा कथामुचितचारुवच प्रपञ्चै॥दशरूपक पृ 33-34 इसके टीकाकार धनिक ने "बृहत्कथा" को मुद्राराक्षस का मूल कहा है—"तत्र बृहत्कथामूल मुद्राराक्षसम्।"

थी। ईस्वी छठी शताब्दी के दक्षिण हिन्द के एक ताम्र-पत्र में तथा नवी शताब्दी के कम्बोडिया के एक शिलालेख में "बृहत्कथा" का उल्लेख मिलता है।[1] बृहत्कथा की मूल विषय वस्तु क्या थी यह जानने के लिए उस पर आधारित परवर्ती ग्रन्थ ही एकमात्र आधार है। सभव है ग्रथ की मूल कथा वत्सराज उदयन के चरित, उसका वासवदत्ता और पद्मावती से विवाह एव उनके पुत्र नरवाहनदत्त के जन्म एव उसके अनेक विवाह कर विद्याधर राज बनने की हो। उदयन सम्बन्धित कथा लोक में प्रचलित रही होगी जैसा कि कालिदास के मेघदूत में ऐसा कहा गया है।[2] गुणाढ्य ने इसी "उदयन-कथा" में प्रसगवश अपने बुद्धि कौशल से बहुत सी अन्य लोक कथाएँ सन्निविष्ट कर दी होंगी।

विन्तर्नित्स ने गुणाढ्य की गणना व्यास एव वाल्मीकी की श्रेणी में की है।[3] "बृहत्कथा" की पैशाची भाषा के विषय में विद्वानों में मतभेद है। इसका अर्थ दण्डी—"पिशाचों की भाषा" करते हैं। सभव है कोई पिशाच जाति रही हो या इस भाषा के बोलने वालों को पिशाच कहा जाने लगा हो अथवा इस "लोक-भाषा" के असाहित्यिक होने से उसे पैशाची नाम दिया गया हो। यह भारत के उत्तर पश्चिम भाग की लोकभाषा रही होगी और इसी भाषा में प्रचलित कहानियों का गुणाढ्य ने "बृहत्कथा" में सकलन किया होगा। कथासरित्सागर में "बृहत्कथा" के विषय में जो यह कहा गया है कि "बृहत्कथा प्राचीन समय में कैलाश पर्वत के ऊपर शिवजी ने हिमालयसुता, पार्वती की प्रार्थना से उत्साहित होकर सुनाई थी। तदनन्तर जब (शिवजी के) पुष्पदन्त आदि (गण) शापवश कात्यायन आदि का रूप धारण कर उत्पन्न हुए, तब उन्होंने इस (बृहत्कथा) को पृथ्वी पर परम् प्रसिद्ध कर दिया।"[4] इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि गुणाढ्य क्षेत्र या ग्राम विशेष में "वड्डकहा" प्रचलित थी या पैशाची जाति या क्षेत्र विशेष में प्रचलित "वड्डकहा" को गुणाढ्य ने लिपिबद्ध किया। "गुणाढ्य ने सात वर्षों में सात लाख छन्दों में पैशाची भाषा में कही गई बृहत्कथा को लिखा।"[5] सभव है कथासरित्सागर की भाँति 'बृहत्कथा" के परिच्छेदो का नाम भी "लम्भ" ही रहा होगा। "लम्भ" का अर्थ है—किसी वस्तु की प्राप्ति।

"बृहत्कथा" की सस्कृत तथा प्राकृत भाषा में अनुदित चार वाचनाएँ प्राप्त होती हैं–

(1) प्राकृतवाचना—सघदासगणि कृत वसुदेवहिण्डी।
(2) नेपालीवाचना—बुद्धस्वामीकृत बृहत्कथाश्लोकसग्रह।
(3) कश्मीरीवाचना—क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामजरी एव सोमदेवकृत कथासरित्सागर
(4) तमिल वाचना[6]

---

1 कैमुदक रिप्ना गुजराती अनुवाद, पृ. 6
2 प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविद ग्रामवृद्धान मेघदूतम्, पूर्वमेघ, श्लोक 31
3 भारतीय साहित्य का इतिहास भाग तीन, खण्ड एक पृ. 401
4 क स सा 18.5 249
5 तथैव च गुणाढ्येन पैशाच्या भाषया तया।
निबद्धा सप्तभिर्वर्षैग्रन्थलक्षाणि सप्त सा॥ क स सा 1 8 2
6 The Tamil recensions of perumkatai of Kon kuvelir

प्राकृत वाचना   वसुदेवहिण्डी

"वसुदेवहिण्डी" बृहत्कथा की सभी वाचनाओं में प्राचीनतम है। मूल ग्रथ मे इसका नाम "वसुदेवचरिय" (वसुदेवचरित) मिलता है।[1] आवश्यकचूर्णि में वसुदेवहिण्डी" का नाम तीन बार आया है जिसके आधार पर 600 ई इसकी रचना की अन्तिम मर्यादा मानी जा सकती है। डा बूलर ने गुणाढ्य का समय ईस्वी सन् की प्रथम द्वितीय शती में तथा डा लाकोते ने तीसरी शती में माना है, अत "वसुदेवहिण्डी" को कुछ बाद ईस्वी चतुर्थ पचम शती की कृति मानना चाहिए।

"वसुदेवहिण्डी के "हिण्डी" शब्द म प्राकृत हिड" धातु है तथा "वसुदेवचरिय" के 'चरिय" में सस्कृत चर" धातु है। दोनो धातुएं समानार्थी हैं–परिभ्रमण विचरना। "वसुदेवहिण्डी" अर्थात् "वसुदेव का परिभ्रमण'। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव अपनी युवावस्था मे गृहत्याग करके वर्षो तक परिभ्रमण करते रहे इस दौरान अनेक मानव एव विद्याधर कन्याओं के साथ विवाह किये तथा अनेक प्रकार के चित्र विचित्र अनुभव प्राप्त किये। यही "वसुदेवहिण्डी" के कथाभाग का मुख्य कलेवर है। साथ ही अनेक धर्मकथाएं लोककथाएं तथा तीर्थङ्करो धर्मपरायण साधुओं एव धार्मिक पुरुषों के चरित्र आदि का निरूपण करके इसे महाकाव्य धर्मकथा का रूप दे दिया गया।

ग्रथ की रचना पद्धति पारम्परिक है जो भारतीय साहित्य में विशिष्ट है। वसुदेव की आत्मकथा के अनुरूप मुख्य कथा लभ लभक (लम्भो) में विभाजित है। जिस कन्या के साथ वसुदेव का लग्न हुआ उसी के नाम से लभक का नामकरण हुआ। यथा श्यामा विजया लभक श्यामली लभक गन्धर्वदत्ता लभक नीलयशा लभक।

"वसुदेवहिण्डी" के भी जैन परम्परा में दो रूप मिलते हैं। प्रथम ग्रथ जो सघदासगणि रचित है प्रथम खड कहा जाता है। इसको विषय वस्तु कथा की उत्पत्ति पीठिका मुख प्रतिमुख शरीर और उपसहार में विभाजित है। इसमें कुल 29 लम्भक हैं। उनमे से 19 एव 20 दो लम्भक अनुपलब्ध हैं जो मध्यम खण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना धर्मदासगणि ने पूर्ववर्ती सघदासगणि की रचना को आगे बढाते हुए दो शताब्दी बाद की। मध्यम वसुदेवहिण्डी में 71 लम्भक 17 हजार श्लोको में पूर्ण हुए हैं। यह ग्रथ अभी तक अप्रकाशित है। इस ग्रथ के अनुसार वसुदेव ने सौ वर्षों तक परिभ्रमण कर एक सौ विवाह किये। प्रथम खड में 29 विवाहों का एव मध्यम खण्ड मे 71 विवाहों का वर्णन है। "वसुदेवहिण्डी बृहत्कथा के ग्रथ से मिलता जुलता है। फलत इन दोनों के तुलनात्मक परिशीलन से मूल बृहत्कथा के स्वरूप का पर्याप्त परिचय उपलब्ध किया जा सकता है।"[2] जर्मन विद्वान् एल आल्सडार्फ के अनुसार "ग्रथ की भाषा भी इसे (वसुदेवहिण्डी को) प्राचीन सिद्ध करती है। लगता है कि इस ग्रथ को कृति से बृहत्कथा का प्राचीनतम रूपान्तरण प्राप्त हो गया है।"[3] "वसुदेवहिण्डी में बृहत्कथा की कथावस्तु का

1 "अनुजानुह म गुरुपरम्परागत वसुदेवचरित नाम सगह वन्नइस्स" वसुदेवहिण्डी प्रथम खण्ड पृ 1
2 सस्कृत साहित्य का इतिहास भा 4 पृ 437
3 Aphorisms and proverbs in the kathasaritsagar p 45

अधकवृष्णि वंश के प्रसिद्ध पुरुष वसुदेव की कथा में गूंथ दिया गया।[1] डॉ याकोबी का मानना है कि "ईस्वी सन् 300 वर्ष के आस पास यह कृष्णकथा सम्पूर्ण बन चुकी थी तथा जैनियों ने इसे अपना लिया था।"[2]

नेपाली वाचना बृहत्कथाश्लोकसंग्रह

"बृहत्कथाश्लोकसंग्रह" के रचयिता बुद्धस्वामी नेपाल के रहने वाले थे। इनका समय आठवीं या नवीं शताब्दी माना जाता है। उपलब्ध ग्रंथ के 28 सर्गों में 4539 श्लोक हैं। यह कृति "बृहत्कथा" की नेपाली वाचना कही जाती है। इसके आकार प्रकार, कथावस्तु एवं कथा-क्रम से लगता है कि यह "बृहत्कथा" की मूल कथा से जुडी हुई तो है परन्तु अपूर्ण है। नरवाहनदत्त के अट्ठाइस विवाहों में से केवल छह विवाहों की कथा इसमें पाई जाती है।

"बृहत्कथाश्लोकसंग्रह" एवं "वसुदेवहिण्डी" के अनेक कथा प्रसंगों में साम्य है। "काश्मीरी रूपान्तरणों के मुकाबले नेपाली रूपान्तरण मूल बृहत्कथा का सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है।"[3] इस ग्रन्थ के विषय में विन्टर्निट्स ने कहा है—"भारतीय साहित्य में बहुत कम ही ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें "बृहत्कथाश्लोकसंग्रह" के समान जीवन के विनोद तथा भोग को इतनी अधिक प्रमुखता दी गई है। मानव जीवन का इतना वास्तविक तथा मनोहर चित्रण प्राय नहीं किया जाता है जैसा कि इस ग्रंथ में किया गया है।"[4] साधु, जुआरी, शराबी, ठग, वेश्या दीन हीन दलित, भिखमंगों आदि लोक सामान्य पात्रों के जीवन के सभी पक्षों का वर्णन यहाँ हुआ है साथ ही यह धार्मिक उत्सवों, लोक विश्वासों एवं उनके अनुष्ठान आदि के विवरणों से भरा पूरा है।

ग्रंथ की मूलकथा का क्रम कुछ इस प्रकार है—आरम्भ में उज्जयिनी की प्रशंसा और वहाँ के शासक महासेन प्रद्योत की मृत्यु का उल्लेख है, तदन्तर गोपाल गद्दी पर बैठता है किन्तु पितृहन्ता होने के अपयश से राज्य छोड देता है, तब उसका भाई पालक राजा बनता है, किन्तु उसके भी राज्य त्याग देने पर गोपाल पुत्र अवन्तिवर्द्धन सिंहासन पर आसीन होता है। इसके बाद सुरसमंजरी प्रेमकथा के साथ नरवाहनदत्त की प्रेमकथाओं की शृंखला आरम्भ हो जाती है।

कश्मीरी वाचनाएँ—

बृहत्कथामंजरी—

बृहत्कथा की कश्मीरी वाचनाएँ—क्षेमेन्द्र की "बृहत्कथामंजरी" तथा सोमदेवकृत "कथासरित्सागर" हैं। दोनों के पाठ का निर्धारण पूर्वापर हुआ है। विन्टर्निट्स के अनुसार क्षेमेन्द्र की "बृहत्कथामंजरी" प्राचीनतर (ई 1037 के आस पास की) है एवं कथासरित्सागर

---

1 बृहत्कथा में वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के विवाहों की कथाएँ थी।

2 वसुदेवहिण्डी गुजराती अनुवाद, प्रथम खण्ड उपोद्घात पृ 10

3 क स सा भूमिका, पृ 16

4 भारतीय साहित्य का इतिहास भाग तीन खण्ड एक पृ 405

उसके लगभग 30 वर्ष बाद की ई 1061-1063 के बीच की रचना है।[1] क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव दोनों एक ही प्रान्त कश्मीर के रहने वाले थे। दोनों की शैली एवं कथानक में पार्थक्य स्पष्ट है। क्षेमेन्द्र का लक्ष्य ग्रंथ का संक्षिप्त पाठ प्रस्तुत करना रहा है।[2] अतः कई स्थानों पर विषय वस्तु की दृष्टि से कथाओं को इतनी छोटी एवं पेचीदी बना दिया है जिससे न तो कथा को समझ पाते हैं न ही उनमें आकर्षण एवं रोचकता ही रही है। सोमदेवेकृत ग्रंथ कथारूपी नदियों का विशाल सागर है। गुणाढ्य की "बृहत्कथा" आज उपलब्ध नहीं है अतः यह कहना असंभव है कि सोमदेव तथा क्षेमेन्द्र में किसका अधिक प्रत्ययाई पाठ है।

क्षेमेन्द्र कश्मीर के राजा अनन्त (1029 1064) की सभा के सभासद थे। उनका दूसरा नाम व्यासदास था। "बृहत्कथामंजरी के 19 लम्बकों मे 7500 श्लोक हैं और उनके नाम कथासरित्सागर के लम्बकों से मिलते जुलते हैं। ख्यात है कि "बृहत्कथामंजरी" लिखते समय क्षेमेन्द्र के सामने गुणाढ्य की "बृहत्कथा" उपलब्ध थी। कुछ विद्वानों ने इसके आरम्भिक पाँच लम्बकों को तो "बृहत्कथा" का अनूदित रूप ही माना है।[3]

क्षेमेन्द्र के साहित्यिक लेखन की काल अवधि लगभग पाँच दशकों—1015 ई से 1066 ई तक फैली हुई है।[4] क्षेमेन्द्र संस्कृत साहित्य में कवि नाटककार, अलंकारशास्त्री कोशकार एवं इतिहासकार के रूप में जाने जाते हैं। इनकी छोटी बडी 33 रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। लगभग 18 प्रकाशित हैं और 15 उनके प्रकाशित ग्रंथों में निर्दिष्ट हुई हैं। मनोहर लाल गौड ने उनकी रचनाओं को चार भागों मे बाँटा है।[5]

(1) पद्यात्मक सूक्ष्म रूपान्तरण—रामायणमंजरी भारतमंजरी बृहत्कथामंजरी दशावतारचरित बौद्धावदान कल्पलता।
(2) उपदेशात्मक—चारुचर्याशतकम् सेव्यसेवकोपदेश दर्पदलन चतुर्वर्गसंग्रह कलाविलास दर्शोपदेश नममाला।
(3) रीतिग्रंथ—कविकण्ठाभरण औचित्यविचार चर्चा सुवृत्ततिलक।

---

1 भारतीय साहित्य का इतिहास भाग तृतीय खंड प्रथम, पृ 408 7
2 क स सा, भूमिका पृ 19
3 Ksemendra is faithful to the copy of Gunadhya s Brhatkatha till the fifth lambaka Ksemendra studies p 18
4 Ksemendra period of literary activity covers a period of about five decades falling roughly 1015 A D and 1066 A D A critical survey of the life and work of Ksemendra Introduction p 2
5 क्षेमेन्द्र के प्रकाशित ग्रन्थों में उल्लिखित अन्य रचनाएँ—
   (1) कविकण्ठाभरण में—शशिवंश महाकाव्य, पद्य कादम्बरी चित्रभारत नाटक लावण्यमंजरी अमृत आनन्द मुक्तावली अमृत तरंग महाकाव्य।
   (2) औचित्यविचार चर्चा में—विनयवल्ली मुनिमत मीमांसा, नीतिलता अवसरसार, ललितरत्नमाला, कवि कर्णिका।
   (3) सुवृत्ततिलक में—पवन पंचाशिका
   (4) राजतरंगिणि में—नृपावली या राजावली। आचार्य क्षेमेन्द्र, भूमिका पृ 3.9

(4) फुटकल रचनाएँ—लोक प्रकाश कोष, नीतिकल्पतरू, व्यासाष्टक।

अगस्त, 1871 ई में डा एसी बर्नेल को तजोर से "बृहत्कथा" मिली, जिसकी घोषणा उन्होंने 1871 ई के सितम्बर माह में की। "बृहत्कथामजरी" की पहली प्रति ब्यूलर को 1874 75 ई मे तथा दूसरी प्रति 1875-76 ई मे मिली।"[1] "यह गुणाढय की बृहत्कथामजरी" लिख रहे थे तब उनके पास बृहत्कथा की एक प्रति थी।"[2]

"बृहत्कथामजरी" का प्रत्येक लम्बक सीधे रूप में नायक की विजय या किसी प्राप्ति से जुडा हुआ है। कथापीठ में गुणाढ्याख्यान है दूसरे लम्बक में उदयन की प्रशसा तथा तृतीय में उदयन के पद्मावती को प्राप्त करने की कथा चतुर्थ लम्बक में विद्याधरों के राजा नरवाहनदत्त के जन्म की कथा, पचम लम्बक में सत्यवेग के विद्याधरों के नगर में प्रवेश करने की एव चार कन्याओं को प्राप्त करने की कथा, षष्ठ लम्बक में सूर्यप्रभा की कथा, सप्तम में कलिङ्गसेना के साथ उदयन एव मत्री पुत्री के साथ नरवाहनदत्त के विवाह की कथा, अष्टम लम्बक में मानसवेग द्वारा मदनमचुका के अपहरण की कथा, नवम में ललितलोचना के विवाह एव उसके लुप्त होने की कथा, दशम लम्बक में विक्रमादित्य की ग्यारहवें लम्बक में ललित लोचना की पुन प्राप्ति, बारहवें में मुक्ताफलकेतु कथा, तेरहवें में मदनमचुका की प्राप्ति, चौदहवें में रत्नप्रभा के विवाह की, पन्द्रहवें में अलकारवती, सोलहवें में शक्तियशा, सत्रहवें में वामदेव एव मदरदेव, अट्ठारहवें में राजा गोपाल और पालक एव नायिका से अवन्तिवर्मा के विवाह की कथा वर्णित है तथा अन्तिम उन्नीसवाँ लम्बक समस्त कृति के साराश रूप में प्रस्तुत किया गया है।

क्षेमेन्द्र सस्कृत साहित्य के देदीप्यमान सूर्य हैं, जिसकी कविता रूपी रग बिरगी *किरणों ने कामुक एव श्रृगार स्थलों के साथ लोक-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को उजागर किया* है। क्षेमेन्द्र के विषय में कहा गया है कि "उनकी अपनी दिशा है—लोक जीवन की दिशा। जनसाधारण की दिशा। जनसाधारण के दैनिक जीवन का चित्रण, उनके गुणों की प्रशसा तथा दोषों पर व्यग्यपूर्ण प्रहार, उसके परिष्कार के व्यावहारिक उपायों का सुझाव जीवन के विविध यथार्थ रूपों को व्यापक तथा विशाल धरातल पर चित्रित करने वाले जनप्रिय रामायण, महाभारत एव बृहत्कथा के सक्षिप्त रूपान्तरणों की प्रस्तुति और जीवन को ही आधार बनाकर काव्य समीक्षा के मौलिक सिद्धान्त की स्थापना करना आदि कार्य उन्हें साधारण लोक-जीवन का कवि सिद्ध करते हैं।"[3] क्षेमेन्द्र ने वेश्या, लुहार, चमार, महाजन, शैव, वैष्णव, काश्मीरी बगाली आदि के बीच में रहकर उन्हें निकट से देखा। अत उन्हें जीवन के विषय में व्यापक एव बहुमुखी अनुभव मिला। इनके समय में काश्मीर की सामाजिक दशा पतनोन्मुखी थी। उन्होंने समाज में स्थान-स्थान पर दृष्टिगत दोषों के व्यग्यात्मक चित्रण अथवा यथार्थ वर्णन तथा तद्विषयक नीति उपदेशों से अपना लक्ष्य साधा। "बृहत्कथामजरी" में जीवन के विविध पक्षों का यथार्थ वर्णन है। "लोक-जीवन

1 क्षेमेन्द्र—एक सामाजिक अध्ययन पीएचडी शोध प्रबध पृ 32

2 This is a summary of Gunadhya s Brhat Katha Ksemendra says that he had a copy of the latter while writing this summary Ksemendra studies p 17

3 आचार्य क्षेमेन्द्र प्राक्कथन अ-आ

के दुर्बल रूप का वर्णन, वे वर्णन के लिए नहीं करते परिष्कार की भावना से करते हैं। इसलिए जीवन की दुर्बलताओं पर व्यंग्य कसकर स्वच्छदता की ओर संकेत करते हुए वे सर्वत्र प्रतीत होते हैं। इन्होंने काव्य रचना के लिए जिस क्षेत्र को अपनाया वह आमुष्मिकता प्रधान संस्कृत वाङ्मय के लिए नवीन है।"[1]

कथासरित्सागर—

"कथासरित्सागर" संस्कृत कथा साहित्य का ही नहीं वरन् विश्व साहित्य का शिरोमणि ग्रन्थ है। इसे काश्मीर के पण्डित श्रीराम के पुत्र सोमदेव भट्ट ने कथारूपी अमृत से भरे बृहत्कथा के सार को त्रिगर्त (कुल्लू कांगड़ा) देश के राजा इन्दु की पुत्री, काश्मीर नरेश अनन्त की रानी सूर्यमती के क्षणिक मनोरंजन के लिए संग्रह किया।[2] यह ग्रन्थ ई. 1063 और 1081 के बीच लिखा गया।[3] पद्य में निबद्ध कथासरित्सागर में 18 लम्बक हैं[4] जो 124 तरंगों में बँटे हुए हैं। ग्रन्थ में कुल 21,688 श्लोक हैं। सम्भव है लम्बक (लम्भक) का अर्थ यहाँ "प्राप्त करना" नहीं है यदि यह नरवाहनदत्त की पत्नी या विजय प्राप्त करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ होता तो उदयन कथा एवं ग्रन्थ के आरम्भिक भाग में यह शब्द नहीं आता। पर यह भी तो सम्भव है कि यहाँ लम्भक (प्राप्त करना) पुत्र प्राप्ति के सन्दर्भ में आया हो, जिसमें उदयन नरवाहनदत्त के जन्म से पुत्र प्राप्त करता है। मैक्डोनल के अनुसार "कथासरित्सागर" महाभारत का लगभग चतुर्थांश एवं इलियड और ओडिसी को साथ रख देने पर भी दुगुना है।[5]

"कथासरित्सागर" के विषय में स्वयं सोमदेव ने स्पष्ट कहा है कि "बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्।" तथा मूल बृहत्कथा में जो कुछ है उसी का इस ग्रन्थ में संग्रह किया गया है। मूलग्रन्थ से इसमें तनिक भी अन्तर नहीं है। हाँ विस्तृत कथाओं को संक्षिप्त मात्र किया गया है और भाषा का भेद है।[6] बृहत्कथा की भाषा पैशाची थी और इसकी संस्कृत है। पैशाची भाषा के विषय में मैक्डोनल का विचार है कि क्षेमेन्द्र एवं सोमदेव ने जिस ग्रन्थ का अनुवाद किया वह मूलरूप में पैशाची भाषा में था। पैशाची भाषा से तात्पर्य उन बोलियों से है जो समाज के अज्ञानी एवं निम्न वर्गों द्वारा बोली जाती

1 आचार्य क्षेमेन्द्र, भूमिका, पृ. 9 10
2 क.स.सा., ग्रन्थकर्तुः प्रशस्ति—1 13
3 सूर्यमती ने 1081 ई. के आस पास सती प्रथा का अनुसरण कर मृत्यु का सहर्ष आलिंगन किया था। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ निःसन्देह 1081 ई. के पूर्व ही की रचना हो सकती है
4 (1) कथापीठ, (2) कथामुख (3) लावाणक (4) नरवाहनदत्त (5) चतुर्दारिका (6) मदनमञ्चुका (7) रत्नप्रभा, (8) सूर्यप्रभा, (9) अलंकारवती (10) शक्तियशा (11) वेला (12) शशांकवती (13) मदिरावती (14) महाभिषेकवती (15) पञ्च (16) सुरतमञ्जरी (17) पद्मावती (18) विषमशील
5 Equal to nearly one fourth of the Mahabharat or almost twice as much as the Iliad and Odyssey put together A History of Sanskrit Literature p. 317
6 यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तरसङ्क्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते   क.स.सा. 1 1 10

थी।[1] सोमदेव ने यह भी कहा है कि "मैंने यथा सम्भव मूलग्रन्थ की औचित्य परम्परा की रक्षा की है और कुछ नवीन काव्यांशों की योजना करते हुए भी मूलकथा के रस का विघात नहीं होने दिया है।[2] "कथासरित्सागर" के "लोककथा" होने की प्रामाणिकता के लिए उसकी महत्त्वपूर्ण मौखिक परम्परा के विषय में सोमदेव ने कहा है कि "कैलाश में शिवजी के मुख से पुष्पदत्त गण को, पृथ्वी पर वररुचि के रूप में अवतीर्ण पुष्पदत्त से काणभूति को काणभूति ने गुणाढ्य को और गुणाढ्य से राजा सातवाहन को क्रमश प्राप्त इस विद्याधर कथा रूपी अमृत को सुनिये।"[3]

"कथासरित्सागर" ऐसी कथाओं का आगार है, जिनको पढने से गहन आनन्दानुभूति होती है, जिसकी कथा कहने की शैली भी विचित्र है, जिसमें एक कथा से दूसरी कथा निकलती चली जाती है। इन कथाओं के विषय में कीथ ने लिखा है कि "सोमदेव ने सरल और अकृत्रिम रहते हुए आकर्षक और सुन्दर रूप में ऐसी-ऐसी कथाओं की बडी भारी सख्या को प्रस्तुत किया है, जो नितरा विभिन्न रूपों में मनोविनोदकारक अथवा भयानक अथवा प्रेम सम्बन्धी अथवा जल और थल के अद्भुत दृश्यों के प्रति हममें अनुराग उत्पन्न करने के लिए आकर्षक अथवा बाल्यकाल की परिचित कहानियों का सादृश्य उपस्थित करने वाले रूपों में हमारे लिए अत्यन्त रुचिकर हैं। क्षेमेन्द्र में कहीं अत्यधिक सक्षेप और कहीं अस्पष्टता के कारण कहानियों का सारा आकर्षण और रोचकता ही नष्ट हो गई है। ठीक इसके विपरीत पचतत्र के लेखक की तरह सोमदेव प्रतिभा के धनी हैं। व पाठक के मन को थकाए बिना सावधानी से अभीष्ट अर्थ का प्रकाशन कर सकते हैं। उनकी कहानियों का रुचिकर रूप कहीं नहीं छीजता।"[4] "कथासरित्सागर" में पारम्परिक पीढी दर पीढी प्रचलित लोक विश्वास, धार्मिक विश्वास, रक्तपान करने वाले वेताल, प्रेम एव मूर्खों से जुडी कथाएँ सग्रहित हैं, "उसमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं और नगरों, राजतत्र एव षडयत्र, जादू और टोने, छल और कपट, हत्या और युद्ध रक्तपायीवेताल, पिशाच, यक्ष और प्रेत, पशु पक्षियों की सच्ची और गढी हुई कहानियाँ और भिखमगे साधु पियक्कड, जुआरी, वेश्या, विट और कुट्टनी इन सभी

---

1 Ksemendra and Somadeva worked independently of each other and both state that the original from which they translated was written in the paisacibhasa or Goblin Language a term applied to a number of law Prakrit dialects spoken by the most ignorent and degraded classes A History of Sanskrit Literature p 319 20

2 "औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते ।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना ॥ क स सा 1 1 11

3 कैलासे धूर्जटेर्वक्त्रात्पुष्पदन्त गणात्मप् ।
तस्माद् वररुचाभूतात् काणभूतिं च भूतले ॥
काणभूतेर्गुणाढ्य च गुणाढ्यात्सातवाहनम् ।
यत्प्राप्त श्रृणुत तद् विद्याधरकथाद्भुतम् ॥ क स सा, 2 1 2 3

4 सस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ 335

की कहानियाँ एकत्र हो गयी हैं।[1] इस प्रकार इसमें तत्कालीन भारतीय समाज का [illegible] चित्रण मिलता है। 'कथा सरित्सागर' एवं 'बृहत्कथामंजरी' में 'वेतालपंचविंशति' की कथाएँ मिलती हैं। ये कथाएँ बृहत्कथामंजरी की अपेक्षा कथासरित्सागर में अधिक [illegible] हैं। बृहत्कथामंजरी में जहाँ 1206 श्लोक हैं वहाँ कथा सरित्सागर में 219[illegible] [illegible] और एजर्टन के मत में "यह सम्भाव्य है कि मूल बृहत्कथा में वेतालपंचविंशति की कहानियाँ विद्यमान न थी। नरवाहनदत्त के उपाख्यान से स्पष्टतः उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।"[2] पंचतंत्र की कुछ कथाएँ भी दोनों में मिलती हैं। कथा सरित्सागर के विषय में विन्तर्नित्स लिखते हैं कि "यह एक ऐसा समुद्र है जिसमें कथाओं की सभी नदियों का संगम होता है एवं नरवाहनदत्त की कथा केवल एक संचिका के रूप में आती है जिसमें सभी प्रकार के सम्भव स्रोतों से निकलने वाली कथा नदियाँ आकर एक सागर में [illegible] जाती हैं।"[3]

हम यह निश्चित रूप से कहने की स्थिति में नहीं हैं कि कौनसी वाचना बृहत्कथा का रूपान्तरण है या उसके अधिक निकट है। जहाँ एक तरफ कुछ विद्वान् बुद्धस्वामीकृत "बृहत्कथाश्लोकसंग्रह" एवं वसुदेवहिण्डी को 'बृहत्कथा' के अधिक निकट मानते हैं तो दूसरी तरफ सोमदेव ने कथासरित्सागर में एवं क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी में यह लिखा है कि यह ग्रन्थ लिखते समय 'बृहत्कथा' उनके सामने थी।

वेतालपंचविंशति—

संस्कृत लोककथा परम्परा में पच्चीस कथाओं का संग्रह 'वेतालपंचविंशति' [illegible] भारत में ही नहीं अपितु विश्वभर के कोने कोने में फैला और लोकप्रिय बन गई। [illegible] की अनेक भाषाओं[4] एवं लगभग सारी भारतीय भाषाओं में अनूदित हुई। [illegible] प्राचीन मूलभूत पाठ सर्वथा विलुप्त हो गया। 'वेतालपंचविंशति' की कहानियाँ [illegible] "बृहत्कथा" में विद्यमान थी या नहीं इस विषय में कहना असम्भव है। क्योंकि [illegible] "बृहत्कथा" की काश्मीरी वाचनाओं— कथासरित्सागर एवं बृहत्कथामंजरी में [illegible] मिलता है, परन्तु नेपाली वाचना 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह" में नहीं मिलती है। परन्तु [illegible] स्पष्ट है कि ये कथाएँ 11वीं शताब्दी से पूर्व लिखी जा चुकी थी या [illegible] के रूप में प्रचलित थी जिन्हें काश्मीरी वाचनाओं में संगृहीत किया गया। [illegible] से प्रतीत होता है नेपाली वाचना 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में 'बृहत्कथा' के [illegible] का ही संग्रह किया गया होगा परन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि [illegible] का चयन करने पर कथाओं में वर्णित घटना क्रम अखण्डित नहीं रह सकता।

1 कथासा. भूमिका पृ. 22

2 कथासा. भूमिका पृ. [illegible]

3 भारतीय साहित्य का इतिहास भाग तृतीय [illegible] पृ. [illegible]

4 कथासरित्सागर की वेताल कथाओं में लगभग आधी कथाओं का जर्मन में अनुवाद [illegible] Legch ने (Indische Sagen [illegible] 18[illegible]) किया है।

—भारतीय साहित्य का इतिहास भा. [illegible]

इसका 12वीं शती का शिवदास का संस्करण[1] गद्य और पद्य दोनों में है। एक अन्य संस्करण भी उपलब्ध है परन्तु कर्ता का नाम अज्ञात है। जम्भलदत्त[2] कृत एक और संस्करण है, जिसमें पद्य का अभाव है। एक संक्षिप्त रूपान्तरण भी है जिसके लेखक वल्लभदेव या वल्लभदास हैं।'[3] जम्भलदत्तकृत "वेतालपंचविंशतिका" पात्रों के नाम, कथा क्रम एवं विषय वस्तु की दृष्टि से काश्मीरी वाचनाओं के एकदम समीप है।

"वेतालपंचविंशतिका" के विषय में "कथासरित्सागर" में वेताल कहता है कि पहले की जो चौबीस कथाएँ हैं वे और यह अन्तिम पच्चीसवीं कथा, ये सारी कथावली संसार में "वेतालपचीसी" के नाम से प्रसिद्ध होगी, लोग इसका आदर करेंगे और यह कल्याणदायिनी भी होगी जो कोई आदर पूर्वक इसका एक भी श्लोक पढेगा अथवा सुनेगा, ऐसे दोनों प्रकार के लोग शीघ्र ही पापमुक्त हो जायेंगे। जहाँ ये कथाएँ पढी लिखी सुनी जायेंगी वहाँ यक्ष वेताल कूष्माण्ड डाकिनी राक्षस आदि का प्रभाव नहीं पडेगा।"[4] सम्भव है यह विश्वास इन कथाओं के कथन श्रवण की परम्परा के साथ ही लोक में प्रचलित रहा हो, जिसे कथा संग्रह करते समय वेताल से कहलवाया गया है।

"वेतालपंचविंशतिका" में भूमिका स्वरूप प्रथम कथा यह है कि राजा विक्रमादित्य (कथासागर में त्रिविक्रमसेन) के दरबार में वेताल का उपहार बनाकर विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा होने की सिद्धि चाहने वाला नाम से शान्तिशील एक कपटी भिक्षु राजा को आकृष्ट करने के उद्देश्य से प्रतिदिन एक फल के अन्दर रत्नभर कर राजा को उपायन के रूप में देता। फलों के अन्दर रत्नों के होने का पता लगने पर राजा भिक्षु की ओर आकृष्ट हुए। राजा उसकी साधना में सहायता करने को तैयार हुआ। भिक्षु के कहे अनुसार राजा के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की मध्यरात में श्मशान में पहुँचने पर भिक्षु ने दूर किसी शीशम के पेड में लटके हुए शव को लाने के लिए कहा। राजा ने शीशम के पास पहुँचकर लटके हुए शव को जिसमें प्रेत निवास करता था उतारना चाहा किन्तु उसने माया के द्वारा बहुत सी बाधाएँ पहुँचायी। फिर भी राजा के साहसपूर्वक उसे पेड से उतारने पर वह रोने लगा। राजा के द्वारा रोने का कारण पूछने पर वह पुनः पेड पर लटक गया। राजा ने समझ लिया कि मैं मौन रहता हूँ तब तक यह शव मेरे अधीन रहता है और मैं मौनभङ्ग करता हूँ तो फिर पेड पर चढ जाता है। अतः राजा ने मौन रहकर पेड से शव को उतारा और कंधे पर उठाकर उस भिक्षु की ओर चल दिया। राह में राजा से शव में रहने वाला वेताल बोला—महाराज, तुम बहुत साहसी हो। मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ। अतः रास्ते का परिश्रम दूर करने के लिए तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। कहानी प्रश्न के रूप में होगी और यदि उसका उत्तर जानते हुए भी तुम नहीं कहोगे तो तुम्हारा सिर सैकडों टुकडों में चूर

---

1. डॉ. हर्टल का सम्मति है कि शिवदास ने 1487 ई. बहुत पहले ही वेतालपंचविंशति की रचना की थी क्योंकि उसी समय इसका प्राचीनतम हस्तलेख उपलब्ध होता है।"

—संस्कृत साहित्य का इतिहास ब.उ. पृ. 453

2. जम्भलदत्त के स्थान पर जैमलदत्त भी मिलता है।
3. शुकसप्तति भूमिका पृ. 13
4. क.स.सा. 12.32.27.29

हो जायेगा और यदि उत्तर देने के लिए बोलोगे तो मैं फिर उसी शीशम के ऊपर चला जाऊंगा। यह कहकर क्रमशः उस प्रेत ने तेईस कथाएँ कही तथा शाप (सिर फटने) के भय से राजा ने तेईसों प्रश्नो के यथार्थ उत्तर दिए। तेईस बार राजा के मौन भंग करते ही वह वेताल उसी शीशम के पेड पर जाकर लटक जाता था। चौबीसवाँ प्रश्न ऐसा जटिल था कि राजा उसका उत्तर देने में असमर्थ हो गया और मौन धारण किये ही उस शव को आगे लिए हुए बढता रहा। राजा के निश्छल भाव तथा साहस से वह वेताल प्रसन्न हुआ तथा भिक्षु के कपट से बचने के लिए राजा को युक्ति बताई जिस युक्ति से राजा ने भिक्षु को मार कर उसको अभिलषित विद्याधरों के चक्रवती राजा होने की सिद्धि प्राप्त की।

"वेतालपचविंशति" विश्वकथा साहित्य की श्रेष्ठ कृति है जिसकी कहानियाँ ज्ञानवर्धक कौतुहलजनक एवं अत्यन्त पेचीदे प्रश्नों से गुम्फित हैं।

सिंहासनद्वात्रिंशिका—

"सिंहासनद्वात्रिंशिका" एक मनोरंजक एवं लोकप्रिय कथा संग्रह है। जिसके द्वात्रिंशत्पुत्तलिका एवं विक्रमचरित नाम भी मिलते हैं। इसके लेखक एवं रचनाकाल के विषय में कुछ भी कहना कठिन है। परन्तु इसमें राजाभोज (1017 1063) के स्पष्ट उल्लेख से प्रतीत होता है कि यह भोज के बाद रचित है। इस ग्रंथ की लोकप्रियता इस बात से प्रमाणित होती है कि इसकी भी पाण्डुलिपियो की संख्या बहुत हैं, जिनमें पाठ भेद बहुत अधिक हैं।"[1] इसकी वाचनाएं मिलती हैं—उत्तरी तथा दक्षिणी। दोनों में परस्पर भिन्नता भी है। बलदेव उपाध्याय के अनुसार "उत्तरी वाचनिका में तीन विवरण मिलते हैं—जैन क्षेमकर मुनि रचित, इसी पर आश्रित बगाली विवरण तथा तीसरा एक छोटा विवरण।[2] उत्तरी एवं जैन प्रस्थान बहुत परिवर्धित प्रतीत होते हैं। जैन प्रस्थान में सम्प्रदाय का पुट सर्वत्र परिलक्षित होता है। संभवतया मूल कथाओं का स्वरूप बहुत ही परिवर्तित हो गया। दक्षिण प्रस्थान गद्यबद्ध पद्यबद्ध दो रूपों में विशेष प्रख्यात है। विन्टर्नित्स के अनुसार "दक्षिण भारतीय गद्यमय प्रस्थान मूल पाठ के सन्निकट प्रतीत होता है।"[3] डॉ इडगर्टन भी इसी बात के समर्थक हैं कि दक्षिणी वाचनिका ही मौलिक एवं प्राचीनतर है परन्तु डॉ हर्टेल की दृष्टि में जैन विवरण ही मूल के अधिकतम समीप है।"[4] फिर भी हम निश्चित प्रमाणाभाव के यह कहने की स्थिति में नही है कि दोनों वाचनिकाओं में कौन मूल सङ्गत एवं प्राचीन है।

"सिंहासनद्वात्रिंशिका" की विभिन्न पाण्डुलिपियों में बहुत पाठ भेद हैं। यद्यपि सभी में विक्रमादित्य का जीवन तथा चरित्र अधिक या स्वल्प मात्रा में सम्मिलित है इसकी कथा वस्तु के अनुसार एक समय राजा विक्रम इन्द्र के दरबार में उपस्थित हुए और इन्द्र

1 भारतीय साहित्य का इतिहास, भाग तीन, खण्ड प्रथम, पृ 42।

2 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ 454

3 "इसके अतिरिक्त एक पद्यमय दक्षिण भारतीय प्रस्थान भी है जो कई स्थानों पर बहुत ही संक्षिप्त मालूम पड़ता है जहां दूसरे स्थानों पर संपर्कों से यह बहुत ही परिवर्धित हुआ दिखता है

—भारतीय साहित्य का इतिहास भाग 3 खण्ड 1 पृ 429

4 संस्कृत साहित्य का इतिहास, ब.उ. पृ 420

ने 32 पुतलिकाओं वाला एक अपूर्व सिंहासन उन्हें उपहार में दिया। विक्रमादित्य सिंहासन को राजधानी ले आए। बाद में राजा शालिवाहन के साथ हुए युद्ध में विक्रमादित्य की मृत्यु हो गया। उनके आदेश से वह सिंहासन पृथ्वी के भीतर दबा दिया गया। परन्तु उस पर बैठने की योग्यता वाला राजा कोई नहीं था। बहुत वर्षों बाद वह सिंहासन धारा के महाराज को उज्जयिनी के पार्श्व में स्थित उनकी राजधानी के खेत में प्राप्त हुआ। इसमें एक हजार स्तम्भ थे। सिंहासन जमीन में से निकालकर राजधानी लाया गया। जैसे ही राजा उस पर बैठने लगा, उसमें जडी हुई एक एक पुतलिका ने विक्रमादित्य के पराक्रमी जीवन की कोई एक कहानी सुनाकर धारानरेश से पूछा कि क्या वह इस सिंहासन पर बैठने के योग्य है ? इस प्रकार क्रमश 32 पुतलिकाएँ शापवश मूर्तिमय हुई देव पत्नियाँ हैं। राजा भोज से मिलकर उनकी शाप से मुक्ति हो जाती हैं और व स्वर्ग चली जाती हैं।

ये 32 कथाएँ विचित्र अवश्य हैं परन्तु "वेतालपचविंशति" की भाँति रोचक एव कुतुहलपूर्ण नहीं है कि अगली पुतली की कथा सुनने की उत्सुकता उत्पन्न हो।

शुकसप्तति–

आधुनिक भारतीय एव कई विदेशी भाषाओं में अनुदित शुकसप्तति विश्वकथा साहित्य में लोकप्रिय है। इसके मूल एव रचयिता के विषय में कुछ कहना कठिन है। विन्टर्नित्स का मानना है कि "इसका मूल ग्रंथ-कोश सर्वथा विलुप्त हो गया और उसके मिलने की कोई आशा भी नहीं है।[1] इस ग्रंथ की दो वाचनाएँ मिलती हैं—विस्तृत तथा संक्षिप्त।[2]

"शुकसप्तति" में एक सुग्गा अपने मालिक के परदेश चले जाने पर अन्य पुरूषों के प्रति आकृष्ट होने वाली अपनी स्वामिनी को कथा सुनाकर रोकता है। प्रत्येक कथा के आरम्भ में प्राय प्रतिदिन जब मदनसेन की पत्नी प्रभावती जार से मिलने के लिए श्रृगार करने लगती है जाने को उद्यत होती है तब वह बुद्धिमान सुग्गा उसके कुत्सित कार्य कलापों का अनुमोदन करता हुआ कहता है—"अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए तुम जो कुछ करती हो, ठीक करती हो पर यदि तुम भी (प्रत्येक कथा में उसके पात्र का नाम लेकर कहता है) चतुर गुणशालिनी के समान आचरण करो।" यह सुनकर प्रभावती की उत्सुकता बढ जाती है एव सुग्गे से कथा कहने के लिए कहती। सुग्गा कथा कहता। कथा के पराकाष्ठा पर पहुँचने पर रूक जाता और कहता—अब क्या करें ? प्रभावती सोचती रहती इसी में सकेत स्थल पर जाना भूल जाती, रात्रि का अधिक भाग बीत जाता, तब सुग्गा कथा का अवशिष्ट भाग सुनाता। इस प्रकार 69 रातें व्यतीत हो जाती और 70 वें दिन उसका पति आ जाता है।

1 भारतीय साहित्य का इतिहास, तृ भा, प्रख पृ 436

2 Richard Schmidt (रिमत) के सस्करण (1890) तथा जर्मन अनुवाद (1894) के माध्यम से इस ग्रंथ के दो प्रस्थानों की जानकारी हमें हो चुकी है। इनमें एक में अलकृत पाठ Textus Simplic । 1894 और दूसरे में अलकृत पाठ Textus ornation (1901) है।

—भारतीय साहित्य का इतिहास भाग तीन खड एक पृ 436।

"शुकसप्तति में अधिकतर कथाएँ गणिकावृत्त पर आधारित हैं। अधिकांश कथाओं में जिस प्रकार सुन्दर नारियाँ पति से छल कर अपने जार से मिलने जाती हैं किस प्रकार जार के साथ पकड़े जाने पर प्रपंच रचकर भय की आड़ में पति को उल्लू बनाकर अपनी रक्षा कर लेती हैं तथा कुछ कथाएँ ऐसी भी आई हैं जिनमें नारियों के जार के साथ पकड़े जाने की स्थिति में न तो वे अपने सतीत्व को बचा पाती न ही अपना बचाव कर पाती बल्कि उल्टे मार खाती, अपमानित होती हैं। इस प्रकार स्त्रियों की सभी प्रकार की चालाकी तथा धूर्तता का वर्णन यहाँ हुआ है। कथाओं की अश्लीलता के आधार पर ग्रंथ की उत्कृष्टता के विषय में सन्देह न करना चाहिए। ऐसे स्थल मानव जीवन के यथार्थ की तीव्र अनुभूति की अभिव्यक्ति हैं। इस सम्बन्ध में विन्टरनित्स का मानना है कि जार कर्म तथा गणिकाओं की कहानियाँ अक्सर वेश्यावृत्ति की कहानियाँ बन जाती हैं एवं उनमें कुछ भद्दे रूप से अश्लील हैं। ऐसा कहने पर भी सीधे सीधे वेश्यावृत्ति का ग्रंथ समझना सर्वथा भूल होगी।[1]

'शुकसप्तति' की विस्तृत (अलंकृत) वाचना के रचयिता एक चिन्तामणि भट्ट हैं। हेमचन्द्र (1088-1172) ने शुकसप्तति का उल्लेख किया है। पुनश्च 14 वीं शती में फारसी भाषा में "तूतिनामह" (तूतीनामा) नाम से ग्रंथ अनूदित हुआ था। अतएव इतना ही कहा जा सकता है कि 1000 व 1400 ई. का मध्य ही इस ग्रंथ का रचनाकाल रहा होगा।[2]

संस्कृत लोककथा साहित्य परम्परा में 'भट्टरकद्वात्रिंशिका' ग्रंथ भी मिलता है जो संभवतया मूल रूप में संस्कृत में न था बल्कि बाद में संस्कृत में अनूदित किया गया। भटरक एक प्रकार के भिखारी होते हैं। इसमें मूर्खों तथा बदमाशों की कथाएँ संगृहीत हैं तथा ब्राह्मण और पुरोहितों की खिल्ली उड़ाई गई है। इसी प्रकार शिवदास का कथार्णव भी है। प्राकृत पद्य में लिखित हरिभद्र का धूर्ताख्यान भी है तथा विद्यापति का पुरुष परीक्षा जो गद्य में रचित है जिसमें 44 कथाएँ हैं।

6 संस्कृत लोककथा की विशेषता

"लोककथा" जनता के उस विशाल जनसमूह का साहित्य है जिसे आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने गंवार सामान्य असभ्य अशिक्षित अनपढ़ आदि शब्दों से सम्बोधित किया है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। "लोककथा" ने "लोक जीवन" को जीवन्त प्रदान किया है। सर्वप्रथम आदिम मानव को जब शिकार हाथ लगा या न लगा जब जब उसने प्रकृति में चमत्कार देखे वह भयभीत हुआ उसे आश्चर्य हुआ आनन्द एवं दुःख की अनुभूति हुई तभी उसके मुख से हर्ष विषादमय वाणी का समुच्छलन हुआ अपने भावों की अभिव्यक्ति दी तभी से "लोक कथा" की उत्पत्ति हुई एवं वह लोक जीवन में जुड़ी।

1 भारतीय साहित्य का इतिहास, तृ.प., प्रस्त. पृ. 440

2 शुकसप्तति, भूमिका, पृ. 16-17

"लोक कथा" युगों युगों से मौखिक लिखित कथा है, जिसे निरन्तर चिरयौवन का वरदान है। लोक कथाओं के पीछे जनमाधारण की स्वीकृति होती है, वैयक्तिक विकृतियो के लिए उनमें कोई स्थान नही है। "लोक कथा" का एक एक शब्द सार्थक होता है, उसमें निरुद्देश्य विस्तार नहीं होता। उसमें बात सीधे सरल रूप में कही जाती है। प्रत्येक शब्द में जीवन की यथार्थ चेतना घुली मिली रहती है, चाहे वह उच्चवर्गीय जीवन का कृत्रिम आडम्बर, अलकार की अस्वाभाविक चमत्कृति और प्रपचमय जीवन की कपट पूर्ण प्रवचना हो या लोक के उत्पीडन एव शोषण की नग्न तस्वीर।

कुछ विद्वान् सस्कृत साहित्य के सर्वप्राचीन कथासग्रह गुणाढय द्वारा लिखित "बृहत्कथा" की काश्मीरी वाचना एव नेपाली वाचना को पात्रों के आधार पर "परीकथा" मानते हैं। "बृहत्कथा" की विषयवस्तु उदयन तथा उसके पुत्र नरवाहनदत्त के चरित्र एव जीवन से जुडी है। मूल रूप में यह लोक कथा ही रही होगी। "उदयन कथा" तो ग्राम के बडे बूढों द्वारा चौपालों पर कही सुनी जाती थी।[1] सभव है यह लोक म पीढी दर पीढी मौखिक परम्परा में पैशाची भाषा में प्रचलित रही हो और उसी रूप मे गुणाढ्य ने "बृहत्कथा" में उसे सगृहीत किया हो।

कुतूहल एव स्वान्त सुख ने "लोककथा" को जन्म दिया। "लोककथा" के सम्बन्ध म एक विद्वान ने कहा है कि "वे शिशुवत् मस्तिष्कों द्वारा रचित लघु उपन्यासो के समान होती हैं। उनमें कथा के तीन तत्वों—चरित्र घटना तथा कथानक का समावेश होता है, जीवन क यथार्थ तथा मस्तिष्क की रगीन कल्पनाओं तथा अनुभूतियो का चित्रण भी रहता है। अत लोक-कथाएं नैसर्गिक सौन्दर्य को लिए मानव के उषकाल से ही जीवन्त रूप म प्रवहमान है। सस्कृत लोक-कथाएँ भले ही लिपिबद्ध कर ली गई, किन्तु आज भी उनमें रस का एक पारावार लहरा रहा है जो सहृदय सवेद्य है।

सस्कृत लोक कथा की विशेषताएँ अन्यतम एव विशिष्ट हैं। सर्वप्रथम तो य कथाएँ एक समय लोक में मौखिक परम्परा में प्रचलित रही होगी, चाहे आज उनका प्रचलन न रहा हो। उन कथाओ की एक प्रमुख विशेषता अन्तकथा है अर्थात् कथा में कथा कहने की प्रणाली। यह प्रणाली प्राचीनकाल क ऐतरेय ब्राह्मण से ही पाई जाती है।[2] सभव है लोक में ये कथाएं अन्तकथा के रूप में प्रचलित न रही हों, क्योंकि अपनी जीविका अर्जन में व्यस्त रहने वाले "लोक" के पास इतना समय कहाँ था कि मनोरजन के लिए कथा में कथा निरन्तर कह सुन सकते। यह भी सभव है कि गुणाढय ने "बृहत्कथा" में रोचकता एव कौतूहल लाने के लिए अपने बुद्धि कौशल से लोक प्रचलित कथाओ को ही अन्तकथा के रूप में अन्तर्गर्भित कर दिया हो। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही मुख्य कथानक के अन्तर्गत अनेक घटनाएँ अनुस्यूत रही हो जो कई दिनों तक चलती रहती। यथा "शुकसप्तति", वेतालपचविंशतिका" तथा "सिहासनद्वात्रिंशिका में देखते हैं कि इसी घटना बहुलता क कारण पाठक या श्रोता की उनमें कुतूहलवृत्ति सतत बनी रहती है। आज न

1 "प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविद ग्रामवृद्धान्"
मेघदूतम् पूर्वमेघ-31 क स सा 1844

2 ऐ ब्राह्मण 7 35 1

"बृहत्कथा" उपलब्ध है और न ही उसके स्वरूप एवं विषयवस्तु के बारे में अन्य ठोस प्रमाण ही, जिसके आधार पर इस विषय में कुछ कहा जा सके।

"लोककथा" शुद्धतम रूप में श्रोता का मनोरंजन करती है।[1] साथ ही प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में उसका ज्ञानवर्धन भी करती है। संस्कृत कथाएँ अधिकतर उच्च वर्गीय पात्र राजा रानी, जमींदार, धनाढ्य एवं सामन्तों से जुड़ी हैं। स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि अपने स्वामी के मनोरंजन के लिए या समय व्यतीत करने के लिए नौकर चाकर, मंत्री विदूषक एवं अन्य दास दासी सहित भृत्य वर्ग कथाएँ सुनाते हैं। "बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर या बृहत्कथाश्लोकसंग्रह से स्पष्ट हो जाता है कि गुणाढ्य की बृहत्कथा का चरम उद्देश्य मनोरंजन ही था।"[2] संस्कृत कथाओं में प्राय नायक राजा सामंत सार्थवाह, चालाक चोर, कपटी आदि की कथाएँ भी आई हैं। इन कथाओं में खलनायक के रूप में वह हैं जिसके पास शक्ति एवं धन है, वह राजा सामंत या अन्य कोई चालाक धनी हो सकता है।

प्रो पाठक लिखते हैं कि "लोक कथाओं" में कभी कभी नायक के सहायक अचेतन जादुई पदार्थ होते हैं, जैसे जादू की अंगूठी घोड़ा रथ, खड्ग पादुका प्याला जलयान तथा अदृश्यता प्रदान करने वाला आवरण वस्त्र आदि। उनमें नायक के प्रतिपक्षी राक्षस दैत्य जिन, भूत प्रेत, पिशाच जादूगर, तांत्रिक आदि अप्राकृतिक शक्तियों से युक्त प्राणियों की योजना की जाती है। अनेक बाधाओं के होने पर भी नायक इन राक्षस आदि विरोधियों को पराभूत कर अपने उद्देश्य में सफलता पाने में समर्थ होता है। लोक कथाएँ नियमेन सुखान्त होती हैं और उनकी सुखान्तता में अतिप्राकृत शक्तियों का विशिष्ट योगदान रहता है।"[3]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर संस्कृत लोक कथा की निम्नलिखित विशेषताएँ कही जा सकती हैं—

(1) लोक कथाएँ सुखान्त होती हैं।
(2) लोक-कथाएँ प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में लोक से जुड़ी होती हैं, जिनमें लोक मानस की अन्तर्व्याप्ति होती है।
(3) उनमें अतिप्राकृत तत्वों का समावेश रहता है।
(4) लोककथा का सबसे बड़ा गुण वर्णन की स्वाभाविकता होती है।
(5) उनमें अद्भुत रस की प्रधानता रहती है जो उत्सुकता एवं कौतूहल की सृष्टि करता है।
(6) मूल रूप में लोक कथा की भाषा सीधी सरल एवं लोक प्रचलित होती है। जैसे बृहत्कथा की पैशाची प्राकृत।
(7) संस्कृत लोककथा के तीन रूप मिलते हैं—गद्यमय पद्यमय गद्यपद्यमय।

---

1 इति गोमुखेन कथाविनोद सचिवच्छेकितया समागमात्क
पुनरेव न कथाराजमुखितामच्छर्यं शनैर्गमय निशाम्॥ —बृ क सं 10.8.164
2 संस्कृत में नाटिका का उद्गम एवं विकास पृ. 3
3 संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्व पृ. 49-47

(8) सस्कृत लोक्कथा के निम्नलिखित निर्माण तत्व परिलक्षित होते हैं—
1 लोक-मानस 2 कथा रूप 3 पात्र 4 कथातन्तु 5 कथा उद्देश्य
6 अलकरण स्वाभाविकता 7 वातावरण 8 घटनाएँ

(9) सस्कृत लोककथा की "अन्तकथा" प्रणाली अपनी विशेषता है।

(10) लोककथा लोक प्रचलित होती है। परवर्तीकाल में भले उन्हें सगृहीत कर लिपिबद्ध कर लिया गया हो।

सस्कृत लोक कथा के विषय में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि वह आज लोक में प्रचलित नही है, परन्तु अवश्य ही सकलित होने से पूर्व ये कथाएँ मौखिक-परम्परा में लोक प्रचलित रही होंगी। उस समय सस्कृत कथाओं को "लोक-कथा" न कहा जाता रहा हो, परन्तु साहित्य को प्राप्त आधुनिक "लोक" विशेषण की सारी विशेषताएँ सस्कृत कथाओं पर खरी उतरती हैं अत इन्हें "लोक कथा" कहा जाना कोई अतिशयोक्ति न होगी।

7 सस्कृत लोककथा एव लोक-जीवन

लोक-साहित्य लोक का, लोक के लिए लोक के द्वारा रचित मौखिक परम्परा में पीढी-दर-पीढी प्रवहमान साहित्य है, परवर्तीकाल में भले ही उसे सग्रहीत कर लिपिबद्ध कर लिया गया हो। "प्रत्यक्षदर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नर।" लोक के इसी प्रत्यक्ष जीवन के समस्त पहलुओं का, उसके हृदय के सुख दुख, राग-विराग, आशा निराशा, ईर्ष्या द्वेष व प्रेम का लोक-प्रचलित परम्परा, आस्था, विश्वास एव उसके अनुष्ठान का यथार्थ निश्छल एव स्वाभाविक चित्र लोक-साहित्य है। डॉ कृष्णकुमार शर्मा का कहना है कि "लोक-साहित्य और लोक जीवन को परस्पर विभाजित नही किया जा सकता है।"[1]

"लोक्कथा" लोक साहित्य का एक सशक्त अग है जिसके विषय में कहा है—"कहानी समाज का कैमरा है, जिसके 'चित्र' मार्मिक तथा पर्याप्त सीमा तक सत्य के निकट होते हैं।"[2] लोक साहित्य के मर्मज्ञ श्री रामनारायण उपाध्याय ने सटीक शब्दों में कहा है—"आदमी ने जो कुछ किया, इसका लेखा-जोखा तो इतिहास में आ जाता है, लेकिन अपने मनोजगत् में उसने जा कुछ भी सोचा-विचारा, रगीन कल्पनाएँ बुनी, सुन्दर सपने सजोए उनका विवरण इन लोक कथाएँ में सुरक्षित है।——। इनमें व्यक्ति, स्थान या काल का कोई महत्त्व नही होता, वरन् ये अपौरुषेय और शाश्वत हैं। मनस्ताप के क्षणों में इन्होंने हमें बहलाया और घोर निराशा के क्षणों में भी मनुष्य में अमिट आशा का सचार किया है।"[3]

सस्कृत लोककथा का मूल लोक-जीवन है। इन कथाओं में लोक जीवन के न जाने कितने ऐसे सुपरिचित पक्ष उद्घाटित होते हैं जिनका यथार्थ स्वरूप हमें न तो समसामयिक

---

1 राजस्थानी लोकगाथा का अध्ययन, पृ 173
2 क स सा तथा भा स, पृ 205
3 मामूली आदमी पृ 48

साहित्य से ज्ञात होता है और न ही इतिहास के पन्नों मे। कथासरित्सागर के विषय में पेंजर ने लिखा है कि— उस समय के कश्मीर का इतिहास असतोष,निराशा एव खून खराबे से भरा पडा है। इन्ही दुखद एव अधकारपूर्ण परिस्थितियो में सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की।"[1] लोक कथाओ मे जहाँ धन धान्य से सम्पन्न सोने की थाली" में छप्पन प्रकार के पक्वान्न परोसन खाने वाले उच्चवर्गीय जीवन का वर्णन है वही दरिद्र दीन हीन निराहार दिन काटने वाले की करूणापूर्ण स्थिति का वर्णन भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष हुआ है। मूर्ख चोर,जुआरी,धूर्त,वेश्यागामी,चालबाज हँसोड,कपटी बदमाश ठग लुच्चे रंगीले भिक्षु तथा समाज के भले बुरे,ऊच नीच,धनी कगाल,धर्मात्मा गुण्डे आदि से सम्बन्धित कहानियाँ हैं। जहाँ एक तरफ स्त्रियों के चचल स्वभाव से सम्बन्धित कथाएँ प्रचुर मात्रा में हैं तो दूसरी तरफ उच्चवर्गीय राजा सामत एव सार्थवाहों के जीवन की विलासिता ऐश्वर्य सुरा सुन्दरी से सम्बन्धित कथाएँ भरी पडी हैं।

संस्कृत लोककथा मे एक विशेष बात यह दृष्टिगत होती है कि प्राय अधिकतर लोक कथाएँ सीधे रूप में लोक जीवन से जुडी हुई नही हैं। इन कथाओं के मुख्य पात्र राजा सामत या धनी वर्ग है। प्रसगवश कही कहीं सीधे रूप में "लोक" से जुडी कथाएँ भी मिलती हैं। यद्यपि कथाओं की विषयवस्तु उच्चवर्गीय जीवन से जुडी है तथापि उनमे लोक जीवन की तस्वीर भी स्पष्ट रूप से झलकती प्रतीत होती है। परन्तु लोक का आदर्श राजा या अन्य उच्च वर्ग मे आन बान हो रहे हैं। लोक कथा सीधे रूप मे लोक मे इसलिए भी न जुड पाई होगी कि "लोक' सदैव पीडाओं बाधाओं से घिरा रहा होगा जीविका की जटिल समस्या के समाधान में उलझा रहा होगा हो सकता है वह सीधे रूप में अपने जीवन से जुडी कथा कहना चर्चा करता तो घाव को हरा करने का अर्थ स्वय को पीडा पहुँचना होता। वह अपने कष्ट पीडा, उत्पीडन को भूलने के लिए काल्पनिक लोक परियो की कथाएँ एव उच्चवर्गीय जीवन की विलासिता एव सुखभोग मे खो जाना चाहता था। इसके उपरान्त भी इन कथाओं में लोक में प्रचलित विश्वासों परम्पराओं एव अनुष्ठानों के रूप में लोक जीवन" का जीवन्त रूप उपस्थित हुआ है। उच्चवर्ग का लोक के साथ कैसा सम्बन्ध रहा, यह भी इन कथाओं में देखने को मिलता है। प्राकृतिक आपदाओ अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के समय में उसकी क्या दशा हुई किस प्रकार वह शोषण का शिकार बना किस प्रकार उसके पारम्परिक जीवन एव विश्वासों का उच्चवर्ग ने अपनी स्वार्थ पूर्ति में उपयोग किया किस प्रकार उच्चवर्ग "लोक" को भाग्य एव पूर्व जन्म के कर्म फल का पाठ पढाकर उसका शोषण करता रहा। निरीह भोला लोक" भाग्य एव कर्म में विश्वास कर उच्चवर्गीय एव धर्म पाखण्डी के छल कपट एव उसकी हृदय कलुषता की हकीकत को न जान पाया एव न ही उसमें इतनी चेतना भी थी न ही समय था कि वह जानने का प्रयास करता या अपनी गरीबी का कारण ढूँढ पाता। यदि कभी कहीं किसी लोक समूह में चेतना अकुरित हुई तो सामतो एव पूँजीपति वर्ग ने उसे लोक विरुद्ध बनाकर लोक को ही उसके विरूद्ध भडकाया और नरसंहार हुआ। अपनी

1 कथासरित्सागर एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ 6

चाल से कभी समग्र लोक को एक रूप नही होने दिया। अंग्रेजों की "फूट डालो और राज करो" नीति के विषमय बीज हमारे यहाँ बहुत पहले से ही विद्यमान थे। एक राजा का दूसरे राजा से युद्ध जनता की भलाई से नही जुडा हुआ था, वह तो सीधे रूप से सम्बन्धित राजा की वासनात्मक क्षुधा एव साम्राज्य-विस्तार से जुडा था, ताकि अधिक से अधिक नारियों का उपभोग कर सुख प्राप्त करे और साम्राज्य-विस्तार इसलिए कि अधिक "कर" की प्राप्ति होगी, विलासिता के अधिक साधन सुलभ होंगे, समाज में प्रतिष्ठा बढेगी। जहाँ लोक में एक व्यक्ति एक से अधिक पत्नी इसलिए नहीं रखता है कि स्वय उसके पेट भरने की समस्या है तो उन्हें क्या खिला पायेगा, वहाँ राजाओं के यहाँ बीसियों रानियाँ हो सकती थीं। प्रजा, सेना राजा की इज्जत और इच्छा के लिए स्वय को स्वाहा कर देती। इसमे राजा की निर्दयता स्पष्ट परिलक्षित होती है। बाह्य रूप से भले यह कहा जाता रहा हो कि राजा प्रजा के लिए होता है, किन्तु जब गहराई में उतर कर जमी परतों की चीर-फाड करते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रजा राजा के लिए होती थी, जो उसकी रक्षा करती थी, उसके सुख भोग, विलासिता के साधन जुटाती, उसकी सुकुमारता को बनाए रखती। राजा की विशेषता तो यह थी कि वह कितनी चालाकी या चतुराई से सारी प्रजा को मूर्ख बना सकता था।

लोक-कथाओं में प्रेम वर्णन नितान्त स्वाभाविक है। कहीं भाई-बहिन का विशुद्ध प्रेम है, तो कहीं माता के साथ पुत्र पुत्री का अकृत्रिम वात्सल्य है। किस प्रकार मा अपने प्यारे पुत्र को प्राणों से भी अधिक प्यार करती गरीबी में अपने दिन काटते हुए भी अपने लाडले को कष्ट नहीं होने देती। पति-पत्नी, प्रेमी प्रेमिका का पुनीत दिव्य प्रेम भी यहाँ मिलता है तो प्रेम के कुत्सित रूप का भी वर्णन है, अत अश्लीलता का आना स्वाभाविक है। सौन्दर्य सदा आकर्षण का केन्द्र रहा। ऐसे अनेक राजा-राजकुमारों की कहानियाँ मिलती हैं जो वासना के भूखे भेडिये सदृश हैं। सुन्दर स्त्री को देख काम-ज्वर से पीडित हो जाते एव उस स्त्री का उपभोग कर शात होते हैं। नारी के सौन्दर्य-वासना के कारण इतिहास के पन्ने लोक के खून से रगे हुए हैं। कथासरित्सागर में ऐसी अनेक वासनात्मक प्रेम की कथाएँ मिलती हैं। स्त्री-पुरूष में ये प्रवृत्ति समान रूप से मिलती हैं। कामदेव से तो कोई भी बच नहीं पाया है—मनुष्य देवता, पशु-पक्षी।

प्रत्येक समाज में दो वर्ग रहे हैं। सदैव एक वर्ग ने दूसरे वर्ग का शक्ति, इज्जत, सम्पत्ति या धर्म के नाम पर शोषण किया है। धन के लिए तो भाई ने भाई का खून बहाया, धोखा दिया, चगुल में फसाया। एक तरफ तो यह कहना कि लोक-साहित्य आदिम ग्रामीण, अनपढ, गवार कृषक या निम्न वर्ग का साहित्य है और दूसरी तरफ यह कहना कि "लोक-कहानियों में जिस समाज का वर्णन है, वह सुखी है। इसमें न तो रोटी के लिए सघर्ष की आवाज सुनाई पडती और न मजदूर की वाणी।"[1] सुसगत नहीं लगता है। "लोक" का शोषण हुआ है। यदि विरोध का स्वर नही फूटा तो इसकी वजह यह है कि "लोक" को तथाकथित सरक्षक उच्चवर्ग ने उसे भाग्य की दुहाई देकर, पूर्वजन्म के कर्मों

1 लोक-साहित्य की भूमिका, पृ. 136

या फल कहकर या धर्माडम्बर के नाम से उसके चेतन विद्रोही स्वर को प्रस्फुटित होने से पूर्व ही कुचल दिया। लोक कथाओं में चेतना स्वर अवश्य मुखरित हुआ है। लोक प्रतिनिधि पात्र राजा सामंत या पूँजीपति के यहाँ दास दासी हैं सेवक हैं चौकीदार हैं या वासना के उपभोग की वस्तु "गोली" हैं जो दहेज में प्राप्त हुई है। यह सब तत्कालीन व्यवस्था के नाम शोषण ही तो है। इनके जीवन (शरीर) पर स्वामी का अधिकार है ये जीते हैं तो स्वामी के लिए मरते हैं तो स्वामी के लिए।

सामंतीय वातावरण में जो संस्कृत लोक कथा साहित्य पनपा और विकसित हुआ, इसको जन्म देने वाली आवश्यकता संभवत सामंतवाद की स्वार्थपूर्ण नीतियाँ रही, जिनके जंजाल में फँसकर "लोक" अपने विषय में न सोच सका और राजा, सामंत एवं धनाढ्य वर्ग की जीवन चर्या विलासिता एवं उसके तथाकथित शौर्य के गुणगान में ही डूबा रहा। तत्कालीन राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था की जालसाजी की वास्तविकता को न समझ सका और अपना जीवन स्वामी के सुख के लिए स्वाहा कर दिया। लोकोत्तर दैवी घटना एवं भाग्य में आस्था एवं विश्वास कर कर्म में लीन रहा। कहीं कहीं प्रसंगवश लोक से जुड़ी कथाएँ मिलती हैं जिनमें गृह युद्ध, दरिद्रता एवं पूँजीपति वर्ग के प्रति चेतना के स्वर के प्रस्फुटित होने के संकेत मिलते हैं। वर्ग संघर्ष की भावना कभी कभी दो भाइयों दो राजाओं के सैद्धांतिक मतभेद के रूप में प्रकट हुई है, जिसमें एक भाई या राजा लोक या शोषित वर्ग के साथ है तो दूसरा पूँजीपतियों अथवा शोषक वर्ग के साथ। दोनों का आधारभूत भेद सामाजिक एवं राजनैतिक उद्देश्य का भेद है।

चमत्कारपूर्ण कथाएँ दैनिक जीवन की यथार्थता से पूर्ण कथाएँ सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक व्यंग्यात्मक कथाए मिलती हैं। इन कथाओं की यथार्थवादी प्रवृत्ति तत्कालीन जीवन पद्धति की दैनिक यथार्थता का प्रतिबिम्ब हैं जादुई और चमत्कारपूर्ण कथाओं में लोक की आस्था विश्वास एवं अनुष्ठान लक्षित होते हैं। ऐसी अनेक कथाएँ आई हैं जिनमें व्यापारी समुद्री जहाज से विदेश यात्राएँ करते हैं। माल का आयात निर्यात करते हैं। स्पष्ट है कि जहाजों का चलाने वाले, उनकी सफाई करने वाले माल को जहाज पर चढ़ाने एवं एक जहाज से दूसरे जहाज पर चढ़ाने वाले भारवाह रहे होंगे और उनका शोषण भी होता रहा होगा। मजदूरों पर जो कठोर शारीरिक अत्याचार किया जाता था उसका कई कहानियों में वर्णन है।

संस्कृत लोक कथा में लोक के दूषित भाग पर प्रकाश डालकर कुरूपता पर व्यंग्य भी कसा जाता रहा है। कथासरित्सागर में इस प्रकार की कथाएँ मिलती हैं। मधुर विनोद के साथ सामाजिक आर्थिक राजनैतिक एवं धार्मिक प्रथा एवं असामनता पर व्यंग्य कसा गया है—किस प्रकार लोभी पाखंडी तपस्वी ब्राह्मण धर्म की आड में लोगों को ठगा करते किस प्रकार धूर्त जन भला आदमी बनने का ढोंग कर विभिन्न रूपों में लोगों को ठगते। दास प्रथा का प्रचलन था—कुछ दास दासी (माता से उत्पन्न होने से) जन्मना दास होते जिन्हें मजबूरन गुलाम बनाया जाता तो कुछ वशीभूत [illegible] गुलामी स्वीकार कर लेते [illegible] द्रव्य भुगतान कर गुलामी से मुक्ति [illegible] था। [illegible] का

प्रचलन अत्यधिक था। वेश्याओं के यहाँ पढ़ने भेजते ताकि व्यापार में वेश्या की भाँति धनार्जन कर सकें। कभी कोई वेश्या किसी से सच्चा प्रेम कर बैठती थीं, जिसे वेश्या व्यवसाय में गलत ठहराया जाता। संभव है धन कमाने के लिए उन्हें मजबूरन वेश्या बनाया जाता था। प्रायः वेश्या की बेटी वेश्या नहीं बनना चाहती, पर उसे मजबूरन वेश्या ही रखा जाता।

"लोककथा" लोक जीवन की जीवन्त पुनीत छवि है। लोक कथा में लोक के सामाजिक परिवेश के अन्तर्गत कौटुम्बिक सम्बन्ध, प्रेम, नारी-परतंत्रता, आचार विचार, शिक्षा रीति रिवाज एवं सामाजिक कुरीतियों का उल्लेख मिलता है। धार्मिक परिवेश के विषय में श्रीमती सावित्री वशिष्ठ लिखती हैं—"लोक जीवन पूर्णतया धर्म पर आधारित होता है। लोक जीवन का आचरण तथा जीवन दर्शन भी धर्म के अनुरूप होता है।"[1]

संस्कृत लोककथा साहित्य तत्कालीन संस्कृति का अपूर्व अद्भुत भण्डार है, जहाँ समाज के सभी वर्गों के जीवन के सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक, धार्मिक आदि समग्र पक्षों का वर्णन मिलता है। कथासरित्सागर के विषय में पं. केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने कहा है—"उसमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों राजाओं और नगरों, राजतंत्र और षडयंत्र जादू और टोने छल और कपट हत्या और युद्ध रक्तपायी वेताल पिशाच, यक्ष और प्रेत पशु पक्षियों की सच्ची और गढ़ी हुई कहानियाँ एवं भिखमंगे साधु पियक्कड़ जुआरी, वेश्या विट और कुट्टनी इन सभी की कहानियाँ एकत्र हो गयी हैं।"[2] संस्कृत लोक कथा साहित्य में लोक जीवन के धर्म, विश्वास देवी देवता पूजा, उपासना, व्रत, अनुष्ठान आस्था पारिवारिक जीवन, रीति रिवाज, खान पान, आचार व्यवहार, शिक्षा, नीति प्रेम, नारी जीविका के साधन व्यवसाय, आर्थिक स्थिति मुद्रा, शोषण, प्राकृतिक-विपदाओं और उसमें उसकी स्थिति राजनैतिक परिवेश में उसकी स्थिति राजा एवं लोक में अन्तःसम्बन्ध दिनचर्या आदि जीवन के समग्र पक्षों की जीवन्त छवि अभिव्यक्त हुई है। समाज के सभी वर्गों के जीवन का वर्णन होने से लोक एवं अन्य वर्गों के अन्तःसम्बन्ध एवं जीवन चर्या के विषय में जानकारी मिलती है।



1 ब्रज और हरियाणा के लोक साहित्य में चित्रित लोक-जीवन पृ. 8

2 क.स.सा. प्रथम खण्ड भूमिका पृ. 22

द्वितीय अध्याय

सामाजिक-जीवन

—वर्ण-व्यवस्था

—वर्ण-व्यवस्था एव लोक

—आश्रम-व्यवस्था

—पारिवारिक जीवन

—सस्कार

—प्रेम

—विवाह

—लोक जीवन मे नारी स्थान एव महत्त्व

—दास-दासी

—खान-पान

—रहन-सहन

—मनोविनोद

—शिक्षा एव कला

—लोक-विश्वास

—लोक एव उच्चवर्ग मे अन्त सम्बन्ध

1 वर्ण-व्यवस्था

यास्क ने "वर्ण" शब्द की सिद्धि "वर्णो वृणोते" कहकर "वृञ्" धातु से "जो अपने आश्रित को ढक लेता है।" अर्थ में की है।[1] पाणिनि ने धातुपाठ के चुरादिगण में वर्ण धातु के "वर्ण चूर्ण प्रेरण" और "वर्ण वर्णन इत्येके" ये दो अर्थ दिए हैं।[2] सस्कृत हिन्दी कोश में वर्ण की "वर्ण + घञ्" व्युत्पत्ति बताकर उसके सत्रह अर्थ दिए गए हैं।[3] यहाँ पर "वर्ण" शब्द भारतीय सस्कृति की विशेषता "चातुर्वर्ण्य व्यवस्था" के अर्थ में प्रयुक्त है। अत "वर्ण" का अर्थ "वरण करना" अर्थात् समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपनी इच्छा, कुशलता एव गुण के आधार पर कर्म का वरण करना है। ऋग्वैदिक काल से लेकर अद्यावधि यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था समाज में अपने किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। गुण कर्म स्वभाव की दृढ आधार-शिला पर आधारित वर्ण व्यवस्था कालान्तर में जन्म पर आधारित हो गयी।[4] ऋग्वेदकालीन समाज में वर्ण विभाग गुण एव कर्म पर आधारित था।[5] कालान्तर में धीरे धीरे "ग्यारहवी सदी तक वर्ण व्यवस्था का आधार गुण कर्म न रहकर जन्म रह गया।"[6] परन्तु लोक में कोई भी व्यक्ति कुल से नही, कर्म और गुण से बनता है[7], की मान्यता प्रचलित रही। जन्मना ब्राह्मण होने पर भी श्रीदत्त अस्त्र शस्त्र विद्याओं एव मल्लयुद्ध में अद्वितीय है।[8] कोई भी व्यक्ति वर्ण व्यवस्था की सीमा का उल्लघन नही करता अर्थात् समाज में सभी वर्गों के लोग अपनी मर्यादा का पालन करते हैं।[9]

---

1 निरुक्त, द्वितीय अध्याय पृ 71

2 धातुपाठ पाणिनि, पृ 47

3 (1) रग, रोगन (2) रोगन, रग (3) रग, रूप, सौन्दर्य (4) मनुष्य श्रेणी जनजाति या कबीला, (5) श्रेणी वश, जनजाति प्रकार, जाति जैसा (6) अक्षर, वर्ण ध्वनि (7) ख्याति, कीर्ति प्रसिद्धि, (8) प्रशसा (9) वेशभूषा सजावट, (10) बाहरी छवि, रूप आकृति (11) चादर, दुपट्टा (12) ढक्कन (13) विषय का क्रम (14) हाथी की झूल (15) गुण धर्म (16) धर्मानुष्ठान (17) अज्ञान राशि।

—सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 901 902

4 भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति, पृ 29

5 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासाद्बाहू राजन्य कृत।
ऊरूतदस्य यद्वैश्य पदभ्या शूद्रोऽजायत् ॥" ऋग्वेद 10 90 12

6 कथासरित्सागर एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ. 61

7 सिद्वा, पृ. 122

8 क.स.सा. 2.3 15

9 "अस्ति स्वरेखानुत्क्रान्तवर्णभेदव्यवस्थिति।" —वही 12.27 4

गुण कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य समाज में सुव्यवस्था एव उसकी उन्नति के लिए कार्यों का विभाजन किया गया। समाज की इस व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण के कार्य का अपना महत्व रहा। परन्तु ब्राह्मण क्षत्रिय एव वैश्य तीनो की दृष्टि में चतुर्थ वर्ण शूद्र हेय एव निम्न रहा है। शूद्र के लिए करने को कार्य तो बहुत हैं परन्तु अन्य वर्णों की भाँति सम्मान शक्ति एव सम्पत्ति जैसा उसके पास कुछ भी नहीं। शूद्र के जीवन में अन्य तीनो वर्णों की निर्लिप्त भाव से सेवा करना ही रहा है। गुण एव कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था के टूटने में सभवत ब्राह्मण एव क्षत्रिय की महती भूमिका रही होगी, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य ने कभी भी नहीं चाहा होगा कि उसकी सतान शूद्र कर्म करे। अत ब्राह्मण ने प्रतिष्ठा एव बुद्धि से शक्तिशाली क्षत्रिय को अपनी कठपुतली बनाये रखा। ब्राह्मण और क्षत्रिय ने मिलकर बिना श्रम किये वैश्य द्वारा उत्पादित धन से अपनी विलासिता के साधन जुटाए एव उनका उपभोग करता रहा तथा शूद्र को अपनी सेवा शुश्रुषा में लगाए रखा। परिणामस्वरूप वर्ण व्यवस्था छिन्न भिन्न हुई एव उसका स्थान जाति व्यवस्था ने लिया। ब्राह्मण की सतान ब्राह्मण, क्षत्रिय की सतान क्षत्रिय वैश्य की सतान वैश्य एव शूद्र की सतान शूद्र कही जाने लगी। धीरे धीरे समाज में विभिन्न जातियाँ कुकुरमुत्तों की तरह उग गईं। लगभग सारी जातियाँ सीधे रूप में जन्म से जुड गयी। कर्म के आधार पर भी जातियों का नामकरण हुआ। जैसे चमडे का कार्य करने वाला चमार (चर्मकार) स्वर्ण का काम करने वाला सुनार (स्वर्णकार) कहा जाने लगा। संस्कृत लोककथा साहित्य में शनै शनै वर्ण व्यवस्था के आधार गुण कर्म एव स्वभाव का स्थान जाति व्यवस्था लेती रही। अत तत्कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था के दो रूप देखने को मिलते हैं—

1 गुण कर्म पर आधारित एव 2 जन्मना अर्थात् जाति पर आधारित।

ब्राह्मण—

शास्त्रों में चार वर्णों के पृथक् पृथक् धर्म कर्म बतलाये गये हैं। ब्राह्मण के लिए अध्ययन अध्यापन यजन याजन दान और प्रतिग्रह सम्बन्धी कार्य निर्धारित किये गये। सामाजिक प्रतिष्ठा एव धर्म की दृष्टि से ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि रहा है।[1] कथासाहित्य में पूजा पाठ[2] अग्निहोत्र[3] यज्ञ[4] एव सस्कारों[5] के विधि विधान के कार्यों को सम्पादित करवाने का उत्तरदायित्व ब्राह्मण एव पुरोहित पर रहा है। ब्राह्मण अत्यत धनवान एव वेदज्ञ भी हैं।[6] वे ज्योतिष का कार्य भी करते हैं विशिष्ट अवसरों पर लोग भी ब्राह्मण से शुभ अशुभ मुहूर्त पूछकर ही कार्य का आरम्भ करते हैं। राजा भी राजनैतिक एव निजी कार्यों के विषय में ब्राह्मणों से पहले राय जान लेते थे। लोकहित को ध्यान में रखकर कभी कभी ब्राह्मणों के राजा से झूठ बोलने का उल्लेख हुआ है।[7]

---

1 मनुस्मृति 1 92 93 96
2 मि.द. पृ 11
3 क स सा 12 10 5
4 वही 19 1 21 22, 12 20 34
5 बृ.क.श्लो. 6 8
6 वही 5 76 क.स.सा. 12.30 8 12.5 205
7 क.स.सा. 3 1 69–70

समाज में ब्राह्मणों का बहुत सम्मान रहा है ।[1] वे यज्ञोपवित धारण करते हैं ।[2] निर्धन होने पर भी ब्राह्मण को देवता एव पूजनीय माना जाता रहा है ।[3] एक असहाय दरिद्र ब्राह्मणी के जुडवा बच्चों सहित राज द्वार पर उपस्थित होने पर राजा उसके आवास एव भोजन की समुचित व्यवस्था करवाता है। अन्तपुर में दासियों के द्वारा उसके स्नान, नवीन वस्त्र एव भोजन आदि की व्यवस्था की जाती है ।[4] ब्रह्म (ब्राह्मण) हत्या जघन्य पाप समझा जाता है ।[5] समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त होने पर भी एक निर्धन ब्राह्मण दुर्दशाग्रस्त होकर जगल से लकडी लाने का कार्य तक करता है। कुल्हाडे से फाडी जाती हुई लकडी का एक टुकडा उसकी जाघ के भीतर घुस जाने एव घाव के नाडी-व्रण हो जाने से खिन्न वह ब्राह्मण मरने तक को उद्यत हो जाता है ।[6] जहाँ एक ओर ब्राह्मण मत्री, सचिव, विदूषक कञ्चुकी के रूप में राजा (क्षत्रिय) के यहाँ रहकर मनोरजन परक एव नीतिपरक कथाएँ सुनाने का कार्य करता है ।[7] वही दूसरी ओर नगर के सेठ के लडके लडकियो के लिए योग्य वधू-वर की खोज भी ब्राह्मण ही करते हैं ।[8] राजा ब्राह्मणों को स्वर्ण-मुद्राएँ[9] एव ग्राम (अग्रहार) दान में देते हैं ।[10] अत ब्राह्मण-राजपुरोहित भेंट के लोभ में फसकर अनुचित बातों का समर्थन करने लगे एव उनके लिए भेंट-उपहार आदि एकमात्र आकर्षक पदार्थ बनकर रह गये थे ।[11] बिना परिश्रम से प्राप्त राजवृत्ति की आय मे मदोन्मत्त मठवासी ब्राह्मण अपनी अपनी प्रधानता चाहते हुए परस्पर लडते झगडते थे। दुष्ट ग्रहों के सदृश समूह बनाकर गाँवों के कार्यों में बाधा पहुँचाते थे ।[12] धनी ब्राह्मण-पुत्र के युवावस्था में विद्वान होते हुए भी जुए के व्यसन में पड जाने का उल्लेख है ।[13]

ब्राह्मण दान दाता की ख्याति सुनकर दान प्राप्ति हेतु उसके पास पहुँच जाते थे ।[14] दान प्राप्ति की लालसा में अविवेक से अध-बुद्धि वाले दुष्ट पुत्रक के सम्बन्धी (पितर)

---

1 क स सा, 12.20 3
2 वही 12 19 30
3 सिद, पृ 33, कससा 12 16 73, बृक श्लो 5 81-82
4 कससा 4 1 41 51
5 वही 6 8 75 18 2 206-207
6 वही 6.2.156-161, सिद, पृ.30
7 कससा, 6 2 96
8 सिद, पृ 91
9 कससा 7 1 24-25
10 वही 12.29 4-6
11 सोऽप्युपानलोभात्तच्छद्धे कल्पितायतिः ।
उपप्रदान लिप्सूनामेक ह्याकर्षणौषधम् ॥ वही 5.1.119
12 काले गच्छति चान्ये ते सर्वे प्राधान्यमिच्छव ।
नैव त गणयामासुर्द्विजा धनमदोद्धता ॥ 129
विभिन्नै सप्तमख्याकैरेकस्थानाश्रयैर्मिथ
सघर्षातैरबाध्यन्त ग्रामा दुष्टैर्ग्रहैरिव ॥ 130 —वही 3 4 129 130
13 वही 5.3 196
14 वही 1.3.36

ब्राह्मण उससे अतुल सम्पत्ति प्राप्त कर आनन्द का उपभोग करते हुए भी उसे विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन के बहाने, सोना लेकर मंदिर में नियुक्त किये गये वधिकों को अमूल्य हीरो-जवाहरात के आभूषण देकर बच निकलता है। उसे अब किसी पर विश्वास नहीं रहा। वह सोचता है कि 'वेश्याएँ ठगने में लगी रहती हैं। ब्राह्मण मेरे पितरों के समान विश्वासघाती और लोभी हैं, बनिये धन के लोभी होते ही हैं। अतः मैं किसके घर पर निवास करूँ।"[1] ब्राह्मण इतने लोभी हो चुके थे कि एक ब्राह्मण तो रनिवास से रानी से स्वस्तिवाचन हेतु दासी के द्वारा बुलाए जाने पर दक्षिणा के लोभ में अपने शिशु की रक्षा के लिए पालतू नेवले को रखकर चला जाता है।[2] वेद पाठी ब्राह्मण भय, कठोरता एवं क्रोध के घर बन गये थे।[3] पुजारी दक्षिणा के लोभ में असमय मंदिर खोलने लगे थे।[4]

इस प्रकार "सांस्कृतिक जीवन के केन्द्र बिन्दु सामाजिक मूल्यों के प्रतिष्ठापक एवं धार्मिक धरोहर के सजग प्रहरी ब्राह्मणों के सम्बन्ध में कथासरित्सागर में वर्णित विप्रवर सोमदेव की तीखी व्यंग्यात्मक उक्तियाँ पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। हो सकता है चरित्र में दुर्बल, पथभ्रष्ट ब्राह्मणों की संख्या थोड़ी ही रही हो किन्तु वे थोड़े ही लोग समस्त ब्राह्मण समाज के कलंक बन गये थे।[5] ब्राह्मण अपने वास्तविक निर्धारित कर्त्तव्यों से विरत होकर अपनी जीविका निर्वाह हेतु परम्परित अध्ययन यज्ञ ज्योतिष अग्निहोत्र आदि कर्मों के अतिरिक्त व्यापार, युद्ध नौकरी आदि कर्म समय की आवश्यकता एवं आर्थिक दृष्टिकोण से करने को विवश हुए।[6] एक स्थान से दूसरे स्थान में नौकरी की तलाश में भटकते थे।[7] दीनावस्था में भिक्षावृत्ति से एवं माँस भक्षण से भूख मिटाकर जीवन निर्वाह करते थे।[8] "ब्राह्मण ने चाहे जो भी व्यवसाय अपनी आजीविका के लिए अपनाये हो किन्तु उनका समाज में स्थान प्रमुख तथा सर्वोपरि था।"[9] मध्यकाल में अत्यधिक संख्या में ब्राह्मण उच्च सेवा में पदासीन थे। यह उनका एक नियमित (स्थायी) व्यवसाय बन चुका था।[10] ब्राह्मण वर्णेत्तर कन्या से विवाह कर सकते थे। राजा आदित्यसेन ब्राह्मण

1 वञ्चनप्रवणा वेश्या द्विजा मत्पितरो यथा।
वणिजो धनतृष्णाश्च कस्य गेहे वसाम्यहम्॥ 54 —क.स.सा. 13.7.54

2 वही 10.8.4.7

3 वही 3.4.109

4 तत्रैत्य दक्षिणालोभादेतस्या एव पुत्रक।
ददौ प्रवेशमुद्घाटय द्वारमुक्त्वा पुराधिपम्॥ —वही 25.1.73

5 क.स.सा. एक सांस्कृ. अध्ययन पृ 67

6 "क्षेमेन्द्र के समय तक कश्मीर में कुछ ब्राह्मण अपने वास्तविक कर्त्तव्यों से विरक्त हो गये थे। वे अपनी जीविका का निर्वाह व्यापार या दूध, लाख, नमक आदि बेचकर तथा नौकरी द्वारा करते थे। क्षेमेन्द्र: एक सामाजिक अध्ययन पृ 80-81

7 क.स.सा. 12.11.8

8 वही 17.1.89.102

9 क.स.सा. तथा भा. संस्कृति पृ 67

10 But the large number of Brahmanas appointed in the Royal Service in the medieval period suggests in some cases that it had become one of their regular professions. cultural life of India as shown from Somadeva p.18

विदूषक को अपनी पुत्री देता है और वह विदूषक राजा बन जाता है।[1] ब्राह्मणों म एकाधिक विवाह का प्रचलन था। रुद्रशर्मा ब्राह्मण के दो पत्नियाँ हैं।[2] आर्थिक क्षमता के बल पर ही कोई एक से अधिक पत्नियाँ रखता था। अग्निदत्त गुणशर्मा ब्राह्मण से कहता है कि "पति के धनवान होने पर हा सौतें होती है। दरिद्र ता एक स्त्री का भरण पोषण भी कष्ट से करता है बहुत सी स्त्रियों की तो बात ही क्या ?"[3]

इस प्रकार ब्राह्मणों का एक वर्ग राज सेवा में सलग्न अत्यधिक दक्षिणाएँ प्राप्त कर ऐश्वर्य सम्पन्न सुखमय जीवन जी रहा था और उसकी तृष्णा दिन प्रतिदिन बढती जा रही थी तथा दूसरा एक ऐसा वर्ग भी था जो अभावों में जी रहा था जिसके पास रहने को घर नही था, अनाथ दीनावस्था में आजीविका की तलाश में भटक रहा था या भिक्षा मागकर जीवन यापन कर रहा था।

क्षत्रिय—

"भनात् त्रायते इति क्षत्रिय" अर्थात् विनाश से बचाने वाले को क्षत्रिय कहते हैं। "बाहू राजन्यकृत"[4] एव "ब्रह्मवै ब्राह्मण क्षत्र राजन्य"[5] के आधार पर समाज में ब्राह्मण क बाद क्षत्रिय द्वितीय स्थान पर थे। प्राचीनकाल से ही क्षत्रिय उन्हें कहा जाता रहा है जो शूर पराक्रमी हों तथा प्रजा का रक्षण एव दुष्टों का दमन करने में समर्थ हों। मनुस्मृति म प्रजा की रक्षा करना, वेद पढना दान देना, यज्ञ करना आदि क्षत्रिय के कर्म कहे गये हैं।[6] सस्कृतलोककथा में क्षत्रिय क विषय में कहा गया है कि "जो सज्जनों की रक्षा करने म समर्थ है वही क्षत्रिय है।"[7] एव "शस्त्र हि भीतरक्षार्थं धात्रा क्षत्रस्य निर्मितम्"[8] अर्थात् विधाता ने डरे हुए की रक्षा के लिए क्षत्रिय के शस्त्र का निर्माण किया है। वरन् "क्षत्रिय" एव शस्त्र (कार्मुक) दोनों शब्द अर्थशून्य जातिमात्र के बोधक ही है।[9] "कथासरित्सागर तो क्षत्रिय राजाओं के चरित्र का अजायबघर है।"[10] ब्राह्मण तथा क्षत्रिय का क्रमश क्षमा एव सकट मे रक्षा करना कर्त्तव्य बताये गये हैं।[11] अधिकाधिक देशों पर विजय प्राप्त करना क्षत्रिय का धर्म है, शत्रु का पीठ दिखाना नहीं। क्षत्रिय का धर्म यह नही है कि वह

---

1 क स सा 3 4 403
2 वही 2 6 36
3 सपत्न्यो हि भजन्तीह प्राय श्रीमति भर्तरि।
दरिद्रो बिभृयादेकामपि कष्ट कुतो बहू ॥ वही 8 6 208
4 ऋग्वेद, 10 90 12
5 तैत्तरीय ब्राह्मण, 3 9 14
6 प्रजाना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च, मनुस्मृति 1 89
याज्ञवल्क्यस्मृति 5 118 119, कौ. अर्थशास्त्रम्—1.3 6
7 शुक षड्विंशतिल्पीकथा, पृ 138
8 क स सा 12.27 39-40
9 शुक षड्विंशतिसप्तकथा, पृ. 138
10 क स सा एक सास्कृ. अध्ययन, पृ. 68
11 "ब्राह्म शील क्षमा नाम क्षात्रमापन्न रक्षणम्" —क.स.सा. 10 10 16

विजय की इच्छा न कर।[1] अत ऐरावती नामक नगरी के परित्यागसन नामक राजा के पुत्र इन्दीवरसेन तथा अनिच्छामेन दोनों राजकुमार दिग्विजय की इच्छा से अपने पिता से कहते हैं कि "महाराज ! हम लोग अस्त्र शस्त्र विद्या मे शिक्षित हो गये और युवावस्था को प्राप्त हो गये, तो हम इन निष्फल भुजाओं को लेकर व्यर्थ क्या बैठ ? विजय की इच्छा न रखने वाले क्षत्रिय की भुजाओं को और उनके यौवन का धिक्कार है।[2]

"कतिपय ऐसे उद्धरण भी सुलभ हैं जिनके अनुसार क्षत्रियों ने शास्त्रोक्त व्यवसायों के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय का जीविकोपाजन हेतु अपनाया। क्षत्रिय को क्षात्र कर्म के अन्तर्गत दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग म राजा सामत उनके सबधी तथा विशिष्ट राजपुरुष आते थे जिनका तत्कालीन समाज में प्रमुख स्थान था। दूसरा वर्ग सैनिकों तथा योद्धाओं का था। राज्य की सुरक्षा हेतु सेवा में इनकी नियुक्ति होती थी।"[3] श्रीवस्ती नगरी में एक क्षत्रिय रहता है जो स्वय गाव का स्वामी होते हुए भी राजा का सेवक है।[4] क्षत्रिय पुत्र गुरू गृह में रहकर विद्या अध्ययन, वेदाध्ययन करते थे।[5] क्षत्रिय (राजा) ब्राह्मणों पुरोहितों को भूमि स्वण गज अश्व गाँव आदि दान में देते थे। परन्तु क्षत्रिय दान ले नही सकता था— "अह ददामि विप्रोऽय गृह्णातीत्युचिता विधि। विपरीतमिद गृह्णामि अहमेष ददाति यत्।"[6]

इस प्रकार सस्कृत लोककथा साहित्य के समाज म क्षत्रिय के वही सारे कर्तव्य बताये गये हैं जो प्राचीनकाल में धमशास्त्रीय ग्रथों में बताये गये हैं। परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से देखें तो कथासाहित्य का क्षत्रिय अपने कर्तव्यों को भूलकर विलासिता के पक में आकठ डूब चुका है। उसके जीवन के सुरा और सुन्दरी दो ही विषय रह गये हैं। राजा इनकी प्राप्ति में राजकीय कर्तव्यों को भूल गया है। अत राज्य के समस्त कार्य मत्री एव भृत्य वर्ग कर रहा है। राजा एव सामत के पास सम्पत्ति सम्मान एव शक्ति तीनो हैं अत उन्हें विलासिता के साधन समुपलब्ध है।

---

1 तात न क्षत्रियस्यैव धर्मो यन्जिगीषुता।
तदाज्ञा देहि मे यावद्दिग्जयाय व्रजाम्यहम्॥ वही —क स सा 10 3 70

2 अस्त्रेषु शिक्षितौ तावत्तावत्सम्प्राप्तयौवनौ।
तद्भुजाविफलावेतावत्रभ्नौ कथमास्वहे॥ 79
क्षत्रियस्याजिगीषस्य धिग्बाहू धिक्च यौवनम्
अतोऽनुजानाह्यधुना तात दिग्विजयाय नौ। 80 —वही 7 8 79-80

3 क स सा तथा भा स, पृ 74
सभवत ग्यारहवीं शताब्दी में क्षत्रियों में दो प्रमुख वर्ग हो गये थे – (1) जो प्रशासन के उच्च पदों पर थे तथा (2) सैनिक जो अन्यवृत्ति पर अपनी आजीविका चलाते थे।
क्षमेन्द्र—एक सामाजिक अध्ययन, पृ 83

4 क स सा 16.1 24 10 9.24

5 वही 13 1.24 25

6 वही, 8 2.102

वैश्य

प्राचीनकाल में पशुओं की रक्षा करना, दान सेवा, यज्ञ करना, वेद पढना, ब्याज लेना और खेती करना, ये सात कर्म वैश्य के बताये गये हैं।[1] ग्यारहवी सदी मे वैश्य मुख्यत व्यापारी बन गये थे। वे व्यापार-कला में निपुण थे। सुप्रतिष्ठित नाम नगर में बनिये अपनी अपनी व्यापार कला में चातुर्य का बखान कर रहे हैं।[2] वणिक्-पुत्र के लिए व्यापार (वाणिज्य) करना बताया गया है—"वणिक् पुत्रोऽसितत् पुत्र वाणिज्य कुरू साम्प्रतम्।"[3] धन हीन वैश्य की समाज में प्रतिष्ठा नही है। उसे त्याज्य समझा जाता है। धनवान ही विद्वान दाता, सज्जन, गुणियों में श्रेष्ठ तथा सभी का बन्धु एव पूज्य है, धनहीन, मलिन एव निष्प्रभ है।[4] वैश्य पुत्र को पिता द्वारा अर्जित विपुल लक्ष्मी प्राप्त होने पर भी सतोष नही होता है।[5] "उनके व्यवसाय के आधार पर स्थानीय व्यापार, पर्यटक व्यापारी, दीपान्तर यात्रा करने वाले व्यापारी, धर्मों टो करने वाले व्यापारी इत्यादि वर्गों में उन्हें बाटा जा सकता है"[6] स्थानीय व्यापारी धनी होने पर कृपण एव दुस्वभाव वाले हैं तथा आम पास के गाँवों में जाकर व्यापार करते हैं, ऋण की वसूली करते हैं।[7] दीपान्तर यात्रा करने वाले व्यापारी अत्यधिक धन कमाने की लालसा में समुद्र-मार्गों से जहाजों द्वारा रत्नादि का व्यापार करते हैं। बहुत सी बार माल से भरे जहाज समुद्र में तूफान मे नष्ट हो जाते डूब जाते थे। पर्यटक व्यपारियों को मार्ग में देवी-विपदाओं एव जगली लुटेरो का भय रहता था।[8]

वैश्यों में धन सचय प्रवृति की जडे जम चुकी थी। ये इतने कजूस थे कि धन ही इनका दूसरा प्राण था।[9] यहाँ तक कि एक अर्थ-लोभी वणिक् ने अपनी स्त्री को धन के लालच में चीनदेश के एक व्यापारी को दे दिया।[10] ये लकडियाँ[11] अगरू[12] आदि का भी व्यापार किया करते थे। लिपि एव गणित का सामान्य ज्ञान वैश्य के लिए आवश्यक था।[13] क्योंकि व्यापार में क्रय-विक्रय आयात-निर्यात का हिसाब बही में लिखा जाता

---

1 मनुस्मृति 1 90 कौ. अर्थशास्त्रम् 1.37

2 "अन्यान्य निजवाणिज्यकलाकौशलवादिनाम्।" —क.स.सा. 1 6 27

3 वही 1 6.33

4 विद्वान्धनी धनी दाता धनी साधुर्गुणाग्रणी ।
सर्वबन्धुर्धनी पूज्यो धनहीनो गतप्रभ ॥ —शुक. एकोनचत्वारिंशत्तमीकथा, पृ 166-168

5 क.स.सा. 11 1.36 39

6 क.स.सा. तथा भा. स., पृ 80

7 शुक., पृ 223 224

8 क.स.सा. 9 4 124

9 "कदर्याणा पुरे प्राणा प्रायेण ह्यर्थसचया।" —वही 3 4.387

10 वही 7 9 69 75

11 वही 1 6 43

12 वही 10.5 4

13 "क्रमेण शिक्षितश्चाह लिपि गणितमेव च ॥ —वही 1 6.32

था।[1] मूल्य के सम्बन्ध में क्रय विक्रय से पूर्व ही सलाह कर ली जाती थी।[2] क्षत्रिय (राजा राजकुमार) वैश्य कन्याओं से विवाह कर सकते थे।[3] संस्कृत लोककथा के समाज में वैश्य ने शूद्र ब्राह्मण एवं क्षत्रिय वर्गों के कर्मों को कभी नहीं अपनाया।[4] वैश्य को वणिक भी कहा गया है। गृहपति (जमादार) आदि के यहाँ खेती होती थी। वे हलवाहा आदि सेवक रखते थे जो खेती का कार्य करते थे।[5]

वैश्य के चरित्र का मुख्य दोष लालच है। अतः वे कार्य एवं अकार्य को भूल चुके हैं। व्यापारी क्रय विक्रय एवं माल जमा करने एवं ब्याज के बहाने लोगों को लूटते हैं। यह कहा जा सकता है कि धन ही वैश्य का प्राण है। ऐश्वर्य सम्पन्न होने से वैश्य समाज में प्रतिष्ठित एवं तीसरे स्थान पर रहे।

शूद्र

"पद्भ्याम् शूद्रोऽजायत्" से तात्पर्य समाज में शूद्र का स्थान निम्न है। मनुस्मृति में शूद्र का कर्तव्य अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना कहा गया है।[6] समाज में शूद्र निम्न एवं हेय समझे जाते रहे हैं। अन्य वर्णों के लोग शूद्र के साथ उठना बैठना तक उचित नहीं मानते हैं। सोमदत्त ब्राह्मण को शूद्र के साथ गोष्ठी में बैठे हुए देखकर उसके पिता का मित्र डाँटता हुआ कहता है—अग्निदत्त के पुत्र होकर शूद्रों से व्यवहार करते हो।[7] शूद्र निर्धारित सामाजिक परम्परा में जीवन जी रहे हैं। शूद्र के विषय में न तो यह कहा जा सकता है कि इस वर्ण के निश्चित अधिकार एवं कर्तव्य हैं न ही यह कहा जा सकता है कि यह कर्म या जाति से शूद्र है। "शूद्र" में अनेक जातियाँ आती हैं। भाट अपने पुश्तैनी पेशा लोगों का गुण गान कर उससे प्राप्त धन से[8] नीची जाति के आदमी सूत कातकर एवं बेचकर[9] माली फूल बेचकर[10] धोबी गधे पर बोझ लादने में[11] शूद्र (जुलाहा) कपड़े बुनकर एवं उन्हें बेचकर[12] खटीक बकरे बकरों का क्रय विक्रय कर[13] चमार चमड़े

1 क स सा 16 38 30
2 बृ क श्लो 18 329
3 क स सा 4 1 58
4 we do not find theme adopting the profes ion of sudras or serving the Brahmans or ksatriyas
–Cultural life of India as known from Somadeva p 27 30
5 शुक सप्तशतिकथा पृ 161 163
6 एकमेव तु शूद्रस्य प्रभु कर्मसमादिशत् एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ।। मनु 1 9
7 क स सा 3 6 12
8 सिं द्वा पृ 127 131 क स सा 18 3 103 18 3 73 74
9 शुक पृ 235 237
10 वही पृ 151 153 क स सा 12 14 63-64
11 क स सा 10 7 132 133
12 वही 9 2 97 104
13 वही 12 4 273

के व्यापार से[1], निर्धन शबर साँप पालकर एव खेल दिखाकर[2] धीवर जाल से[3] तथा कुम्भकार[4] नट[5] नाई[6] गडरिये (चरवाहे)[7] जल्लाद[8] हलवाहा (हल चलाने वाला)[9] वर्णसकर जाति के दास तथा सार्थ[10] भारवाहक[11] भिभुक[12] झाडू-बुहारी करने वाले परिचारक[13] भाल[14] आदि जातियों के लोग निर्धारित कर्म करते हुए अपनी जीविका कमा रहे हैं। इस प्रकार "शूद्रों की एक जाति विशेष नही, बल्कि एक वर्ग था। क्षेमेन्द्र ने पेशे से सम्बन्धित जिन लोगों का वर्णन किया है, उनमें निम्नलिखित सम्भवत शूद्र थे, जैसे कुम्भकार, लोहार, बुनकर, नाई, मल्लाह, बढइ आदि।[15]

परन्तु कथा साहित्य में उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त अन्य कई जातियों के लोग मिलते हैं। उन्हें भी शूद्र के अन्तर्गत ही परिगणित किया जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य के पास शक्ति सम्पति है एव समाज में इनकी प्रतिष्ठा भी है परन्तु इन तीनों वर्णों के अतिरिक्त जितनी भी जातियों के लोग हैं उनके कार्य समाज में निम्न एव हेय दृष्टि से देखे जाते हैं उनके पास न जीविका के साधन हैं, न शक्ति है एव न ही उन्हें समाज में सम्मान ही प्राप्त है। ये लोग तो समाज के उच्च तीनों वर्णों द्वारा निर्धारित सामाजिक परम्परा के प्रवाह में जीवन-यापन कर रहे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य बुद्धि-चातुर्य से अपने स्वार्थ एव अपनी सेवा के लिए शूद्र का उपयोग कर रहे हैं। यहाँ तक कि उच्च वर्गीय व्यक्ति जब किसी सुन्दर चण्डाल (निम्न वर्ग) कन्या के प्रति आकृष्ट हो जाता है तो "पूर्वजन्म में वह अवश्य कुलीन रही होगी।" इस प्रकार की उक्तियों से समाधान ढूढ कर विवाह कर लेता है।[16] परन्तु शूद्र को यह अधिकार प्राप्त नही है।

इस प्रकार समाज व्यवस्था के नाम से उच्च तीनों वर्ण शूद्र का स्वार्थ सिद्धि के लिए शोषण कर रहे थे। शूद्र पूर्व जन्म के कर्मों का फल, भाग्य एव अन्य विश्वासों में आस्था रखकर उच्च वर्ग की सेवा में सासे ले रहा था।

---

1 शुक द्विपञ्चाशत्तमीकथा पृ 216-217, बृकश्लो 3.24 25
2 कसमा 2 1 76
3 वही 12 2 139
4 बृकश्लो 12 162 165 सि द्रा, पृ 6-7
5 बृकश्लो 2.30
6 वही 18.355 359
7 सि द्रा, पृ 6-7
8 वही पृ 27
9 शुक सप्तत्रिंशत्तमीकथा, पृ 161 163
10 बृकश्लो 22 3
11 कसमा 3 4 41
12 सिद्रा, पृ 27
13 बृकश्लो 16 8 13
14 कसमा 18 4 48 51 12 35 42 6 4 54 55
15 क्षेमेन्द्र एक सामाजिक अध्ययन, पृ 85
16 "मन्य न मातङ्गसुता सा न्विया कापि निश्चितम्।" —कसमा 16.2 82

2. वर्ण व्यवस्था एव लोक

संस्कृत लोककथा साहित्य के समाज में जहाँ एक ओर वर्ण व्यवस्था का प्रचलन रहा है, वही कुछ ऐसी जातियाँ भी हैं जिन्हें वर्ण व्यवस्था के अतिरिक्त वर्ग के रूप में स्वीकार किया गया है। "कथासरित्सागर के समाज में शूद्र के अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग था जो आर्यों की वर्ण व्यवस्था के बाहर था। अल्बेरूनी ने उसे अन्त्यज कहा है।"[1] इन्हें शूद्र से भी निम्न माना जाता था। ये समाज से बाहर रहते हुए भी विभिन्न प्रकार से समाज की सेवा करते थे। सम्भवत ये लोक जातियाँ रही होंगी, जो नगर से बाहर जगल में रहा करती थी। इन्ही को परवर्तीकाल में आदिवासी कहा गया हो। इन जातियों के अपने कबीले होते थे जो अपनी पैतृक परम्परा में जीवन यापन कर रहे थे। "लोक" का एक और भाग भी था जो नगर एव ग्राम में शूद्र के रूप मे जाना जाने वाला तथा उच्च वर्णों का होते हुए भी अपने ही वर्ण के सम्मानित शक्तिशाली एव धनवान लोगों के उत्पीडन का शिकार हो रहा था। यह उत्पीडित वर्ग नगर या ग्राम में या नगर ग्राम से बाहर जगल में रहता था तथा उच्च वर्ग के द्वारा दिखाय गये भाग्य या पूर्वजन्म के कर्मों के फल में फसकर परम्परा में जी रहा था। सभवत इसी "लोक" को निम्न असभ्य जगली तथा अन्त्यज कहा जाता रहा होगा।[2] चाहे वह किसी भी जाति धर्म वर्ण या लिङ्ग का रहा हो, नगर या नगर से बाहर कही भी रहता रहा हो।

शबर जाति के लोग बस्ती बनाकर कबीले के रूप में जगल में रहा करते थे।[3] कबीले का कोई शबराधीश भी होता था।[4] ये शबर लोग आखेट करके एव साँपों को पकडकर मनोरजन हेतु उनका प्रदर्शन कर अपनी जीविका चलाते थे।[5] पुलिन्द भी जगल में निवास करने वाली जाति थी।[6] देवी दुर्गा के प्रति इनकी अनन्य भक्ति थी। उसे प्रसन्न करने हेतु उसके सामने बलि चढाते थे। कथासरित्सागर में नर बलि का उल्लेख मिलता है।[7] भील भी जगल में रहने वाली एक ऐसी जाति थी जो पुलिन्दों की भाँति देवी चण्डी की आराधक थी।[8] नापित क्षौर कर्म करते थे।[9] ये धूर्त एव अत्यन्त चतुर

---

1 क.स.सा. तथा भास पृ 91
2 कथासरित्सागर में निम्न कोटि, असभ्य एव जगली तथा अन्त्यज जातियों का उल्लेख हुआ है। वही पृ 92
3 क स सा 6.6.57
4 वही, 4.2.20
5 वही 2.2.74-76
6 वही 2.4.45
7 वही, 2.2.64
8 वही, 9.1.164-165
9 वही, 6.6.135

होते थे।[1] "चाण्डाल का कर्म करने वाली नीच जाति को डोम कहा जाता था।"[2] ये चोरी करते थे।[3] कुम्भकार (कुम्हार) मिट्टी के सुन्दर एव मजबूत बर्तन बनाने वाली जाति थी।[4] चरवाहे गडरिये भैस बकरी गाय आदि पशु चराते थे।[5] जुलाहे वस्त्र बुनन का कार्य करते थ।[6] बजारा जाति क लोग बैल आदि पर माल लादकर व्यापार किया करते थे।[7] *शूद्र का अन्न न खाने वाला श्रेष्ठ एव पवित्र माना जाता था।*[8] भाट अपने पुश्तैनी पेशे में लोगों का गुणगान करते थे।[9] धीवर मछली पकडने का व्यवसाय करते थे।[10] चाण्डाल वध का कार्य करते थे।[11] माली बगीचे की देखभाल एव पुष्प प्रसाधन से सम्बन्धित कार्य करते थे, उन्हें मालाकार भी कहा गया है।[12] लकडी का कार्य करने वाली बढई जाति थी।[13] चमर (चर्मकार) चमडे का कार्य करते थे।[14] इस प्रकार चमकार, कुम्भकार, मालाकार जुलाहा, खटीक, वढई, अहीर, ग्वाला, गडरिया, पुलिन्द, भील, किरात, शबर, चाण्डाल धीवर, धोबी नाई डोम्ब आदि अनेक जातियाँ ग्राम नगर में एव बाहर रहकर समाज सेवा करते हुए परम्परानुसार जीवन निर्वाह कर रही थी।

ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य जाति के लोग भी दीन एव अनाथ-अवस्था में इतर कर्मों को करने को विवश हुए थे। समाज में सुव्यवस्था के लिए वर्ण-व्यवस्था का जो आधार "कर्म' था, उसका स्थान अब तक जाति (जन्म) ले चुकी थी। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य में भी वग भेद उत्पन्न हो चुका था। ब्राह्मण दान के लालच म फँसकर ब्राह्मण का ही अहित करने लग थे। यहाँ तक कि अपने सगे-सम्बन्धियों का वध करने से भी नही चूकते थे।[15] वही दूसरी ओर ब्राह्मण अनाथ होकर दरिद्रावस्था में दर-दर भटक रहे थे। भिक्षा माँगकर जीविका चला रहे थे।[16] समाज क मार्ग दर्शक तथा शिक्षा एव ज्ञान के धनी होते हुए भी वे समाज के लिए कलक बन चुके थे। वीर एव धनी ब्राह्मण के उल्लेख भी मिलते हैं।[17]

---

1 क स सा 6 6 136 141
2 क स मा तथा भा.स पृ 94
3 क स सा 2.5 95 98
4 वही 4 1.35 सि, द्वा, पृ 6-7
5 सिं, द्वा, पृ 6-7 बृ क. श्लो 20 230 260
6 क स सा .2 16 22 25
7 शुक सप्तदशाकथा पृ 94 96
8 क स सा 6 7 134
9 सिं, द्वा, पृ 129 131
10 क स मा 9 2 323
11 वही 6 1 103
12 वही 7 4 85
13 वही 1 7.26
14 शुक पञ्चपञ्चाशत्तमाकथा पृ 121
15 क स मा 10.3 36-43
16 वही 1 2 47-49 17 1 83 135 4 1 41-43 6 2 156-161
17 वही 12 7 72 8 6 8 27.28 2.2.15

छल कपट से ब्राह्मण निम्न वर्ग के लोगों का स्व हित में उपयोग करने लगे थे। शुकसप्तति में श्रीधर नामक एक ब्राह्मण चन्दन नामक चमार से एक जोडी जूता बनवाता है। जूते के मूल्य के बदले मे ब्राह्मण चमार से कहता है कि एक दिन तुम्हें प्रसन्नचित्त कर दूँगा। एक दिन उस चमार ने ब्राह्मण को पकड़ लिया और जूते का मूल्य माँगने लगा तो ब्राह्मण ने कहा—'मैंने पहले ही कहा था कि तुम्हें प्रसन्नचित्त कर दूंगा। तो कहो, गाँव के मुखिया के घर उत्पन्न हुए पुत्र से तुम प्रसन्न हो या नही। मुखिया से लोग डरते थे। अत यदि कहे कि नही तो दण्ड का पात्र बनता अन्यथा धन जाता। अत दण्ड के डर से उसने कहा—"मैं प्रसन्न हूँ। इस प्रकार ब्राह्मण ने चालाकी से चमार को ठगा।[1] धनी चालाक ब्राह्मण अत्यधिक दान प्राप्त कर सुखमय जीवन बिता रहे थे। क्षत्रिय राजा अलकृत स्त्रियों, उत्तम घोडे, जुते रथो व सुन्दर भवनों का आनन्द लेते हुए भोग विलास में डूबे थे। वहीं सैन्य दल बल एव भृत्य वर्ग उनकी विलासिता के साधन जुटा रहे थे। "इस युग में सामन्तवादी परम्परा पर्याप्त रूप में बढी। यद्यपि भारत म गुप्तो के काल से ही सामन्तवाद ने विकेन्द्रीकृत करना आरम्भ कर दिया। फलत कथासरित्सागर के समय भारत अनेक लधु राज्यो म विभक्त हो गया था। सामन्त अपने सकुचित मनोभावो की सिद्धि के लिए कदाचित् ही किसी गर्हित कार्य को शेष रहने देते थे।"[2] वैश्य जुआ खेलकर धन जीतने के लालच मे फँसते जा रहे थे। प्रतिदिन स्नान पूजा आदि करके चदन इत्र भोजन ताम्बूल आदि विलासिता की वस्तुओ का सेवन करने लगे थे।[3]

इस प्रकार समाज में वर्ण व्यवस्था छिन्न भिन्न होने लगी थी। कहने को नाम मात्र "वर्ण व्यवस्था" रह गयी थी। स्वार्थ लिप्सा में फँसकर ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य अपने कर्त्तव्यों को बिसार चुके थे। ये तीनो वर्ण बल सम्मान, धन एव छल कपटपूर्ण बुद्धि से सवर्ण कमजोर लोगों का तथा पारम्परिक आस्थाओ मान्यताओ तथा अनुष्ठानों में जीने वाले नागर ग्राम्य एव अन्य जगली असभ्य एव निम्न कोटि की कही जाने वाली जातियों का अपनी स्वार्थ पूर्ति में उपयोग कर रहे थे।

3. आश्रम-व्यवस्था

प्राचीनकाल में मनुष्य जीवन के विकास को चार आश्रमों में बाँटा गया था—ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम वानप्रस्थाश्रम एव सन्यासाश्रम। इन चारों आश्रमों की कुल अवधि सौ वर्ष की मानते हुए पच्चीस वर्ष तक प्रत्येक आश्रम में रहने का निर्देश दिया गया। आश्रम व्यवस्था के साथ साथ वर्ण व्यवस्था का भी समाज में प्रचलन था। यद्यपि सस्कृत लोक कथासाहित्य में आश्रमों का पारम्परिक रूप ही वर्णित है परन्तु "लोक जीवन" में

1 शुक पन्चपन्चाशत्तमीकथा, पृ 221 222

2 क स सा तथा भारत, पृ 74

3 क स सा 7 3 4-6

चारों आश्रम का पालन करना कठिन था। क्योंकि आश्रम व्यवस्था की गहराई में देखे तो सीधे रूप में सम्पन्न लोग ही इसका पालन करने में सक्षम होते थे। जहाँ वर्ण व्यवस्था भी अप्रयत्न रूप में भेद-भाव (ऊच नीच) पर आधारित थी—शूद्र एव नारी के लिए कई सस्कारों की मनाई थी, वेदों के श्रवण का अधिकार भी उन्हें न था, वही "लोक" जिसे खाद्यान्न तक उपलब्ध न होता था, जिसे समाज में हेय एव निम्न माना जाता रहा, वह कैसे ब्रह्मचर्याश्रम का पालन कर सकता, किस प्रकार वानप्रस्थी हो सकता एव किस प्रकार सन्यासाश्रम में प्रवेश कर सकता था।

कथासाहित्य में क्रमश प्रतिष्ठित एव शक्तिशाली ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर रहे थे। गुरु गृह में रहकर विद्याध्ययन कर रहे थे।[1] आश्रमों में गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ बताया गया है।[2] सच्चे गृहस्थी के विषय में कहा गया है कि "जो उत्तम, मध्यम, अधम सभी प्रकार के विकारों में अनासक्त रह, अपने कुल क्रमागत धर्म का पालन भली भाँति करता है, जो सदा माता पिता की सेवा करता है वह साधारण मनुष्य भी सच्चा गृहस्थ है। वही मुनि, साधु, योगी और धार्मिक है।"[3] लोक-जीवन में इस विश्वास की जड़ें गहरे तक जम चुकी थी और देवता, पितर एव अतिथि पूजा ही उनका प्रथम कर्त्तव्य बन चुका था। साधारण लोग विश्वासानुसार देवता, पितर एव अतिथि को देकर बचे हुए परिमित अन्न से स्वय की भूख मिटाकर सुखपूर्वक जी रहे थे।[4] उनकी यह मान्यता थी कि धर्म, अर्थ और काम ही गृहस्थ के परम लक्ष्य हैं और इनकी प्राप्ति के लिए देवता, पितर एव अतिथि की पूजा आवश्यक है।[5] इस प्रकार गृहस्थाश्रम ही सीधे रूप में "लोक" से जुडा था। गृहस्थाश्रम को ही "लोक-जीवन" का दूसरा नाम देना अतिशयोक्ति न होगी।

कथासाहित्य में "लोक" का एक बहुसख्यक वर्ग भील, किरात, शबर आदि नगर से दूर वन में ही रह रहे थे, जिन्हें वानप्रस्थी बनने की जरूरत नही थी। राजा अपने पुत्रों को राज्य एव कुटुम्ब का भार सौंपकर पत्नी सहित वानप्रस्थी बन रहे थे।[6]

इस प्रकार कथासाहित्य के समाज में यद्यपि आश्रम व्यवस्था स्थापित थी, परन्तु "लोक जीवन" में उसके स्वरूप के विषय में कुछ भी स्पष्ट जानकारी नही मिलती। यहाँ पर वानप्रस्थ आश्रम के सन्दर्भ में "सौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज को चली।" वाली कहावत उच्चवर्गीय राजा आदि पर अवश्य चरितार्थ होती है। जीवन भर सुरा सुन्दरी

1 क स सा 1 7 56 6 1 114 2 1 72
2 "गृही ह्याश्रमिणा वर"। वही 5 1 152
3 शुक प्रथमाकथा, पृ 5
4 अकलिप्रसरे गेहे सतोष सुखिनोरभूत्।
देवपित्रतिथिप्रत्तशेष प्रमितमश्नतो ॥ क स सा, 6 1 92
5 "कृतदार गृहे कुर्वन्देवपित्रतिथिक्रिया। वही 5 1 152
6 वही 2 2 217 9 1 31 4 2 159 160 7 2 105 106 10 8 161 6 4 58 59 9 2 383-85 16 3 95 17 6 213 16 12 36 237 12 36 225 22।

आदि भौतिक सासारिक सुखों का भोग करन वाले विलासिता के पक मे आकठ डूबे रहने वाले, अपने सुख, विलासिता के साधन जुटान के लिए समग्र प्रजा को युद्ध क मुँह में धकेल देने वाले राजा मामत आदि वृद्धावस्था मे पुत्र ना राज्यभार सौंपकर वन मे जाकर राम नाम जपते भगवान् की शरण लते। जावन भर जीविका कमाने म लग रहने वाले "लोक" के पास न इतना धन था, न समय था न ही जीवन भर उसने एमा कुछ किया होता, जिससे वृद्धावस्था में उसे स्वय से ग्लानि हो जाए और वह वन की ओर पलायन करे। सम्भवत वानप्रस्थाश्रम भी उस समय के समाज में उच्च वर्गीय परिवारों में फैशन के रूप में प्रचलित रहा होगा जिस प्रकार कि आज के एश्वर्य सम्पन्न उच्च वर्गीय परिवार के लोग सेवा निवृत्त होने पर या वृद्धावस्था म पर्वतीय स्थलों पर चले जाते या तीर्थ यात्रा को निकल जाते हैं।

4 पारिवारिक जीवन

लाक जीवन की प्रारम्भिक एव महत्त्वपूर्ण इकाई परिवार है जहाँ व्यक्ति पारम्परिक मान्यताओं, विश्वासो एव अनुष्ठाना के अनुरूप सस्कारित होता है अपने कर्तव्य एव दायित्व को समझता हुआ भावी जीवन दिशा तय करता है। सस्कृत लोककथासाहित्य में सम्भवत लोक परिवार सीमित एव सयुक्त रूप में रहा है।[1] परिवार में पिता का स्थान सर्वोपरि था।[2] माता पिता देवता रूप माने जाते थे। पुत्र उनके भोजन कर लने के पश्चात् भोजन ग्रहण करता था।[3] माता पिता की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने का दुष्परिणाम होता एव उनकी भक्ति कामधेनु कही गयी।[4] कभी कभी माता पिता की बात न मानने पर क्रुद्ध होकर वे शाप भी दे देते थ।[5] परिवार में पिता क रहते माता को कोई विशिष्ट निर्णयात्मक अधिकार प्राप्त नही थे।[6] अपनी सन्तान (पुत्र) के प्रति माता पिता का अगाध प्रेम था। सुखरक व जुए क व्यसन म पड़ने से बरबाद हो जाने एव घर छोडकर भाग जान म उसके शोक में माता की मृत्यु हो जाती है। अत पुत्र तथा स्त्री के दुख स विकल पिता भी गृह त्याग कर पुत्र का पता लगाने के लिए इधर उधर भटकता रहता है।[7] पिता पुत्र को एक महती सम्पत्ति के समान समझता था।[8] क्योंकि पुत्र ही पिता के बुढापे का सहारा

1 क. स. सा. 9 3 90

2. वही 16 2.211

3 वही 9 6 186-187 शुक. प्रथमाकथा, पृ 4 5

4 "कामधेनुस्तु तद्भक्तिस्तस्मात्येना कथा शृणु।" क स सा 9 6 170
"मातापित्रोरह भक्तस्तौ ममैव परायणम्।" वही 9 6 196

5 वही 9 6 131 150

6 वही 16 2.211

7 वही 12 6.203 204 9 6 61 71

8 धृतगर्भा च सा तस्य कालेन सुषुवे सुतम्।
दरिद्रोऽपि स त मेने निधि लब्धमिव द्विज ॥ वही 10 8 4

होता था।[1] माता-पिता के न रहने की स्थिति मे उनके पुत्र की अत्यन्त दयनीय दशा हो जाती, सगे सम्बन्धी सब कुछ हडप लेने की कोशिश में रहते और उसे अपने ननिहाल में आश्रय लेना पडता।[2] पुत्रोत्पत्ति पर उत्सव मनाया जाता एव ग्यारहवें दिन उसका नामकरण किया जाता।[3] पिता का पुत्र (मतानुसार) के साथ अकृत्रिम और अन्तरग सम्बन्ध होता है। भाई तो सहोदर भाइयों से भी द्वेष करते है।[4] पिता का पुत्र के प्रति स्वार्थ भी जुडा है। एक पिता अपने दुर्बल, लगडे, कुबडे, कुरूप पुत्र को वचन छुरी से इस प्रकार छील रहा है "मर जा कुलटा के पुत्र। माता को खाने वाले प्रेत। मैं निष्प्रयोजन तुम्हें न ढोऊगा, न ही पालन पोषण करूँगा। खूब जोर से गला दबाकर या सिर फोडकर तुझे मार डालूँगा।"[5]

पुत्रहीन माता पिता दुखी रहते हैं।[6] पुत्र के अग-स्पर्श से बढकर सुख का कोई अन्य कारण नही समझा जाता था। पुत्र से सुखी व्यक्तियों ने इसे चदन से भी शीतल बताया है। कहा गया है कि गृहस्थी के लिए इस तरह से इहलोक परलोक के सुख की प्राप्ति में पुत्र से इतर साधन नही है। निसतान को सतान के प्रति आकाक्षा के लिए देवता की आराधना व्रत एव पुत्रेष्टि[7] यज्ञ करने को कहा गया है।[8] पुत्र के विषय में यह भी कहा गया है कि पुत्र तो जीवन के लिए औषधि-तुल्य तथा वश-वृक्ष का मूल-स्वरूप होता है।[9] चतुर, अनुकूलाचरणशील, सुन्दर, गम्भीर, कलानिधान तथा गुणी एक पुत्र ही उत्तम होता है एव शोक सताप कारक बहुत से पुत्रों के होने से क्या? कुल को आलम्ब देने वाला एक पुत्र भी उत्तम है जिसके होने से कुल ससार मे विख्यात हो जाता है।[10] कुमार्गगामी कुपुत्र से माता पिता अत्यन्त दुखी होते हैं।[11] कथासाहित्य में उच्च-वर्गीय परिवार में एक पुत्र दुख का कारण होता था। कथासरित्सागर मे एक राजा एक से अधिक

1 क स सा 12 23 120 123

2 वही 12 29 7 11

3 जग्राह बालक त च पुत्र विधिसमर्पितम्।
धन च तत्प्रभाते च विदधे स महोत्सवम्॥ 66
एकादशे च दिवसे तस्य पुत्रस्य तत्र स।
बालस्य स्वोचित नाम श्रीदर्शन इति व्यधात्॥ 67 —वही 12 6 66 67

4 "अन्तरङ्गो हि सम्बन्ध पुत्रे पित्रोरकृत्रिम।" —बृ क श्लो 14 44

5 वही 27 101 104

6 वही 14 6 9

7 क स सा 2.5 60-62

8 न च पुत्राङ्गसस्पर्शात्सुखहनुरनुत्तर। सुरभिरपि स हि निर्दिष्टश्चन्दनादपिशीतल॥4
अल चातिप्रसगेन सर्वथा गृहमेधिनाम्। दृष्टादृष्टसुखप्राप्ते पुत्रादन्यन्न कारणम्॥5
तदस्ति यदि व काङ्क्षा निष्प्रजाना प्रजाप्रति।
आरभध्व मया सार्धदेवताराधन तत॥6 —बृ क श्लोक 5 4-6, क स सा 18 1 15

9 अपृच्छन्सुहृदस्त्र भवता जावितौषधम्।
मूल कुलतरो कस्य कियन्त पुत्रका इति॥ बृ क श्लो 4 68

10 शुक, त्रिविंशत्तमीकथा पृ 120 121

11 शुक प्रथमाकथा पृ. 2

पुत्रों की प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों के कहने पर अपने प्रथम पुत्र को मारकर उसके माँस से हवन करने को तैयार हो जाता है।[1] जबकि निम्न मध्यमवर्गीय परिवार की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ न होने से वहाँ अधिक कष्टकारक थी।[2] पुत्र के अल्पायु होने की स्थिति में पिता की मृत्यु के बाद माता गृहस्वामिनी होती थी।[3] और माता को ही सन्तान का पालन पोषण करना पड़ता था।[4] पैतृक सम्पत्ति का पुत्रों में बराबर बँटवारा होता था।[5] कभी कभी बँटवारे के समय भाइयों में आपस में झगड़ा होने के उल्लेख हैं।[6] भाभी के विधवा हो जाने एवं निःसन्तान होने की स्थिति में भाई की सम्पत्ति पर अन्य भाइयों का अधिकार होता था।[7]

परिवार में बड़े भाई के अविवाहित रहते छोटे भाई का विवाह करना अनुचित धर्मविरुद्ध एवं अपयश देने वाला माना जाता है।[8] भाई बहिन एवं माता सन्तान में आपस में घनिष्ठ प्रेम है। एक बहिन अपने भाई के शोक में प्राण त्याग देती है एवं माता अपनी सन्तान की चिता में कूद पड़ती है।[9] पुत्रहीन होने पर भाई का पुत्र ही सब कुछ होता है। श्रीदत्त के पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके चाचा ने सान्त्वना देते हुए कहा— मैं पुत्रहीन हूँ, अतः यह सब धन तुम्हारा ही है।[10] माता पिता से रहित बालक अनाथ बनकर रह जाते थे। माता पिता से रहित एवं आजीविका से हीन हरिशर्मा और स्वसाम दोनों भाइयों के पास जो अग्रहार (जागीर) था वह भी बन्धु बान्धवों ने हड़प लिया और उनकी एकमात्र जीविका भिक्षा ही रह गई। वे भिक्षाटन करते नाना के यहाँ पहुँचे तो वहाँ पर भी नाना के न होने पर, मामा के उत्पीड़न के शिकार बने फिर वहाँ से भी जैसे तैसे बच निकले और भिक्षाटन करते रहे।[11] अनाथ बच्चों की अत्यन्त दयनीय दशा रही। स्वार्थवश भाई भाई का बुरा करने से भी नहीं चूकते हैं। बड़े एकन और मझले द्विज दोनों भाइयों

1 ——हत्वैनं त्वत्सुतं वह्नौ तन्मांसं हूयते द्विजाः। 63
तद्गन्धाघ्राणतो राज्ञ सर्वाः प्राप्स्यन्ति ते सुतान्।
एवकृत्वा स राजा तत्तथा सर्वमकारयत्॥ 64 —क. स. सा. 2.5.63-64
2 तत्र दरिद्रगृहिणीनाशादेवो दुःखाय जायते।
प्रजेयं पापभूयिष्ठा दरिद्रेणैव भूयसा॥ वही 5.1.137
3 वही 6.3.72
4 वही 1.2.32, 4.2.156—सामान्यतया पिता की मृत्यु के बाद गृहस्थी का भार पुत्र को ही निभाना होता है।
5 वही 10.5.300
6 वही 10.6.172
7 वही 17.5.124
8 तत्कृत्वा स कनीयांस्त्वमसत्याशीत्वयि स्थिते।
अयशस्यमधर्म्यं च कर्त्तुमार्य त्वमादृशम्॥ क. स. सा. 17.6.55
9 वही 12.11.75-85, 9.3.151.155
10 "प्राणास्तावदपुत्रस्य तव त्वद्वशगं धनम्।" वही 2.2.179
11 वही 17.1.93.135

ने गाय के दूध के लोभ में अन्धे होकर छोटे भाई त्रित की गर्दन नाप लेनी चाही।[1] यहाँ तक कि धन के लालच में फँसे ब्रह्मदत्त एवं सोमदत्त दोनों भाइयों ने गुण्डों के द्वारा अपने छोटे भाइ विष्णुदत्त के हाथ-पैर तक कटवा दिए।[2] जबकि वह छोटा भाई बडे भाइयों की सेवक के समान सेवा एवं उनकी आज्ञा का पालन करता है। इन्ही भाइयों की पत्नियाँ इस देवर पर आसक्त हो जाती हैं लेकिन वह भाभी को माँ के समान समझता है और उसने अनैतिक कर्म करने से मना कर दिया तो उल्टे भाभियों ने उस पर चरित्र हीनता का लाछन लगा दिया।[3] घर में अतिथि का उचित भोजन-पान से स्वागत-सत्कार किया जाता था।[4] घर में होने वाले उत्सव में पुत्री एवं दामाद को निमन्त्रित किया जाता था।[5]

पुत्री के विवाह योग्य होने पर वह चिन्ता का कारण बन जाती थी। भाट की पुत्री के विवाह-योग्य होने पर एक दिन उसकी पत्नी ने उससे रो रोकर कहा-"बेटी के ब्याह की चिन्ता तो करो। जो कमाते हो सब खा जाते हो, कैसे होगा विवाह। कुछ तो करो। कब तक विवाह योग्य लडकी को घर में क्वारी बैठाये रखोगे।"[6] कन्या के लिए पिता ही सकल सिद्धियाँ देने वाले देवता कहे गये हैं।[7] विवाह से पहले ही वर लिए गये पुरुष के अतिरिक्त कन्या के लिए और सभी पर पुरुष होते हैं और दूसरों के लिए वह कन्या पर स्त्री के समान होती है।[8] पत्नी अपने पति को देवता मानती है।[9] और पति-भक्ति ही उसके लिए श्रेष्ठ धर्म है।[10] पतिव्रताएँ अपने दुष्ट पति के प्रति भी मन में अन्यथाभाव नहीं रखती।[11] पति से झगडा होने पर पुत्रों सहित अपने पिता के घर चली जातीं।[12] पत्नी पति के कार्यों में हाथ बँटाती है। पति कमाये धन का कुछ भाग भोजन आदि की व्यवस्था के लिए अपनी पत्नी को दे देता था।[13]

कथासरित्सागर में कहा गया है कि सास, ननद और विधवापन से कन्या दूषित हो जाती है।[14] वही पतिगृह उत्तम माना जाता है जिसमें पापिन सास और दुष्टा ननद न

1 बृ क श्लो 15 125 126

2 "तौ पुनस्तत्र एवाश दत्त्वा अर्थं च घातकान्।
तस्याच्छेदयता पाणिपाद धनजितर्थया॥ — क स सा 6 7 48

3 वही 6 7.31 33

4 वही 12 13 21

5 वही 12 13 20

6 सिं, द्वा, पृ 129 131

7 "पितैव सखि कन्याना दैवत सर्वसिद्धिकृत्।" क स सा 17.3 20

8 "वरात्पूर्ववृताच्चान्य कन्यायाः परपुरुषः।
परदाराश्च सा तस्य तत्कथ मामिह एव व.॥ —क स सा 9 6 275

9 वही 12 1 34

10 "न भर्तृभक्तापर धर्मं कचन वद्म्यन्म्।" वही 9 6 180

11 "दुष्टऽपि पत्यौ साध्वाना नान्यथावृत्ति मानसम्॥ —वही 12 10.39

12 शुक द्विचत्वारिंशतमा कथा, पृ. 179 180

13 क स सा 9.3 95 12 11 16

14 "श्वश्रूननन्दसद्वासमसौभाग्यादिदूषितम्।" —वही 6.3 92

हो।[1] कथासाहित्य के सयुक्त परिवार मे अधिकतर सास बहू के बीच सम्बन्ध कटु रहे हैं। सोमप्रभा कहती है कि "भेड के माँस को भेडिये के सदृश सास बहु के माँस का खा जाती है।"[2] कीर्तिसेना के पति के परदेश चले जाने पर उसकी सास द्वारा उसके ऊपर किये अत्याचार अत्यन्त ही रोमाचकारी हैं। पुरानी दासी से सलाह कर सास कीर्तिसेना को धोखे से कोठरी के अन्दर बुलाकर नगी करके उससे कहती है—"पापिन। मेरे लडके को मुझसे अलग करती है।" ऐसा कहकर उसके केश पकडकर उसे दासी की सहायता से लातों, घूसों, दाँतों एव नखो से मारने, काटने और नोचने लगती हैं। इतना ही नही घर के तहखाने में बन्द कर उसे मारना चाहती है।[3] वसुदत्त की प्रथम पत्नी सास के प्रतिकूल व्यवहार से घर छोडकर कही चली जाती है एव द्वितीय पत्नी आत्महत्या कर लेती है।[4] इस प्रकार दुष्ट सास के वश में पडी बहू की स्थिति अत्यन्त दुखद होती है।[5] सास बहू के बीच प्रशसनीय सम्बन्ध भी मिलते हैं। गुणवश और रूपशिखा जैसी सास एव पुत्रवधू प्रशसनीय बताई गई है।[6] परिवार में सोतेली माँ का पुत्र के प्रति व्यवहार अच्छा नही रहा। रूद्रशर्मा की प्रथम पत्नी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र को द्वितीय पत्नी को सौंप देने पर वह उसे रूखा सूखा भोजन देती है। फलत वह बालक धूमिल शरीर एव बडे पेट वाला हो गया।[7] सौतेली माँ के वशीभूत और उससे प्रेरित एक पिता द्वारा पुत्र एव पुत्र वधु को वन के लिए निर्वासित किया गया।

इस प्रकार सस्कृत लोककथासाहित्य में लोक का पारिवारिक जीवन सामान्य रहा है। परिवार के सदस्यो में आपस में श्रद्धा सम्मान क्षमा दया, करुणा ममता सहानुभूति सहनशीलता तथा प्रेम भाव है। परिवार मे कटुता ईर्ष्या द्वेष घृणा आदि विकार भी व्याप्त होते जा रहे थे। यहाँ तक कि पेतृक सम्पत्ति के बँटवारे में भाई भाई का स्वार्थवश बुरा करने मे भी नही चूकते हैं। जहाँ सयुक्त परिवार की पारम्परिक जीवन पद्धति में पत्नी पति को देवता मानती है, माता पिता की भक्ति कामधेनु कही गई वही सगे सम्बन्धी आपस में एक दूसरे को लूटने म लगे हैं? अनाथ दीन बालक भिक्षावृत्ति से जीविका चला रहे हैं। शनै-शनै सयुक्त परिवार पणाली के आधार स्तम्भ सहयोग एव स्नेह के भाव नष्ट होते जा रहे थे।

---

1 इत्थ च पार्थिवकुमारि भवन्ति दोषा श्वश्रुननान्दृविहिता बहवो वधूनाम्।
तद्भर्तृवेश्म तव तादृशमर्थयेऽह श्वश्रूर्न यत्र न च यत्र शठा ननान्दा॥ 197

क स सा 6 3 197

2 "अत्तेवृकीव स्नुषाया श्वश्रुर्मांसानि खादति। वही 6 3 67

3 वही 6 3 85-89

4 वही 12 7 161 163

5 वही 6 3 74

6. वही 7 5 245

7 वही 2 6 38 39

सस्कार—

प्राचीनकाल मे अभ्युदय तथा निश्रेयस् की सिद्धि एव व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण निर्माण उचित सस्कारों के सन्निवेश के बिना सम्भव नहीं था। वैयक्तिक जीवन को योग्य, गुणयुक्त एव परिष्कृत बनाने के लिए सस्कार जीवन के अपरिहार्य अग थे। परन्तु कथासाहित्य में सस्कार शब्द मनुष्य की प्रवृत्ति एव व्यवहार तथा वातावरण का वाचक बन गया था। व्यक्ति के विशिष्ट-व्यवहार के लिए पूर्वजन्म को कारण माना जाने लगा था।[1] प्राचीनकाल में मुख्य सोलह सस्कार माने गये थे—गर्भाधान, पुसवन, सीमत, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, कर्णभेद चूडाकर्म विद्यारम्भ, उपनयन वेदारम्भ गोदान समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि। कथासाहित्य के समाज मे इन सोलह सस्कारों में से कुछ का ही पारम्परिक महत्त्व बना हुआ था। "बाकी सस्कार कुछ विशिष्ट वर्ग में ही सिमट गये थे। उनका सार्वजनिक महत्त्व नष्ट हो चुका था।"[2] सम्भवत इसका मूल कारण आर्थिक रहा होगा। प्रत्येक व्यक्ति सस्कारों के आयोजन में होने वाले व्यय को वहन करने की स्थिति में न रहा होगा। राजकुमार उदयन के सभी क्षत्रियोचित सस्कार किये जाते है।[3] परन्तु "लोक" के सन्दभ म प्राय इस तरह का उल्लेख नही मिलता है। इतना तो कहा हो जा सकता है कि लोक जीवन से जुडे मुख्यत गर्भाधान, नामकरण कर्णभेद विवाह एव अन्त्येष्टि सस्कार रहे है। क्योंकि ये सस्कार चाहे-अनचाहे प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य करन पडते है।

प्रेम—

सस्कृत लोककथासाहित्य प्रेम प्रसगों की खान है, जिसको खोदते पढते चले जाने पर एक प्रेम-कथा से जुडी हुई दूसरी प्रेम-कथा मोतियों के हार की भाँति निकलती चली जाती है। "प्रेम" शब्द पति-पत्नी का प्रेम वेश्या प्रेम, माता पिता का सतान के प्रति प्रेम, भाई-बहिन का प्रेम प्रेमी प्रेमिका का प्रेम या व्यक्ति व्यक्ति का प्रेम, के व्यापक अर्थ को लिए हुए है। सस्कृत लोककथा साहित्य में इन सबसे भिन्न राजा सामत क विचित्र प्रेम के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है जिसे वे प्रेम के नाम से अभिहित करते है वस्तुत यदि उसकी गहराई मे देखें तो वासना की ही बू आती है। वह तो उनकी काम क्षुधा है जिसके लिए वे नित्य नव ललना से प्रेम करने का अभिनय करते है। उनके हृदय के विषय में क्या कहिए कि उन्हें कही कोई नव-योवना दिखाई दी और उससे पेम हो जाता है। वह नव यौवना भी उनके प्रेम के सत्य को न समझ पाती और स्वय को उनके प्रति समर्पित कर देती। उनका पेम ऐश्वर्य से बुना ऐसा महीन जाल था जिसका बाह्य रूप स्वर्गिक सा मनोरम लगता परन्तु अन्त प्रवेश के साथ ही काम पीडा का दर्द असह्य हो जाना है क्योंकि प्रेम का अभिनय करने वाला राजकुमार किसी और नवयोवना में आसक्त हो जाता है। ऐसी घटना को क्षणिक प्रेम कहें या धोखे से किया गया बलात्कार कहें।

1 क स सा 7 6 109, सि, द्वा, पृ 120

2 क स सा एक सास्कृ अध्ययन, पृ 76

3 "कृत्वा क्षत्रोचितान् सर्वान् स काउन् जमदग्निना।
व्यनाथन स विद्यासु धनुर्वेदे च वार्यवान्॥" क स सा 2 1 72 14 4 74 17 2 135 13 1 20 10 8 77 12 16 24 26, बृक श्लो 6 6 6 9 13

वस्तुत प्रेम कभी क्षणिक नही होता है । प्रेम तो हृदय का विषय है जिसमे मस्तिष्क प्राय निष्क्रिय सा हो जाता है । जिसमें त्याग है समर्पण है । एक दूसरे के न मिलने की स्थिति में प्रेमी युगल प्राण त्यागने को उद्यत हो जाता है । भारतीय लोक परम्परा में तो अभिलषित प्रिय को जन्म जन्मान्तर मे भी प्राप्त करने की कामना की जाती रही है । प्रेम अभिव्यक्ति का विषय नही, अनुभूति का विषय है । प्रेम की वाणी मूक होती है । प्रेम का पता ही नही चलता है और किसी भी क्षण में उद्भव हो जाता है । प्रेम सौन्दर्य परक अवश्य होता है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के हृदय का सौन्दर्य भी अलग होता है-- य यस्य प्रिय लोके रम्य स तस्य नापर ।[1] किसी व्यक्ति को श्यामवर्ण की वस्तु प्रिय होती है तो किसी को गौरवर्ण की। व्यक्ति प्रेम मे जाति धर्म वय सब भूल जाता है । लोक मर्यादा टूट जाती है । ऐसा पुनीत, हार्दिक, समर्पित एव मूक प्रेम "लोक जीवन" के इस प्रेम की छवि विरचित एव प्रसगवश ही प्रतिबिम्बित हुई है ।

उच्च वर्ग में प्रेम लोक मर्यादा के अनुरूप होता है । प्रेम म लोक मर्यादा का पालन करने में भी उसे कठिनाई नही होती क्योकि लोक मर्यादा भी तो उसी के द्वारा निर्धारित की गई होती है । सस्कृत लोक कथाओ मे उच्च वर्ग का विवाह तथाकथित प्रेम म प्रत्यक्ष रूप म जुड़ा है । इसी का परिणाम है कि राजाओ के अनेको रानियाँ होती थी । राजा सामन्त नव यौवना के काम सुख के आदी एव उसके भोग के विलासी बन चुके थ । किसी भी धर्म वर्ण जाति की कन्या पर मोहासक्त होते ही समस्त परिजन उसकी प्राप्ति में लग जाते हैं। राजा प्रेम का अभिनय कर उससे विवाह कर लेता है । परन्तु लोक जीवन म ऐसा न था। वहाँ पर तो उच्च वर्ग की जाति धर्म वर्ण की कन्या म निम्न कहे जाने वाले को प्रेम विवाह करने का अधिकार ही न था।[1]

सस्कृत लोककथा साहित्य के "लोक जीवन" में प्रचलित प्रेम निश्छल एव सरल है । हाँ विपरीत लिंग के प्रति सहज स्वाभाविक आकर्षण एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। "लोक" के पारिवारिक जीवन के अन्तर्गत माता पिता का सतान के प्रति प्रेम भाई बहिन का प्रेम भाई भाई का प्रेम पति पत्नी का प्रेम आदि के विषय में बताया जा चुका है। लोक जीवन म विपरीत लिंगी प्रेमी युगल का प्रेम निश्छल सरल एव चोरी छुपे रूप म प्रचलित था। वैसे तो प्रेम की कोई मर्यादा निर्धारित नही होती है न ही उसकी कोई सीमा होती है । विपरीत लिंगी युगल के सहज स्वाभाविक आकर्षण जन्य प्रेम म सुन्दरता वीरता या अन्य कोई विशिष्ट परिस्थितिजन्य (गुण) कारण होता है । एकान्त भी इसम एक कारण रहा है ।[2] लोकमर्यादानुसार वर्ण जाति धर्म से निम्न व्यक्ति का उच्च कन्या के साथ तथा निम्न कन्या का उच्च व्यक्ति के साथ प्रेम एव विवाह असम्भव था। परन्तु प्रसेनजित नामक राजा की सुन्दर कन्या कुरगी उद्यान में हाथी के द्वारा उठा ली जाती है परिजन उसे छोड़कर भाग जाते हैं। तभी एक चाण्डाल युवक आकर तलवार म उस हाथी की सूड काटकर उसे बचाता है । उस राजकुमारी का हृदय उस युवक की वीरता और सुन्दरता पर आकृष्ट हो जाता है । "हाथी से बचाने वाला वह युवक ही मेरा पति हो नही तो मरा

1 क स सा 2 6 65-66 10 10 167 3 4 16

2 वही 8 3 195 12 17 46-48 12 16 35-45 12 23 43-45 1 4 [illegible]

मे किसी भी अन्य पुरष को लाने के लिए कहती है। उसकी सखी जिस पुरष को लेकर आती है वह उस स्त्री का पति ही होता है।[1] अपने पति को देखकर वह स्त्री क्रोध से बरस पडती है—तुम कहते हो ना कि तुम्हारे अतिरिक्त मुझे कोई प्रिय नही है। आज देख लिया परीक्षा करके। ऐसी स्थिति में उस स्त्री ने अपने चातुर्य से पति को दोषी ठहराकर अपने आप को निर्दोष सिद्ध कर दिया।[2] परन्तु पुरष तो शायद ही कोई, कभी और कही वैसा दुराचारी होता है लेकिन स्त्रियाँ प्राय सभी जगह और सदा ही वैसी होती हैं।[3] पुरष भी तभी तक सन्मार्ग पर ठहरा रहता है, तभी तक इन्द्रियों के विरोध में समर्थ होता है तभी तक लज्जा करता है तभी तक विनय अपनाये रहता है, जब तक कर्णपर्यन्त खीचें भ्रूरूप चाप से छोडे गये, लोचनपर्यन्त विस्तृत नील वरौनी रूप पडखवाले धैर्य को विनष्ट करने वाले सुन्दरियों के ये नेत्र रूप बाण हृदय में नही चुभते।[4] इस प्रकार की और भी कथाएँ मिलती हैं।[5]

"लोक जीवन में प्रेम" विषयक जब चर्चा करते हैं तो लोक जीवन से जुडे कुछ ऐसे प्रेम प्रसग अनायास ही जिह्वा पर आ जाते हैं जो ठेठ "लोक" से जुडे हैं। जिनका प्रेम निस्वार्थ एव पुनीत है। जिसमे त्याग एव समर्पण है। प्रिय प्रिया स्वय के लिए न होकर एक दूसरे के लिए होते हैं।[6] सस्कृत लोक कथाओं में ऐसे प्रेम प्रसग आए है पर बहुत ही कम। दीन हीन एव सुविधा-विहीन व्यक्ति जीविका कमाने परदेस जाते हैं। परदेस गये प्रिय का विरह वसन्त पावस ऋतु मे असह्य हो जाता है। मलय पवन, कोयल की कुहूक पुष्पों पर मडराने भौंरे वाली वसन्त ऋतु में विरह सभी प्राणियों के लिए दुसह्य हो जाता है।[7] विरहावस्था में न स्नान, न भोजन, न सखियों से वार्तालाप, न ही हँसी मजाक अच्छी लगती है। समस्त शृगार का त्याग हो जाता है और स्वय के शरीर के विषय में भी चिन्ता नही रहती है।[8] असह्य विरहोन्माद मे प्रिया दुबली एव पीली पड जाती है।[9] जहाँ क्षण भर भी प्रिय का विरह असह्य हो वहाँ अग जलते और प्राण निकलने से लगते हैं।[10] प्रियतम के विरह मे एक प्रिया चाहती है कि "पर नीद सोऊ और स्वप्न में उसे

---

1 उच्चवर्गीय एव सभ्य कहे जाने वाले समाज में आजकल ऐसा प्रचलन है जिसे 'डेटिंग' कहा जाता है।

2 शुक प्रथमाकथा, पृ. 10 13

3 पुरुष कोऽपि हि तादृक्क्वापि कदाचिद्भवतदुराचर ।प्राय सर्वत्र सदा स्त्रियस्तु तादृग्विधा एव ॥
—क स सा 12 10 94

4 सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणा लज्जा तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ता श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीना न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणा पतन्ति ॥ 1,1,8, —शुक एकोनत्रिंशत्तिमीकथा, पृ 99,

5 क स सा 12 1 41-49

6 हीर-राझा सोहनी महीवाल, सरस्वती चन्द्र लैला-मजनू आदि लोककथाएँ आदर्श प्रेम-परक मानी जाती हैं। आज भी ये कथाएं लोक-जीवन में प्रचलित हैं।

7 क स सा 16 1 19 23

8 शुक चतुर्दशकथा पृ 23

9 क स सा 12 28 26

10 वही 17 4.51

देखू, किन्तु दुःखहारिणी वह नींद भी नहीं आती है और रात भर चकई के साथ रोती रहती हूँ। प्रिय उस युवक का नाम किंवा ग्राम आदि क्या है? वस्तुतः यह है प्रेम की पराकाष्ठा जिसमें प्रिया को प्रिय का नाम एवं उसका निवास भी ज्ञात नहीं है। पर प्रेम हो गया सो हो गया। ऐसी स्थिति में वह चाहती है कि उसे गहरी नींद आ जाए और प्रियतम को स्वप्न में देखे। वास्तव में यही प्रेम का सत्य रूप है जिसमें न जाति है न धर्म है न वर्ण है। कैसी स्थिति है फिर भी प्रेम है। ऐसी स्थिति में वह स्वप्न में ही प्रिय दर्शन की अभिलाषा कर सकती है। प्रिय का नाम एवं पता ज्ञात होता तो उसे खोज पाने में सफल हो जाती।[1]

लोक जीवन में मनाये जाने वाले वसन्तोत्सव के दिन परदेस से न लौटे प्रियतम के इन्तजार में स्त्रियाँ स्नान कर कामदेव की पूजा करती हैं। प्रियतम के आगमन की राह देखते देखते कामदेव के दावानल में जलते हुए उनके प्राण तक निकल जाते हैं।[2] लोक में पति पत्नी का प्रेम पूर्णतः एक दूसरे के प्रति समर्पित है। पत्नी एकान्त एवं विरह में पूर्णतः पतिव्रत का पालन करती है। एक क्षत्रिय शूरसेन अपने स्वामी राजा के बुलाने पर सेना में जाने को उद्यत हुआ तो उसकी पत्नी ने कहा— हे आर्यपुत्र! आपके बिना क्षणभर भी न जी सकूँगी। लेकिन वह क्षत्रिय सैनिक पराधीन होने से अपनी पत्नी को यह कहकर चला जाता है कि यदि नौकरी छोड़ना पड़ा तो छोड़ूँगा और वसन्त ऋतु के आरम्भ चैत्र मास की प्रथम तिथि को लौट आऊँगा।[3] लोक जीवन में यह मान्यता प्रचलित रही है कि स्त्री में अत्यधिक आसक्ति भी दुःख का कारण होती है क्योंकि चंचल लक्ष्मी और स्त्री का कोई भरोसा नहीं है।[4]

लोक जीवन में दो हृदयों में गुप्त रूप से प्रेम का उद्भव होता है जहाँ संकेतों में ही बात चीत होती है और सदैव इस बात का भय रहता है कि कोई देख न ले और प्रेम के चरमोत्कर्ष की स्थिति में यह लोक मर्यादा भी टूट जाती है। प्रेमी युगल एक दूसरे के लिए मर मिटने को उद्यत हो जाते हैं। उनके लिए तो "रम्य प्रेम न जन्मभूः" अर्थात् प्रेम ही प्यारा होता है न कि जन्मभूमि।[5] अभिलषित प्रिय को प्राप्त न करने की स्थिति में आत्महत्या कर लेते या कामदेव से जन्म जन्मान्तर में अभिलषित वर को ही प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं।[6] प्रेम पथ को निराला कहा गया है जिसका परिणाम सदैव दुःखदायी होता है।[7]

---

1 सर्वदुःखघ्ना निद्रा स्वप्ने तद्दर्शनेच्छया। ... मम ... रात्रिषु ॥ ...
तेनैव निरपायोऽस्मिन् दुःखे मम विनोदनम्। ... तदाभवता साधुना ॥ ...
—क. स. सा. 13। 15। ...

2 वही 16। 1। 36-42

3 आर्यपुत्र न युक्त्वा मामेकाकिनीं गन्तुमर्हसि।
नहि शक्ष्याम्यहं स्थातुं क्षणमपि त्वया विना ॥ 29 — वही 3। 1। ...

4 को हि सम्यक् चञ्चलास्विव ... वनितासु च। वही ... 3। 235

5 वही 6। 2। 6

6 वही 13। 1। 134। 141, 12। 25। 31, 33

7 ... वही 12। 26। ...

विवाह—

भारतीय सस्कृति में सस्कारों का विशेष महत्त्व है और उनमें विवाह सस्कार सर्वप्रधान एव अन्य सस्कारों का मूल कारण है। यह सस्कार मनुष्य-जाति की अक्षुण्ण परम्परा के लिए एव धार्मिक अनुष्ठान के लिए आवश्यक है। इस प्रकार यह सस्कार धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि का मार्ग है। सस्कृत लोककथा के लोक जीवन में विवाह की अनिवार्यता के मूल रूप में दो कारण रहे हैं—धार्मिक कृत्यों का सम्पादन एव पुत्र-प्राप्ति। विवाह सस्कार से सम्बन्धित लोक जीवन में कई विश्वास प्रचलित रहे हैं। सतानोत्पत्ति के बिना पितृ-ऋण से विमुक्ति असम्भव है। पत्नी रहित व्यक्ति हेय एव असामाजिक समझा जाता है। वैवाहिक-जीवन के बिना सामाजिक प्रतिष्ठा सम्भव नही है। भार्या के बिना गृहपति का घर सूना होता है।[1] कान्ता-रहित गृह बिना हथकडी की कैद है।[2] देवता पितर, अतिथि की सेवा व्रत एव जप से पुण्य की प्राप्ति घर में ही सम्भव है अन्यत्र कही नही।[3] विवाह के उपरान्त ही मनुष्य को देवता पितर एव अतिथियों की सेवा करने से धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति सम्भव है क्योंकि गृहस्थाश्रम ही चारों आश्रमों में श्रेष्ठ है।[4]

लोक जीवन में वर के लिए विवाह करने की कोई निश्चित आयु का विधान नही है। परन्तु भारतीय सास्कृतिक परम्परा में वर के लिए ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने का विधान बताया गया है। "लोक" में कन्या के लिए कहा गया है कि ऋतुमती होने पर उसके बन्धु बाधव अधोगति को प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि लोक में यह विश्वास भी था कि ऐसा न होने पर वह कन्या वृषली हो जाती है और उसके पति को वृषल पति कहा जाता है।[5] ऋतुमती होने के आधार पर अनुमान से विवाह के लिए कन्या की आयु तेरह से पन्द्रह वर्ष के बीच मानी जा सकती है। प्राय कन्या इसी अवस्था में ऋतुमती होती है।

लोक-जीवन में विवाह सम्बन्ध समान कुलों में ही अनुमोदित था। उसमें भी कुल की मर्यादा पर विशेष बल दिया जाता था।[6] कुल के साथ धन और कर्म में भी समानता देखी जा सकती थी।[7] वर में अवस्था, रूप, कुल, चरित्र धन आदि ढूँढे जाते थे। उनमें भी सर्वप्रथम अवस्था को देखा जाता, वश आदि उसके बाद गिनती में लिए जाते थे।[8] कन्या एव वर एक-दूसरे के रूप अवस्था को देखते थे। परन्तु लोक में यह मान्यता भी

1 "तान मैवमभार्य हि शून्य गृहपतेर्गृहम्। क स सा 12 31.31

2 "अजड कस्तदनिगड प्रविशति गृहमञ्जक दुर्गम्॥ वही 12.31.32

3 अन्यथा देवपित्रग्निर्क्रियाव्रतजपादिभि।
गृहे या पुण्यनिष्पत्ति साध्वनि भ्रमत कुत॥ वही 8 6 225

4 कृतदारा गृह कुर्वन्देवपित्रतिक्रिया।
धनैस्त्रिवर्ग प्राप्नाति गृही ह्याश्रमिणा वर॥ वही 5 1 151

5 ऋतुमत्या हि कन्याया बान्धवा यान्त्यधागतिम्।
वृषली सा वरश्चास्या वृषलीपतिरुच्यत॥ वहा 5 1 40

6 "ततो विवाह पित्रा मे विहित सदृशात्कुलात्।" —वहा 12 7 156

7 "अन्यूना हि वय तस्मात्कुलेनार्थेन कर्मणा।" वहा 12 13 13

8 वही 6 4.29

थी कि वर मे जाति, विद्या एव स्वरूप य ही गुण देख जाते हैं न कि क्षण मे नष्ट होने वाली चचल लक्ष्मी। कन्या एव वर के माता पिता बन्धु बान्धव वश एव सम्पन्नता आदि देखते थे।[1] समान कुल गुण जाति के न होने पर विवाह सम्भव न था। शूद्र जुलाहे एव वैश्य का क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह का निषेध कहा गया है।[2] लोक जीवन मे जन्म से पूर्व गर्भावस्था में ही विवाह सम्बन्ध तय करने का उल्लेख भी मिलता है। ऐसे सम्बन्ध के पीछे मूल कारण आपस मे चिरस्थायी प्रीति बनाये रखना होता था।[3] बाल विवाह का प्रचलन भी था। बाल्यावस्था मे विवाह होने के कारण कन्या को उस समय उसके ससुराल नही भेजा जाता था बल्कि पूर्ण यौवन को प्राप्त कर लेने पर उसके पति के भृत्य आदि जन के साथ उसे लेने आने की परम्परा थी।[4] यह परम्परा आज भी लोक में प्रचलित है। गौना होने के पश्चात् ही कन्या नियमित रूप से ससुराल आने जाने लगती है। विवाह से पूर्व कन्या एव वर के आपस में एक दूसरे को देखने का उल्लेख भी मिलता है।[5] परन्तु सामान्य रूप मे लोक जीवन मे यह प्रचलन न था। विवाह सम्बन्ध माता पिता एव बन्धु बाधव ही तय करते थे। कन्या का दान एव ग्रहण बहुतो से पूछकर ही निश्चित किया जाता था।[6] कन्या का अपने वर सम्बन्धी बातो मे अत्यधिक लज्जा आती एव उसे रस भी आता था।[7] विवाह से पूर्व सम्बन्ध पक्का करने के लिए कन्या या वर पक्ष की ओर से व्यक्ति भेजा जाता था।[8] जिसे आज मगनी या मगाई कहा जाता है। मगनी से तात्पर्य कन्या या वर के माँगने से रहा है। विवाह सम्बन्ध के तय होने के पश्चात ज्योतिषी से शुभ मुहूर्त पूछकर विवाह तिथि निश्चित की जाती थी।[9] विवाह तिथि के निश्चित होने पर वर वधू को उबटन आदि लगाकर सवारा सजाया जाता एव उनका जहाँ तहाँ आना जाना रोक दिया जाता। उबटन तेल एव अन्य सुगन्धित पदार्थों का उपयोग करने के उपरान्त सभवत वर वधू का जहाँ तहाँ आना जाना इसलिए बद कर दिया जाता रहा होगा कि कही अच्छी बुरी जगह पाँव न पड जाए अथवा कही भूत प्रेत न लग जाए। आज भी लोक में यह विश्वास प्रचलित है।

विवाहोत्सव में वाद्य वृन्द की ध्वनि गूजने लगती वैदिक विधि से मत्रोच्चारण के साथ विवाह सम्पन्न कराया जाता घर के आँगन मे मण्डप सजाया जाता लाजा हवन किया जाता मगल गीतो के साथ मण्डप में वर वधू का हस्त ग्रहण करता अत इस

1 कथासरित्सागर 9 4 73 75 6 4 30
2 वही 12 16 34 38
3 भार्याया गुर्विण्या [illegible] पृष्टान् [illegible] ॥
दुहिता चेत्तवो दत्ता भवेत्पुत्राय मा मम [illegible] ॥
—बृहत्कथाश्लोकसंग्रह 22 / 12
4 कथासरित्सागर 18 5 92 94 18 5 105 108
5 वही 4 2 111 113
6 बृहत्कथाश्लोकसंग्रह 20 5 15
7 कथासरित्सागर 17 5 107
8 वही 2 1 37 12 12 20
9 [illegible] —वही 12 12 77 133

पाणिग्रहण सस्कार भी कहा गया है। पाणि ग्रहण के पश्चात् अग्नि-प्रदक्षिणा होती और वर-कन्या पति पत्नी बन जाते। इसी अवसर पर कन्या के माता पिता, बधु बाधव, सग सम्बन्धी उसे दान (उपहार) देते थे। माता पिता अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार कन्या को दान देते थे। राजा सामत एव ऐश्वय सम्पन्न लोग सोना वस्त्राभूषण, दासियाँ, हाथी घोडे आदि दान में देते थे।[1]

भारतीय लोक परम्परा में कन्या को पराये घर का धन[2] एव ऋतुमती कन्या को पितृ-गृह म रखना बन्धु बाधवो को अधोगति का कारण कहा है।[3] कन्या के विवाह योग्य होने पर वह चिन्तनीय बन जाती है और अविवाहित कन्या के पितृ गृह में रहने से लोक में निन्दा एव उसके चरित्र को लेकर चर्चाएँ शुरू हो जाती हैं। अत पिता कन्या के जन्म के साथ ही उसके विवाह के लिए धनार्जन में लग जाता है। अपनी बेटी के विवाह योग्य होने पर उसकी चिन्ता में उसकी माँ बहुत दुखी रहा करती है। एक दिन वह अपने पति भाट से रा रोकर कहती है—"बेटी के विवाह की तो चिन्ता करो। जो कमाते हो सब खा जाते हो कैसे होगा उसका विवाह।"[4]

पुरुष को पाप शान्ति के लिए कन्या-दान के बिना अन्य कोई उपाय नही है।[5] कन्यादान ही श्रेष्ठदान है जिससे ही परलोक में सुख मिलता है, न कि पुत्रों से।[6] कन्या सुपात्र को देनी चाहिए क्योंकि अज्ञान से कुपात्र में दी हुई विद्या के समान कुपात्र को दी हुई कन्या न यश के लिए होती है, न धर्म के लिए ही, प्रत्युत पश्चाताप के लिए होती है।[7] एक कथा ऐसी भी मिलती है जिसमें माता लोभवश अपनी पुत्री धनवती को एक पुत्रहीन चोर को सौंप देती है जिसकी आयु समाप्त हो गई है। पुत्रहीन की सद्गति नही होती है अत वह विवाह करके अपनी आज्ञा से किसी और के द्वारा पुत्र उत्पन्न करवाना चाहता है जो उसका क्षेत्रज पुत्र कहा जाए।[8]

विवाह प्रकार

स्मृतियों में विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर राक्षस और पैशाच।[9] इन आठ विवाहों में से सस्कृतलोककथा साहित्यकालीन

1 मणिकनकवस्त्रभूषणाभारसहस्राणि दिव्यनारीश्च।
अग्नौ लाजविसर्गेऽप्यददाच्च स सात्मजो दुहितु॥ —क म सा 9 1 224, 13 1 68-69

2 "अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सप्रेष्य परिग्रहीतु।" अभि शा. 4 22

3 ऋतुमत्या हि कन्याया बाधवा यान्त्यधोगतिम्।" —क स सा 5 1 40

4 सिद्धा, पृ 129 131

5 "कन्यादानादृते पुत्रि किस्यान् किल्बिषशान्तये।" —क स सा. 5 1 38

6 फल यच्च सुतादानात्कुत पुत्रात् परत्र तत्।" वही 6 2 50

7 विद्यव कन्यका मोहादपात्रे प्रतिपादिता।
यशसे न न धर्माय जायेतानुशयाय तु॥ वही 5 1 26

8 वही 12 26 18 23

9 मनुस्मृति, 3 21, याज्ञवल्क्यस्मृति 1.58-61

लोक जीवन में कुछ प्रकार के विवाह ही प्रचलित थे। यद्यपि कथासाहित्य में गान्धर्व विवाह को सभी विवाहों में सर्वोत्तम माना गया है।[1] परन्तु इसका प्रचलन प्रायः उच्चवर्ग में ही अधिक था।[2] अतः उच्च वर्ग द्वारा इसे सभी विवाहों में सर्वोत्तम कहा गया। मनु ने कहा है कि जब कन्या और वर कामुकता के वशीभूत होकर स्वेच्छापूर्वक परस्पर संभोग करते हैं तो वह गान्धर्व विवाह कहा जाता है।[3] लोककथासाहित्य में पैशाच राक्षस एवं आसुर विवाह का उल्लेख नहीं हुआ है, परन्तु विवाहिता स्त्री को धन के लोभ में दूसरे व्यक्ति के पास भेजने की कथा एवं विदूषक के अपने पराक्रम से राक्षस पुत्रियों से विवाह करने की कथा अवश्य मिलती है।

अनुलोम विवाह का प्रचलन था। निम्न जाति वर्ण अथवा कुल में उत्पन्न कन्या का उच्च वर्ग जाति अथवा कुल में उत्पन्न वर के साथ विवाह 'अनुलोम विवाह' कहा जाता है।[4] *उच्च कुल में उत्पन्न पुरुष (अग्रज) निम्न कुलोत्पन्न स्त्री से विवाह करने में* दोष का भागी नहीं होता है क्योंकि ब्राह्मण सवर्णा से अथवा क्षत्रिय कन्या से विवाह कर सकता है।[5] क्षत्रिय के ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र कन्या से विवाह करने का उल्लेख हुआ है।[6]

प्रतिलोम विवाह का तात्पर्य निम्नवर्ण के वर का विवाह उच्च वर्ण कन्या के साथ होने से है। प्रतिलोम अर्थात् अनुलोम का विपरीत। कथासाहित्य में प्रतिलोम विवाह पर एक तरह से प्रतिबंध था। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि जिस वर्ण का वर निम्नवर्णा कन्या से विवाह कर सकता है उस उच्च वर्ण की (उच्च) कन्या से निम्न वर्ण का व्यक्ति विवाह क्यों नहीं कर सकता है ? यहाँ पर भी वर्णों की मर्यादा निर्धारित करने वाले उच्च *वर्ण का स्वार्थ दृष्टिगत होता है। अपनी काम क्षुधा की तृप्ति के लिए उच्च वर्ग सुन्दर* निम्नवर्णा कन्या को प्राप्त करने के लालच का संवरण नहीं कर पाता और उससे विवाह कर प्राप्त कर लेता था। ऐश्वर्य सम्पन्न राजा एवं सामंत के लिए विवाह एक नव सुन्दरी को प्राप्त करने का साधन था। उच्च वर्ग ने सदैव ऐसे स्वार्थपरक इच्छित नियम बनाये जिनके पीछे कोई ठोस आधारभूत तथ्य नहीं रहे हैं। और "लोक" उनके स्वार्थपरक सत्य को न समझ पाया। प्रतिलोम विवाह भी एक ऐसा ही उदाहरण है। यद्यपि लोक मर्यादा यह थी कि शूद्र जुलाहे एवं वैश्य को क्षत्रिय की कन्या नहीं दी जा सकती है।[7] फिर भी

1 "गान्धर्वोऽप्येष सर्वेषां विवाहानामिहोत्तमः।" —क.स.सा. 8.2.216
2 *वही 12.1.14 7.8.142 143 2.2.146 1.7.81-82*
3 मनुस्मृति 3.32
4 *क.स.सा. 9.6.132 135 131 179 180 198 215*
Again in the Kathasaritsagar we find men of higher Varns like Brahmanas and Ksatriyas sometimes married girls of low castes Cultural life of India as known from somadeva p 120
5 बृ.क.श्लो. 17.166-180
6 मि.द., पृ 13
7 क.स.सा. 12.16.34 38

कथासरित्सागर में क्षत्रिय कन्या राजकुमारी एक चाण्डाल से[1] एवं अन्य एक राजकुमारी मायावती केवट जाति के युवक से[2] विवाह करती है। अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह-रूप को अन्तर्वर्णीय विवाह कहा जा सकता है। जिसके और भी उदाहरण मिलते हैं।[3] कभी-कभी अन्तर्वर्णीय विवाह में असमान कुलो के सम्बन्ध का परिणाम बुरा भी हो जाता था। इस विषय में कहा गया है कि "कौवी कौवे को छोडकर कोयल (नर) को कैसे चाह सकती है।[4]

प्रेम विवाह गान्धर्व विवाह का ही दूसरा नाम है और अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह गान्धर्व विवाह के दो भेद हैं। परन्तु गान्धर्व विवाह के साथ बहुपत्नी परम्परा भी जुडी हुई है जबकि प्रेम-जन्य विवाह बार-बार संभव नहीं है। राजा-सामंत सुन्दर कन्या को देखते ही प्रेम कर उससे विवाह कर लेते, वस्तुत वह प्रेम-विवाह न था। वे ऐसे प्रेम विवाह पूर्व में भी कई बार कर चुके होते थे। "कथासरित्सागर के समय में प्रेम विवाहों की अधिकता के कारण गान्धर्व विवाह समाज में स्वीकृत था।"[5] प्रेम हो जाने पर लडके-लडकियाँ माता पिता की आज्ञा के बिना घर से भाग जाते और विवाह कर लेते थे।[6] राजा, सामंत, पूँजीपति वर्ग में किसी से प्रेम होने पर उन्हें भागने की जरूरत नहीं पडती। शक्ति, सम्पति के आधार पर वह जो चाहे कर सकते थे। लोक कथाओं में स्वयंवर का उल्लेख भी हुआ है।[7] स्वयंवर उत्सव के रूप में तो नहीं होता परन्तु कन्या एवं वर ईप्सित वर वधू का वरण कर सकते थे।

दहेज

तत्कालीन लोक-जीवन में विवाहोत्सव के अवसर पर कन्या को उसके माता पिता, बन्धु बान्धवों द्वारा दी जाने वाली विभिन्न वस्तुओं को आधुनिक "दहेज" के अर्थ से नहीं जोडा जा सकता है। परन्तु यह अवश्य है कि उस समय राजा, सामंत एवं पूँजीपति वर्ग द्वारा विवाहोत्सव में अत्यधिक धन, रत्न, सोना, वस्त्राभूषण, हाथी, घोडे, ऊँट एवं आभूषण से लदी सुन्दर दासियों को देकर इस समस्या के बीज बो दिये गये थे।[8] तत्कालीन लोक-जीवन पर भी इस प्रवृत्ति का प्रभाव पडा एवं धीरे धीरे (परम्परा में) उसी प्रवृत्ति का परिणाम हो कि आज दहेज एक समस्या बन गई है। विवाहोत्सव में माता-पिता बन्धु बान्धव अपनी आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार कन्या को दान देते थे।[9] उस समय लोक जीवन में

1 क. स. सा. 16 2 89 107

2 वही 16 2 112 116

3 वही 4 1.56-60 5.3 94 4 1 61 5.3 154

4 अतुल्यकुलसंबन्ध. मैषा किं वाप्स्यति।
मुक्त्वा बलिभुज काका कोकिले रमते कथम्॥ वही, 4 1 80

5 क.स.सा. एक सांस्कृ अध्ययन, पृ. 82

6 क.स.सा. 18 4 263 2.5 72 73

7 वही 12 16 16 18

8 वही 8 1 75-79 6 8 258 8 1 1" 132, 18 4 73 77 7 9 216

9 वही 7.5 ,58

कन्या को दान में दी जाने वाली वस्तुएँ दैनिक जीवन की आवश्यकता से सम्बन्धित रही हैं। उस समय का लोक आर्थिक दृष्टि से इतना सुसम्पन्न न था कि वह उच्च वर्ग की भाँति विवाहोत्सव में विलासितापूर्ण उपभोग की वस्तुएँ देता एवं धन का व्यय करता।

बहुपत्नीप्रथा

राजा, सामंत एवं धनी उच्चवर्ग के लोग अनेक सुन्दरियों से विवाह करते थे। उदयन नरवाहनदत्त आदि के अनेक पत्नियाँ थी। बहुपत्नीत्व की प्रथा राजकुलों से ही अधिक सम्बन्धित रही है।[1] सामान्यजन इतना सम्पन्न न था कि वह एक से अधिक पत्नियाँ रख सके। पति के धनवान होने पर सौतें होती हैं। दरिद्र तो एक स्त्री का भरण पोषण भी कष्ट से कर पाता है बहुत सी स्त्रियों की तो बात ही क्या।[2] प्राय लोक में एक पत्नी रखने की ही परम्परा थी। परन्तु अपवाद रूप या कारण विशेष से एक से अधिक पत्नी रखने के उल्लेख भी मिलते हैं। अक्षपणक की कथा में एक व्यक्ति का दूसरा विवाह किया जाता है।[3] इसके अतिरिक्त अशोकदत्त[4], विदूषक ब्राह्मण[5] एवं श्रीदत्त[6] के भी एक से अधिक पत्नियाँ थी।

गृहदामाद-प्रथा

लोक जीवन में गृह दामाद रखने की प्रथा का प्रचलन था। विवाह के उपरान्त कन्या को पति के घर न भेजकर बेटी और जामाता को अपने ही घर रख लिया जता था। गृह दामाद प्राय एक ही संतान कन्या होने की स्थिति में रखा जाता है।[7] परन्तु कन्या के भाई होने की स्थिति में भी गृह दामाद रखने का उल्लेख हुआ है।[8]

विधवा-विवाह

पत्नी के मर जाने पर व्यक्ति दूसरा विवाह करता था। दशमारिका के बार बार विधवा होने पर भी ग्यारह बार विवाह करती है।[9] दशमारिका एक अपवाद रूप ही है, सामान्यतया लोक में विधवा विवाह का प्रचलन नहीं था। कुन्दमालिका के विवाहोत्सव में ही विधवा हो जाने पर उसकी माता उससे कहती है कि जामाता की जगह तुम्हारा मर जाना श्रेयस्कर होता, क्योंकि जो बाल्यावस्था में ही विधवा हो गयी उसे जीवित कौन कहेगा। नारियों के लिए बराबर दूर रहने वाला और सबसे खराब पति भी जीवन से

1 बृ.क.म. 6.1 33 39 131 132 138 क.स.सा. 8.4.105
2 सपत्न्यो हि भवन्तीह प्राय श्रीमति भर्तरि।
दरिद्रो बिभृयादेकामपि कष्ट कुतो बहू ॥ वही, 8.6.208
3 वही 8.5.208
4 वही 5.2.170
5 वही 3.4.202, 207 341 387
6 वही 2.2.194
7 वही 12.25.5
8 बृ.क.श्लो. 5.221 226
9 क.स.सा. 10.10.91 96

बढ़कर है ।[1] वृद्ध-विवाह का उल्लेख हुआ है । एक वणिक वृद्ध होने पर भी धन के प्रभाव से किसी वणिक-कन्या मे विवाह करता है, परन्तु वह कन्या उससे घृणा करती है ।[2]

लोक-जीवन में विवाह-सस्कार जीवन का एक अपरिहार्य अग रहा है । विवाह-सस्कार ही एक ऐसा सस्कार है जिसे समाज का प्रत्येक वर्ग उत्सव के रूप में मनाता रहा है। विवाह के सम्बन्ध में लोक के अपने अलग ही रीति रिवाज रहे हैं, जिनकी परिधि में विवाह सम्पन्न होता है । उच्चवर्ग के लिए विवाह सस्कार एक मनोविनोद का साधन बन चुका था। कितनी ही सुन्दरिया से विवाह कर लेने पर भी उसकी काम क्षुधा तृप्त नही होती थी। उच्चवर्ग के लिए नारी एक विलासिता की वस्तु मात्र बनकर रह गई थी। प्रत्येक सुन्दर कन्या भी राजकुमार से विवाह करने की अभिलाषा रखती थी परन्तु उसकी यह अभिलाषा राजकुमार से विवाह के कुछ समय के उपरान्त या यौवन के ढलने के साथ ही शाप बन जाती और वह राज-प्रासाद की चहार दीवारी में कैद होकर रह जाती। वह प्रतिदिन उस राजकुमार के सहवास के लिए उसकी राह देखती, परन्तु राजकुमार तो नित नव-यौवना की प्राप्ति की लालसा में डूबा रहता। फलत राज प्रासाद में रहने वाली राजा राजकुमार की स्त्रियाँ अपनी काम क्षुधा की तृप्ति के लिए अन्तरग सखी दासी की सहायता मे बाह्य-पुरुषों के साथ गुप्त रूप से सम्बन्ध स्थापित करती थी।

5. लोक-जीवन मे नारी स्थान एव महत्त्व

सृष्टि-प्रक्रिया में जितना महत्त्व नर का है उतना ही महत्त्व नारी का भी है। भारतीय परम्परा में धार्मिक अनुष्ठान के लिए नारी की महती आवश्यकता बताई गई है। पत्नी के बिना धार्मिक अनुष्ठान का सम्पादन असभव ही है । सभवत इसीलिए मनु ने कहा—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" परन्तु परवर्तीकाल में यह मान्यता अक्षुण्ण न रह सकी। समय के साथ साथ लोगों के विश्वास, आस्थाएँ, अनुष्ठान बदलते, टूटते-जुडते रहे हैं तथा उनका स्वरूप एव उनके सम्पादन की प्रक्रिया भी बदलती रही है । प्राचीनकाल में नारी का जो महत्त्व समाज में रहा है वह सस्कृत लोककथा साहित्य में छिन्न भिन्न सा दिखाई देता है। फिर भी अपत्नीक गृहस्वामी के घर को सूना एव बिना बेडियों वाला कैदखाना कहा गया है ।[3] स्त्री का अपमान जिस घर में होता है, वहाँ लक्ष्मी का वास नहीं होता है। स्त्री केवल भोग विलास की वस्तु नही है। उसका रूप गृहलक्ष्मी एव जननी का है। जिस समाज में स्त्री के साथ दुर्व्यवहार होता है वहाँ कभी भी सुख शान्ति नहीं रह सकती है ।[4] सदैव समाज में दो वर्ग रहे हैं । इसी आधार पर सस्कृत लोककथा-साहित्य की नारी को भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम तो राजा, सामत या ऐश्वर्यसम्पन्न के प्रासाद या अट्टालिकाओं की चहार दीवारी में रहने वाली सुविधा-सम्पन्न

1 बृ क श्लो. 22 102 110
2 क स मा. 10 6.83-84
3 क स सा 12.31.31 33
4 सिं. द्वा, पृ 67 70

नारी जो अपनी काम क्षुधा की तृप्ति के लिए अनंगलेखा नामी सखी के सहयोग से बाह्य पुरुषों के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर रही थी। गुणशर्मा में आसक्त नारी अशोकवती कहती है—शर्म छोड़कर मेरा उपभोग करो नहीं तो जीवित न रहूँगी।" तस्मा भजस्व निःशङ्कमन्यथा न भविष्यामि।[1] रानियाँ अभिलषित पुरुष को सखियों के सहयोग से रात्रि में खिड़की के मार्ग से रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ाकर उसके पास सहवास करती थी।[2] वेश्यालयों की मुख्य कुट्टनी भी इस उच्चवर्गीय नारी का प्रतिनिधित्व करती थी। जिसकी राजा सामन्त एवं पूंजीपति इज्जत करते और वेश्यालय जाने में किसी प्रकार का संकोच न करते थे। नारी का दूसरा वर्ग था—लोक नारी, जो प्रासाद या अट्टालिकाओं में रहने वाली नारी की भाँति सुविधा भोगी न होकर जीविका कमा रही थी। उच्चवर्ग की विलासिता की शिकार होकर दासी के रूप में जीवन जी रही थी। स्वामी की सेवा में सदैव तत्पर रहने वाली इस नारी का जीवन स्वामी के लिए ही था। स्वामी की खुशी उनके जीवन का अंग बन चुकी थी। परिस्थितिवश वह जीविका के लिए किसी कुट्टनी के वेश्यालय में देह व्यापार कर रही थी कोई कहीं सूत कात रही थी या अन्य कार्य करके अपनी जीविका कमाने में पति का सहयोग कर रही थी।

चरित्र की दृष्टि से सर्वत्र व्यभिचार फैल चुका था। लोक नारी से लेकर राज प्रासाद के अन्तःपुर में निवास करने वाली रानियाँ एवं राजकुमारी से जहाँ बाह्य पुरुष का प्रवेश निषिद्ध होता है व्यभिचारी होने के उल्लेख मिलते हैं। कन्या पतिव्रता स्त्री विवाहिता कुलटा दासी देवदासी एवं वेश्या आदि नारी के विभिन्न रूप रहे हैं। संस्कृत लोक कथा साहित्य में जहाँ एक तरफ स्त्रियाँ पतिव्रत धर्म का पालन सशक्त रूप से कर रही थी वहीं पर पति को धोखा देकर जार के संग भी रमण कर रही थी। तत्कालीन समाज में गुंडे बदमाश महिलाओं को छेड़ते एवं बलात्कार कर रहे थे। स्त्रियों का अपहरण हो रहा था अबला की इज्जत सरे आम लूटी जा रही थी और लोग खड़े खड़े तमाशा देख रहे थे।[3] लोक जीवन में पतिव्रता स्त्रियाँ ईश्वर के सदृश इस संसार की सृष्टि पालन एवं संहार करने में समर्थ थी।[4] सती स्त्री केवल एक अपने चरित्र से ही रक्षित होती है वरन् बिजली की भाँति चंचल स्त्री की रक्षा कौन कर सकता है।[5] स्त्रियाँ ही संसार रूपी वृक्ष का मूल पापों के अंकुर की भूमि संताप रूपी फलों के पुष्प हैं अतः स्त्रियों के लिए सुख प्राप्ति असंभव है। इस जगत् का मूल माया है माया का मूल स्त्रियाँ हैं स्त्रियों का मूल संयोग है। उस संयोग को त्याग देने से ही सुख की प्राप्ति हो सकती है। फिर भी लोक जीवन में स्त्री को ही जन्म का, वृद्धि का और सुख का मूल कारण माना गया है उसके बिना पुरुष अपने को कृतार्थ नहीं मानता है।[6] दूसरी तरफ यह मान्यता भी प्रचलित रही है कि विष

1 क. स. सा. 8.6.63
2 वही। 12.112.14
3 शि. द्वा. पृ. 0.70।
4 क. स. सा. 7.2.41-42
5 वही 10.7.41-42
6 मायामूलमिदं सर्वं सा च मूलं हि योषितः। तदोषा योषिता मूलं न त्यक्त्वा च सुखमिह न॥ 286
दुर्लभं कारणं तस्मात् तस्मा सृष्टेश्च कारणम्, सुखस्य कारणं तस्मा सा कथं कीर दुष्यते॥ 287
शु. स. 287

खा लेना अच्छा है, सर्प गले में लपेट लेना अच्छा है पर स्त्री का विश्वास करना अच्छा नहीं है, जिन पर कोई जादू मंत्र नहीं चल पाता है। स्त्रियाँ तो बहुत धूल वाले बवण्डर की भाँति चपल होती हैं जो सुमार्ग पर चलने वाले को कलंकित कर नष्ट कर देती है।[1] शुकसप्तति की अन्तिम कथा में मदनविनोद का पत्नी प्रभावती के द्वारा स्त्रियों के विषय में जो कहा गया है, उससे तत्कालीन व्यभिचारिणी नारी की जीवन छवि प्रस्तुत हो जाती है।

स्त्री विषयक अनुराग व्यर्थ है स्त्री चचल स्नेह शून्य गुण रहित कुत्सित स्नेह अथवा अज्ञान व अल्पबुद्धि रखने वाली होती है। स्त्री पति तथा पुत्र का तिरस्कार कर उनके किये उपकार को नहीं मानती। पहले यह स्नेहमयी कोमल होती है परन्तु स्वार्थ सिद्धि कर लेने के बाद निष्ठुरता का व्यवहार करती है। स्त्रियाँ जब तक पुरुष को अपने में अत्यन्त आसक्त नहीं समझती तभी तक पहले अनुकूल आचरण करती हैं उस पुरुष को मदन पाश में बँधा समझते ही चारा निगले हुए मत्स्य की भाँति अपने हाथ में कर लेती है। समुद्र की तरङ्ग के समान चचल स्वभाव वाली सायकालीन बादल के समान क्षणिक अनुराग रखने वाली स्त्रियाँ स्वार्थ सिद्ध करने के बाद अर्थ शून्य पुरुष को निचोड़े हुए महावर की भाँति त्याग देती है। ये स्त्रियाँ पुरुषों के दयालु हृदय में प्रवेश कर मोहती है मतवाला बना देती है तिरस्कार करती है फटकारती है मुग्ध करती है विषाद उत्पन्न करती है ये कुटिल नेत्र वाली स्त्रियाँ क्या क्या नहीं करती है।[2]

पतिव्रता—

समाज में व्यक्ति स्त्री को नियन्त्रण में रखकर उसके चरित्र की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकता है। कुलीन स्त्री की तो उसका अपना ही एक मात्र प्रबल और विशुद्ध मन ही रक्षा कर सकता है। दूसरा में ईर्ष्या करना और उन पर दोष लगाना यह मानव स्वभाव का दोष है। यही अधिक नियन्त्रण स्त्रियों की उत्सुकता एव जिज्ञासा को बढ़ाता है।[3] लोक जीवन में पतिव्रता स्त्रियों के लिए पति ही सब कुछ था। जन्मभूमि एव बन्धु बान्धव तो उनके लिए कुछ भी नहीं थे।[4] उनके लिए तो "न पतिव्यतिरेकेण सुस्त्रीणामपरा गति।" अर्थात् सदाचारिणी स्त्रियों के लिए अपने पति के सिवा और कोई गति नहीं होती है।[5]

1 वर हालाहल भुक्तमहिर्वद्धो वर गले।
न पुन स्त्रीषु विश्वासो मणिमन्त्राद्यगोचर ॥ 255
कलङ्कयन्ति सन्मार्गजुष परिभवन्त्यलम्।
वात्या इवातिचपला स्त्रियो भूरिरजाभृत ॥ 256 —क स सा 12 5 255 257

2 शुक सप्ततमीकथा, श्लो 322 330

3 इति जगति न रक्षितु समर्थ क्वचिदपि कश्चिदपि प्रसह्य नारीम्।
अवति तु सतत विशुद्ध एक कुलयुवतीं निजसत्त्वपाशबन्ध । 133
एव चेर्ष्या नाम दुखैकहेतुर्नोष पुसा ह्यवदाया परेषाम्।
यो य सा मूढबुद्धिर्याड गनानामत्यौत्सुक्य प्रत्युतासा करोति ॥ 134 —क स सा 7 2 133 134

4 वही 7 5 2

5 वही 7 5 166

पतिव्रता स्त्रियाँ सभी अवस्थाओ में अपने पति की अनन्य भक्ति से उपासना करती हैं।[1] वे अपने प्राणों की चिन्ता न कर पति के सुख की चिन्ता अधिक करती स्वय की मृत्यु स्वीकृत थी परन्तु पति को दुःख प्राप्त हो यह कभी भी उन्हे अभिलषित न होता—'इहामुत्र च नारीणा परमा हि गति पति । अर्थात् स्त्रियों की इस लोक और परलोक मे पति ही परम् गति है।[2] ऐसी पतिव्रता स्त्रियाँ विपत्ति में भी अपने सती चरित्र का परित्याग नही करती हैं।[3] एक गर्भवती स्त्री, लुटेरो के द्वारा ग्राम को लूट लेने पर, चरित्र भ्रष्ट होने के भय से वस्त्रों को लेकर अन्य तीन ब्राह्मणियो के सग गृह से भाग जाती है और परिश्रम करके जीवन निर्वाह करती है।[4] पापिन सास द्वारा तहखाने में बद की गई कीर्तिसेना खुरपी से सुरग खोदकर, वस्त्राभूषण लेकर बाहर निकल आती है और ऐसी स्थिति म वह सोचती है—"मुझे पिता के घर न जाना चाहिए, लोग क्या कहेंगे और कैसे विश्वास करेंगे। अत युक्ति से मुझे पति के पास ही जाना चाहिए क्योंकि पतिव्रताओं के लिए पति की इस लोक और परलोक मे गति है।[5] पतिव्रता होने के कारण ही गृहिणी मुनि से सम्बन्धित बगुली के वृतान्त को परोक्ष रूप से जान लेती है। तपस्वी के पूछने पर कहती है—

न भर्तृभक्तेरपर धर्म कञ्चन वेदम्यहम्।

तेन म तत्प्रसादेन विज्ञानबलमीदृशम ॥ अर्थात् मैं पति भक्ति के सिवा दूसरा धर्म नही जानती। अत उसी की कृपा से मुझे यह विज्ञान बल मिला है।[6] इस प्रकार स्त्रियाँ पतिभक्ति रूपी रथ पर चढी हुई चरित्र रूपी कवच से सुरक्षित धर्मरूपी सारथी के सहारे बुद्धिरूपी शस्त्र से विजय प्राप्त करती है। विधि के भीषण विधानों को सहज करके आपत्तिकाल में भी अपने चरित्र धन की रक्षा करने वाली सच्चरित्र स्त्रियाँ अपने आत्मबल से रक्षित होकर अपना तथा अपने पति दोनों का कल्याण करती है।[7] बदर से पीछा छुड़वाने के लिए स्त्री ने राहगीर अहीर से सहायता माँगी उसने कहा—"यदि मेरे साथ तू रमण करे तो मै ऐसा करु।" स्त्री ने उसकी बात को स्वीकार कर और उस पुरुष के बदर को पकडने पर अपने वस्त्र ठीक करके उस पुरुष की कटार से बदर को मारकर उस पुरुष से कहती है—"आओ कही एकान्त मे चले। इस बहाने कही दूर निकलकर

1 इत्यनन्या पति साध्व्य सर्वाकारमुपासते।
एत गुणवत्स्पर्शागे स्वभूसुर यथा ॥ —क स सा 7.5.245

2 वही 7.5.46–47

3 तत्र तस्मुर्निजा भर्तृ ध्यायन्त्य क्लिष्टवृत्तय।
आपत्स्वपि सतीवृत्त कि मुञ्चन्ति कुलस्त्रिय ॥ —वही 1.3.14

4 क स सा 4.4.113.120

5 "इहामुत्र च साध्वीना पतिरेका गतिर्यत । 95

6 वही 9.6.170.151

7 भर्तृभक्तिरथारूढा शीलसनाहरक्षिता।
धर्मसारथय साध्व्यो जयन्ति मतिहेतय । 155
एव विपदा विधुरस्य वि धेर्नियागमप्यसुचिन्त्य रक्षितधना हि साध्व्य ॥
गुप्ता स्वसत्त्वबलेन मतमेव कल्याणमात्मन पत्युरावहन्ति । —क स सा 6.3.149 । 6

वह यात्रियों के एक झुण्ड में मिलकर अपने गाँव को चली जाती है। इस प्रकार उस सच्चरित्रा ने बुद्धि बल से अपने चरित्र की रक्षा की। स्पष्ट है कि उस समय विपत्ति में पड़ी स्त्री को कोई सहायता करने को तैयार न था। हर कोई नारी-तन को भूखे भेड़िये सदृश नोचना चाहता था। नारी अपने चरित्र की रक्षा बड़ी कठिनाई एवं चतुराई से कर पाने में समर्थ होती थी।[1] सच्चरित्रा के पति के परदेश में होने की स्थिति में राजन्य एवं पूँजीपति लोगों की नजरों से बच पाना एवं अपने चरित्र की रक्षा करना कठिन हो जाता था। ये लोग विलासी एवं चरित्र भ्रष्ट होते हुए भी समाज में प्रतिष्ठित थे। पति के हिमालय चले जाने पर, पति के कल्याण की कामना करती हुई उपकोशा नियमित व्रत लेकर गंगा स्नान करती है। पति के विरह में दुर्बल, पीली अतएव मनोहर और प्रतिपदा के चंद्र के समान लोचनों के लिए आकर्षक, बसन्त के समय में गंगा स्नान के लिए जा रही थी। मार्ग में उस नयनमधुर आकृति के राजपुरोहित, नगरपाल तथा युवराज का मंत्री तीनों कामबाण के लक्ष्य बन जाते हैं और वे तीनों क्रमशः बलपूर्वक उपकोशा को रोकने का प्रयत्न करते हैं। उपकोशा अपने बुद्धि-बल से उनको बसन्तोत्सव की धूमधाम वाली रात्रि के प्रथम तीन प्रहरों में एक एक को आने को कहकर घर चली जाती है। दासियों को बुलाकर कर्तव्य निर्धारित करती हुई कहती है—

वरं पत्यौ प्रवासस्थे मरणं कुलयोषितः।

न तु रूपाभिमल्लोकलोचनापातपात्रता॥ अर्थात् पति के प्रवास में रहने पर कुलस्त्री का मर जाना अच्छा है, किन्तु रूप पर मरने वालों की आँखों पर चढ़ना अच्छा नहीं है। अपने पति के द्वारा हिरण्यगुप्त बनिये के पास रखे धन को लेने के लिए दासी को भेजने पर वह स्वयं आकर एकान्त में उपकोशा से कहता है—"भजस्व मां ततो भर्तृस्थापितं ते ददामि।" अर्थात् यदि तुम मेरी सेवा करो, तो मैं तुम्हारे पति का रखा हुआ धन तुम्हें दे दूंगा। पति के रखे हुए धन में किसी की पक्की साक्षी न होने के कारण वह दुःख और क्रोध से अधीर हो गयी और बनिये को भी उसी रात्रि के चतुर्थ प्रहर में आने का निमंत्रण दिया। इन परिस्थितियों का सामना करती हुई अपनी बुद्धि एवं चतुराई तथा दासियों के सहयोग से तीनों राजकीय लोगों को सदूक में बंद करके बनिये से अपने पति के रखे हुए धन को प्राप्त कर, अपने सतीत्व की भी रक्षा करती है।[2] उपकोशा सदृश सतीत्व एवं पतिव्रता साहसी स्त्रियाँ बहुत कम संख्या में रही हैं—

"स्निग्धा, कुलीना महती गृहिणी तापहारिणी।

तरुच्छायेव मार्गस्था पुण्यैः कस्यापि जायते॥ अर्थात् वृक्ष की छाया के समान स्नेहपूर्ण, कुलीन उदारहृदया, दुःखहारिणी और सन्मार्ग स्थित पत्नी किसी को ही बड़े पुण्यों से प्राप्त होती है।[3] सच्चरित्र स्त्रियाँ पति के दूसरी स्त्री पर आसक्त हो जाने पर या स्वर्ग चले जाने की स्थिति में मरने का निश्चय करके दैन्यरहित एवं स्पृहाहीन हो जाती है—"असह्य

1 क स सा 10 8 37-41
2 वही 1 4 28-84
3 वही 4 3 28

हि पुरन्ध्रीणा प्रेम्णो गाढस्य खण्डनम्।" अर्थात् सती स्त्रियों के लिए गहरे प्रेम का टूटना असह्य हो जाता है।[1] पतिदेव से बिछुडी एक स्त्री अपने मामा के पाँव पकड कर कहती है—"अब मेरी आग के सिवा कोई दूसरी गति नही है।[2] सच्चरित्र पतिव्रता स्त्रियाँ लोक जीवन मे ही रही हैं। राजा सामत एव पूँजीपति वर्ग की स्त्रियाँ प्राय चरित्र भ्रष्टा ही होती हैं। अन्तःपुर में सुरक्षित प्रधान रानी भी सच्चरित्रा न थी। 'यदि कोई पतिव्रता स्त्री अपने हाथ से हाथी का स्पर्श करेगी तो वह उठ जाएगा।" यह आकाशवाणी सुनकर राजा के अन्तःपुर की प्रधान रानी एव अन्य सभी रानियो को बुलाए जाने एव उनके हाथी को छूने पर जब हाथी न उठा तो यह निश्चय हो गया कि इनमें से कोई सच्चरित्रा एव पतिव्रता नही हैं। इस प्रकार राजा की अस्सी हजार रानियाँ जन समाज मे अत्यन्त लज्जित हुई। राजा के द्वारा नगर की सभी स्त्रियों को बुलाया गया और उनके छूने पर भी हाथी न उठा तो इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि उस नगर में कोई सदाचारिणी स्त्री नही थी। तदनन्तर ताम्रलिप्ति नगरी से आए हर्षगुप्त नामक वैश्य की शीलवती नाम की पत्नी ने कहा—"मैं इस हाथी को हाथ से छूती हूं। यदि मैंने अपने पति के सिवाय दूसरे का मन से भी ध्यान न किया हो तो यह उठ जाए।" और उसके छूते ही हाथी उठ खडा हुआ।[3] इस प्रकार लोक जीवन में जो सच्चरित्रा थी वे सशक्त रूप से पतिव्रत का पालन कर रही थी। उनके लिए पति ही सब कुछ था। वे पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष के विषय में मन से भी सोचना पाप अधर्म समझती थी। आश्चर्य की बात तो यह है कि कडी सुरक्षा व्यवस्था के बावजूद अन्तःपुर की स्त्रियाँ सच्चरित्रा न रह पाती थी। इस घटना से लगता है कि पर पुरुष का समागम सामान्य सी बात थी परन्तु फिर भी लोक जीवन मे स्त्रियाँ अपने चरित्र की रक्षा करती हुई पतिव्रता का सशक्त रूप से पालन कर रही थी। लोक जीवन मे स्त्रियों के व्यभिचारी होने का मुख्य कारण उच्चवर्गीय स्त्रियो का व्यभिचारी होना था। उच्चवर्ग की स्त्रियों में व्यभिचार का होना एक स्वाभाविक घटना थी क्योंकि नित्य नव यौवना से विवाह करने वाला राजा समस्त स्त्रियों की काम क्षुधा को तृप्त न कर पाता अतः वे चोरी छुपे बाह्य पुरुष के साथ संसर्ग करती थी। पर पुरुष से समागम दासियाँ करवाती थी। दासी लोक नारी थी अत अन्तःपुर की घटनाएँ दासी के माध्यम से लोक जीवन मे पहुँची। जिज्ञासावश लोक नारी भी इस ओर अग्रसर हुई धीरे धीरे समस्त जन जीवन पर इसका प्रभाव बढता चला गया।

व्यभिचारिणी

दो या दो से अधिक पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखने वाली स्त्री व्यभिचारिणी कहलाती है। सम्पूर्ण लोककथा साहित्य में ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रियों की भरमार है जो विवाहिता होकर भी पर पुरुष के समागम हेतु लालायित रहती हैं। पति के प्रवास में होने की स्थिति या एकान्त की स्थिति में वह ऐसा करने के लिए स्वतन्त्र होती है। [illegible] मद्य का नशा एकान्त पुरुष का मिलना और पूर्ण स्वतन्त्रता [illegible] अग्नियाँ एकत्र हो वहाँ चरित्र रूपी

---

1 क स सा [illegible]
2 [illegible] 15 4 242
3 वही [illegible]

तृण की बात ही क्या ? और कामोत्तेजित नारी अच्छे-बुरे का भी विचार नही कर सकती है।[1] यह लोक धारणा प्रचलित थी कि स्त्री और श्री कभी स्थिर नही रही है। वे सध्या के समान क्षणिक राग वाली होती है नदी के समान इनका हृदय कुटिल रहता है और नागिन की तरह ये अविश्वसनीय तथा बिजली की तरह चचल होती है।[2] लोक जीवन में स्त्रियों के शील खोने के अवसर सार्वजनिक एव निजी उत्सव तथा विशिष्ट परिस्थितियाँ रही हैं। विवाहोत्सव, देवयात्रा, राजगृह, सकट, दूसरे के घर और विवाद में नारी अपना शील खोने का अवसर प्राप्त करती है, और भ्रष्ट हो जाती है। कहा गया है कि घर, वन, देव दर्शन अथवा देवयात्रा, हवन काल, तीर्थ, जलाशय, विवाह आदि उत्सव तथा मालिन के घर में स्त्री नित्य शील खोती है। यात्रा के सिलसिले में, स्त्रियों के समूह में, एकान्त में, भीड भाड में, नगर में, ग्राम में, द्वार पर सदा खडी रहने वाली स्वच्छन्द नारी उक्त इतने स्थलों पर अपना शील भग करती है। इनके अतिरिक्त खलिहान खेत में, परदेश में रहने पर, मार्ग में, घर मे, चौराह पर, नगर में राजा के प्रवेश के अवसर पर अथवा राजा के नगर से निकलने पर जो कौतुक देखना पसन्द करती है एव पडौस के शून्य घर में, रजकी-सूचिकी के शून्य घर में, दिन रात में सध्या में, मेघाच्छन्न आकाश के होने पर, राजा के चतुष्पथ पर, पति के शोकग्रस्त अथवा व्यसन अथात् रोगादिग्रस्त होने पर स्वच्छद स्त्री अपना शील खो देती है।[3] एक स्त्री के सौ पुरुषों के समागम करने का उल्लेख हुआ है। अत स्वतत्र स्त्री के शील की रक्षा नही हो सकती है। ऐसी स्त्रियो को बार बार धिक्कार है।[4] ऐसी स्त्रियों के अभिलषित पुरुष पर ही बलात्कार का आरोप लगा देती है।[5] निम्नता की ओर जाने वाली ऐसी चचल स्त्रियाँ कैसा भी कुत्सित कर्म करने से नही डरती हैं, वे दूर से ही मनोरम प्रतीत होती हैं। ऐसी गड्ढे में गिरने वाली नदियों के सदृश स्त्रियों की रक्षा करना सभव नही है। वह तो अवसर तलाशती है। तहखाने में रखी हुई स्त्री एक कोढी के साथ रमण से भी नही चूकती है।[6]

लोक जीवन में स्त्रियों के प्रति अविश्वास बढ गया था। अविश्वासी पति पत्नी को कभी भी अकेली नही छोडता, फिर भी अवसर पाते ही पर पुरुष से ससर्ग कर लेती या उसके साथ भाग जाती।[7] स्त्रियों में व्यभिचार के बढने का एक कारण यह भी रहा

---

1 स्त्रीत्व क्षीबत्वमेकान्त पुसो लाभोऽनियन्त्रणा।
यत्र पञ्चाग्नयस्तत्र वार्ता शीलतृणस्य का ॥ 87
न चैव क्षमते नारी विचार मारमोहिता।
यदिय चकमे राज्ञी तमकाम्य विपद्गतम् ॥ 88 —क स सा 7 2 87-88

2 अनुभूत त्वया दु ख मयैव स्वाकृते महत्।
न च श्रिय स्त्रियश्चेह कदाचित्कस्यचित्स्थिरा ॥ 142
सध्यावत्क्षणरागिण्यो नदीवत्कुटिलाशया।
भुजगीवदविश्वास्या विद्युद्वच्चपला स्त्रिय ॥ 143 —वही 7 3 142 143

3 शुक एकषष्टितमीकथा श्लो 269 300

4 क स सा 10 8 157 157

5 वही 10 7 33 34

6 वही 10 8 133 151

7 वही 10 5 142 147

कि उन्हें सदैव अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता रहा एव बधन में रखा जाता रहा। मनुष्य की यह सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि जहाँ अविश्वास एव बधन हो, वहाँ अविश्वास के कारण के प्रति जिज्ञासावश वह उस ओर प्रवृत्त होता है एव बधन से मुक्ति चाहता है। स्त्रियो की यही स्थिति रही है। स्त्रियों के हृदय को "अविश्वासास्पदम्" अविश्वास की खान कहा गया है।[1] अत स्त्रियाँ पति के प्रवास में होने पर समुपस्थित व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित कर उस अविश्वास एव बधन के रहस्य को जानना चाहती थी। लोक निन्दा से बचने के लिए अपने जार को स्त्री-वेष में बुलाती थी।[2] कुहन नामक राजपूत अपनी शोभिका एव तेजिका नाम पत्नियों के चरित्र की रक्षा के लिए गाँव से बाहर नदी तट पर घर बनाकर द्वार पर बैठा रहता है। परन्तु उसकी दोनों स्त्रियाँ पर-पुरुषों में आसक्त एव रत लोलुप थी। नाखून काटने के लिए आये नापित को सुवर्ण कड्कण देकर गुप्त रूप से पर पुरूष से सङगति कराने के लिए कहती हैं। कामकला में निपुण वह नापित भी अपने मित्र को स्त्री वेश कराके उनके पति से 'यह मेरी प्रिया है, मैं दूसरे गाँव जाना चाहता हूँ, आपके घर के अतिरिक्त अन्य जगह इसे छोड नही सकता, क्योंकि आपके घर अच्छा नियत्रण रहता है। कहकर वही रख देता है। स्त्रीरूप में नापित का मित्र दिन में उनका उपभोग करता था।[3] ऐसी स्त्रियो के चित्त की गति नही जानी जा सकती थी। ऐसी स्त्रियाँ व्यभिचार भी करती हैं ओर लोगो की नजरो मे पतिव्रता भी बने रहना चाहती हैं। पति की मृत्यु पर उसके साथ सती भी हो जाती हैं। बलवर्मा नामक वैश्य की पत्नी चन्द्रश्री ने ऐसा ही किया।[4] सरल हृदय वाले लोग ऐसी दुष्ट स्त्रियो के द्वारा खेल खेल में ही ठगे जाते हैं। अस्थिमूर्ख की व्यभिचारिणी स्त्री उसके विदेश चले जाने पर उसके घर पर ही अपने जार के साथ रमण करती है।[5] विवाहिता स्त्री पति प्रवास या एकान्त की स्थिति में पर पुरुष का ससर्ग तो करती ही थी परन्तु गृह में पति के उपस्थित रहते हुए भी विभिन्न बहाने बनाकर अपने प्रिय जार के ससर्ग हेतु चली जाती थी।[6] पति को ज्ञात होने की स्थिति में भी ऐसे बहाने बनाती या नाटक करती जिससे उस विपत्ति से भी बच निकलती[7] और पति उसके द्वारा किये गये झूठ नाटक को सत्य मानकर उसे अपनी हितैषी एव प्राण प्रिया मान लेता तथा प्रत्यक्ष घटना को भूल जाता।[8] यदि ऐसी विपत्ति में फँस जाती जहाँ पति से बच पाना कठिन हो जाता तो वह अपने पति पर ही झूठा आरोप लगा देती। कथासरित्सागर की एक कथा में वसुदत्ता झूठ मूठ ही नींद का बहाना बनाकर पडी रहती है और घर वाला के खा पीकर सो जाने एव पति का भी नींद आ जाने पर प्रेमी के बताए हुए स्थान को चली जाती है। वहाँ ज्यों ही मरे हुए प्रेमी के

1 क स सा 10 9 129 130
2 वही 10 8 114 125
3 शुक [illegible] पृ 252 255
4 क स सा 10 2 57-66
5 वही 10 5 173 203
6 वही 18 5 113 130
7 शुक [illegible] पृ 50 51 [illegible] पृ 270 271
8 वही [illegible] पृ 101 102 [illegible] पृ 71 [illegible] पृ 74 8 [illegible] पृ 150

शरीर का आलिड्गन कर चुम्बन करती है त्यों ही प्रेमी के शव में प्रविष्ट वेताल दाँतों से उसकी नाक काट लेता है। घर लौटकर सोये हुए पति वाली कोठरी में प्रवेश कर चिल्लाती है—"अरे पति के रूप में इस दुष्ट शत्रु से मेरी रक्षा करो, जिसने मुझ निरपराधी की नाक काट ली।[1] विवाहिता स्त्री अपने प्रेमी के कहने पर बाधक पति की स्वय ही हत्या कर देती या प्रेमी जार द्वारा करवा देती।[2] ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रियाँ सब-कुछ गुप्त रूप से करती-कराती और यदि लोगों को पता चल जाता तो पति के साथ सती होने को उद्यत हो जाती।[3]

इस प्रकार ऐसी स्त्रियाँ लोक-जीवन में लोगों में पतिव्रता भी बना रहना चाहती और प्रेमी जार के साथ ससर्ग करते रहना चाहती थी। प्रिय जार का उपभोग करने जाने को उद्यत स्त्री अपनी सखी से अपने ही घर में आग लगाने को कहती ताकि सारे लोग घर की आग बुझाने में व्यस्त हो जाएँ और वह अपने प्रिय के सग निर्बाध ससर्ग कर सकें।[4] व्यभिचारिणी दुष्ट स्त्रियाँ अपने घर तक को फूँक देती हैं, फिर भी वे पत्नी, सच्चरित्रा बनी रहना चाहती हैं। बहाने बनाने में चतुर स्त्रियाँ अपने अपने पुरुषों को ठग लेती है।[5] यह लोक-जीवन में ही कहा जाता रहा होगा—

पुमासमाकुल क्रूरा पतित दुर्दशावटे।

जीवन्तमेव कृष्णाति काकीव कुकुटम्बिनी।" अर्थात् सच है क्रूर और कुलट स्त्रियाँ दुर्दशाग्रस्त एव व्याकुल पतियों को जाते ही जीते कौवियों के समान नोच खाती हैं।[6] इसीलिए स्त्रियों का हृदय भयानक, घने अधेरे से भरा अधे कुएँ के समान अगाध और गिरने के लिए बडा गहरा होता है। "एव स्त्रियो भवन्तीह निसर्गविषया शठा" अर्थात् इस ससार में स्त्रियाँ दुष्टा और स्वभाव से विषम होती हैं।[7] एक ऐसी गुरूमाता का उल्लेख हुआ है जो एकान्त में सुन्दरक नामक शिष्य से अनुचित प्रस्ताव रखती है और उसके मना कर देने पर वह गुरमाता सुन्दरक पर बलात्कार का आरोप लगाती है।[8]

स्त्रिया की वाचाल प्रवृत्ति सदैव रही है। उनकी वाणी में सयम नही होता है। वे किसी भी गुप्त बात को पचाने में असमथ होती है।[9] इसीलिए तो आज भी लोक जीवन मे यह मान्यता है कि किसी बात को हवा देनी हो तो वह बात किसी स्त्री को बताकर उससे यह कह दो कि "यह किसी को कहना मत।" बस बात सर्वत्र फैल जायेगी। अपमानित स्त्री तो सर्पिणी सदृश होती है अर्थात् अपकार किये बिना नही रह सकती।[10]

---

1 क स सा 12 10 1 95
2 वहा 10 1 68 78 6 8 182 187 सि.द्वा, पृ 134 135
3 सि. द्वा, पृ 134 135
4 शुक अष्टमाकथा पृ 59-60
5 "इन्यमत्यैकरचनाचतुरा कुस्त्रिय शठा।" क स मा 10 10.52
6 वग 4 7 27, "स्त्रीपि को न खण्डित।" शुक त्रयोविंशतितमाकथा पृ 127 128
7 क स सा 12 10 72 88
8 वग 3 6 120 123
9 वहा 1 1.52 53
10 कस्य रक्ताम्मुखा गाल्कलान्तर्विषदु सन।तिष्टदनपकृत्य स्त्री भुजगाव विकारिता॥

—वही 6 1 87

लोक जीवन में कुछ ऐसे स्वाभिमानी लोग भी थे जो पर पुरुष के गृह मे रही स्त्री का लोक निन्दा के भय से त्याग भी कर देते थे।[1] इसीलिए लोक जीवन में यह मान्यता प्रचलित थी कि पत्नी का सगे सम्बन्धियो के घर अधिक दिनो तक रहना दुभार्ग्य का कारण होता है।[2] जहाँ उसके स्वच्छन्द होने से चरित्र भ्रष्ट की अधिक सभावना रहती है। अर्थ लोलुप व्यक्ति अपनी स्त्री को देह व्यापार के लिए प्रेरित करते थे। अर्थलोभी अपनी पत्नी से कहता है—"प्रिय ! यदि एक रात में पाँच हजार वस्त्र और पाँच सौ चीनी घोडे मिलते है तो क्या दोष है ? तू उसके पास जा और सवेरे जल्दी ही आ जाना।"[3] इसके अतिरिक्त स्वय स्त्रियाँ भी धन एव आभूषण के बदले देह व्यापार करती थी।[4] स्त्रियों का अपहरण भी होता था।[5] लोक में परिव्राजिका के रूप में कुट्टनियाँ स्त्रियों की दलाली करती थी।[6] स्त्रियाँ मद्यपान करती थी। उन्हें तत्र मत्र की जानकारी थी। एक स्त्री के प्रेमी द्वारा पीटे पाने पर, उस समय तो वह सहन कर लेती है परन्तु काम क्रीडा के बहाने उसके गले में धागा बाँधकर उसे बकरा बनाकर एक व्यापारी को इच्छित मूल्य लेकर बेच देती है।[7]

कन्या

लोक जीवन में कन्या का पराये घर की धरोहर माना जाता रहा है। जातैव हि परस्यार्थे कन्यका नाम रक्ष्यते। अर्थात् कन्या उत्पन्न होते ही दूसरे के लिए पालित पोषित एव रक्षित की जाती है।[8] कन्या दान श्रेष्ठ दान माना गया है। कन्या तो पुत्र से भी उत्तम होती है जो इहलोक और परलोक मे भी कल्याण देने वाली होती है।[9] कन्यादान के बिना पुरूष की पाप शान्ति नही मानी जाती है।[10] कन्या के विवाह को लेकर माता पिता अत्यधिक चिन्तित रहते क्योंकि कन्या उनकी जीवन भर की कमाई होती है।[11] कन्या के लिए पिता ही सकल सिद्धि का देवता माना गया है।[12] बाल्यावस्था के अनन्तर पति के बिना पिता के गृह मे रहने वाली कन्या पर गुणों से ईर्ष्या करने वाले मिथ्या कलक लगाते जिससे

1 क स सा 9 1 67 70
2 बृ क श्लो 20 210 215
3 क स सा 7 9 85-86
4 शुक पचविशतमीकथा पृ 156 158
चतुस्त्रिशतमीकथा पृ 154 155
5 क स सा 12 2 65
6 वही 2 5 122 166
7 वही 7 3 149 154
8 बृ क श्लो 12 11 17 क स सा 9 1 3।
9 ... पुंभ्योऽप्युत्तमा कन्या शिवायेह परत्र च ॥
फल यच्च सुतादानात् ... तत् ... ॥ —क स सा 6 2 47 50
10 कन्यादानादृते पुंसि कि स्यात्शान्तिपरान्तये।
न च बन्धुसमाभिन्ना कन्या ... ॥ —वही 9 1 38
11 वही 9 1 61
12 वही 17 3 20

वह लोक जीवन मे निन्दा एव चर्चा का विषय वन जाती है।[1] पिता अपनी कन्या का विवाह वर में उचित गुणों को देखकर नजदीक के देश में ही करना चाहता था।[2]

कन्या जन्म दुःख का विषय मात्र इस कारण था कि उसका जीवन सास, ननद आर विधवापन से दूषित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह अकेली कष्टों को सहती है। स्पष्ट है विधवा विवाह का प्रचलन लोक जीवन म नही था।[3] विवाह मे पहले ही वर लिए गये पुरुष के अतिरिक्त कन्या के लिए और सभी पर परुष एव दूसरो के लिए वह कन्या परस्त्री के समान होती थी।[4] स्वय कन्या भी जिसको पति मान लेती आर यदि पिता अन्य वर क साथ उसका विवाह करना चाहता तो युक्ति से उस कन्या को अभिलषित वर द्वारा हरण कर लिया जाता था।[5] परन्तु लोक-जीवन मे पुत्र का न होना अत्यधिक कष्टकारक था। सारी सतानों के लडकियाँ होने की स्थिति में भी व्यक्ति पुत्र ही प्राप्त करना चाहता था। एक स्त्री का पति मात्र इसी कारण स उसे मारता पीटता है। वह स्त्री पीटने का कारण बताती हुई कहती है—"मेरी सारी सताने लडकियाँ हैं, पुत्र न होने के कारण मेरी दुर्दशा हो रही है। [6] कन्या गुणो मे श्रेष्ठ सुन्दर एव अभिलषित पति को पाने के लिए शिव गौरी की पूजा करती थी।[7]

दासी

सस्कृत लोककथा साहित्य म सेवावृत्ति म सलग्न दासियाँ अपनी जीविका के लिए धन अर्जित करने वाली वेश्याओं, वाराडगनाओं (कुट्टनी के अधीन) गणिकाओं, देवदासियों का ऐसा वर्ग था जिन्हें समाज में निम्न एव हेय माना जाता था। जो स्वय के लिए नही, बल्कि स्वामी के लिए जीती थीं। उनके जीवन पर स्वामी का अधिकार था, उनकी इच्छा का कोई महत्त्व न था। दासियाँ सदैव स्वामी की सेवा में तत्पर रहती थी। विभिन्न कार्य करने मे उस दासी धात्री परिचारिका दूति, प्रेष्या, अनुचरी, चेटी आदि नामों से अभिहित किया जाता था।[8] अन्तःपुर में सभी रानियों राजकुमारियों के अलग से दासियाँ नियुक्त होती थी। इच्छित गुप्त कार्यों क सम्पादन में दासियाँ ही उनकी अतरग सखी एव दूती होती थी।[9]

---

1 यौवन कन्यकाभावश्चिर पुत्रि न युज्यत।
मिथ्या वर्णन्ति दोष हि दुर्जना गुणमत्सरा ॥ —क स. सा 5 1.204

2 बृ क म 2 3 171 172 क स. सा. 2.5 69 70

3 कन्या नाम महद्दु ख धिगहो महतामपि।" —क स. सा. 7 1 125 6 3 92

4 वरात्पूर्ववृताच्चान्ये कन्याया परपुरुषा।
परदाराश्च सा तेषा तत्कथ मोह एव व ॥ —वही 9 6.275

5 वही 18 4 255 256

6 सि. द्वा पृ 20 21

7 क स सा 11 1 65-66 12 6-133

8 बृ कृ श्लो 2 19 20 17 26 31 क स. सा. 7 2.3 5 7 2 70 2 2.135 140

9 पुनस्तद्धम्यकोटीश्च दश दासीशतत्रयम्।
स्वनकृत ददौ सोऽस्यैकृती कर्पूरको नृपः ॥ क स. सा. 7 9 216

वेश्या एवं देव-दासी

तत्कालीन समग्र वेश्याओं को लोक नारी में सम्मिलित नहीं किया जा सकता है। वेश्यालय को जाना बुरा नहीं था। वेश्याओं की समाज में प्रतिष्ठा थी।[1] राजा सामन्त ब्राह्मण एवं ऐश्वर्य सम्पन्न लोग वेश्यालय जाया करते थे। वेश्यावृत्ति में संलग्न स्त्रियाँ प्रायः सुसम्पन्न थी।[2] परन्तु वेश्यालयों में अवश्य ही कुछ ऐसी नारियाँ भी रही होंगी जो अपनी सामाजिक आर्थिक या अन्य किसी परिस्थितिवश वेश्यावृत्ति के लिए विवश हुई होंगी या वेश्याओं के दलालों के माध्यम से वहाँ पहुँचा दी गयी होंगी। वेश्याओं के दलाल का उल्लेख हुआ है।[3] "कः प्राज्ञो वाञ्छति स्नेहं वेश्यासु सिकतासु च।" वेश्या में स्नेह बालू में तेल की भाँति असंभव होता है।[4] वेश्या प्रेम से दूर होती है। "नटीव कृत्रिमं प्रेम गणिकार्थाय दर्शयेत्" सुशिक्षिता वेश्या धन के लिए नटी के समान कृत्रिम प्रेम प्रदर्शित करती और आसक्त व्यक्ति के धन को दुह लेने के बाद उसका त्याग कर देती है।[5] कभी कभी वेश्या भी किसी से सच्चा प्रेम कर बैठती थी।[6] वेश्यावृत्ति को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। वेश्या की भाँति गणिका भी वंचक प्रवृत्ति की रही है। ये नृत्य गीत आदि के द्वारा मनोविनोदपूर्ण परिचर्या करनेवाली होती थी।

इनके अतिरिक्त स्त्रियों का एक वर्ग मंदिरों से सम्बद्ध रहा है। जिसे देवदासी कहा जाता रहा है। "संभवतः आरम्भ में वे सामान्य नागरिकों की कन्याएँ होती थी जिन्हें शैशवकाल में ही देवता को भेंट के रूप में वे दे आते थे। नगर के मंदिरों में सुन्दर देवदासियाँ रहती थी। दुर्भिक्ष आदि के समय माता पिता अपनी कन्याओं को अपना उदर पूर्ति के लिए बेच देते थे तथा उनको मंदिर के पुरोहित क्रय कर लिया करते थे। कभी कभी धार्मिक वृत्ति के माता पिता अन्धविश्वास में पड़कर स्वतः भगवान की शरण में अपनी कन्याओं को समर्पित कर अपने को महान् धार्मिक मानते थे। बुरे नक्षत्र के योग में जन्म अथवा अशुभ विकार चिह्न और लक्षणयुक्त कन्या को परिवार में अमांगलिक समझा जाता था। माता पिता परिवार को अमंगल से बचाने हेतु देव मंदिरों में जाकर उन्हें देवताओं की सेवा में समर्पित कर देते थे।"[7]

नारी शिक्षा

संस्कृत लोककथा साहित्य के लोक जीवन में नारी की शिक्षा के विषय में जानकारी समुपलब्ध नहीं होती है। रानियों राजकुमारियों एवं श्रेष्ठीवर्ग की नारी के संगीत नृत्य

---

1 क. स. सा. 10.1.66-70
2 वही 7.4.19.27
3 वही 1.6.52
4 वही 10.1.128
5 धनेन पूज्यते पुंसि सर्वो वेश्या विशेषतः नस्त्र रम्यनुरागिण्या राग वेश्या लभेन्नरः ॥61
दोषन्दूता रागो हि वेश्यास्विवनमथ्यमः निम्वैव सर्पिदेश्या न नटीव सुशिक्षिता ॥ 62
—वही 10.1.61-62 2.4.94
6 वही, 2.4.95 96
7 क. स. सा. तथा भा. स., पृ. 187 188

वाद्य एव चित्रकला में शिक्षित होने के प्रचुर उल्लेख हुए हैं।[1] सर्वप्रथम तो स्त्री इतनी स्वतत्र न थी कि वह पुरुष की भाँति गुरु के पास विद्या अध्ययनार्थ जा सके। कथासाहित्य में विभिन्न गुरु कुलों मे स्त्री के शिक्षा ग्रहण करने का कही उल्लेख नही है। राजा सामत एव धनी वर्ग की स्त्री के नियमित शिक्षा प्राप्त करने का भी कही उल्लेख नही हुआ है। परन्तु उसके शिक्षित होने के उल्लेख हैं। इससे स्पष्ट है कि उच्च वर्ग अपने प्रासाद अट्टालिकाओं में ही कन्या की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करता था। सभव है कि गुरु राज प्रासाद मे आकर कन्याओं को शिक्षा प्रदान करते रहे होंगे। ऐसी स्थिति में लोक जीवन मे स्त्री की शिक्षा के विषय में क्या कहा जाए। न तो उनके पास शिक्षा प्राप्त करने के साधन थे न ही लोग आर्थिक दृष्टि से इतने सम्पन्न थे कि उसके लिए अलग से शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर सकते। ऐसी स्थिति में लोक-जीवन में नारी की शिक्षा तो यही थी कि वह गृहकार्य में दाक्षिण्य प्राप्त कर लें। उसके लिए तो माता-पिता एव बडे बूढे ही गुरु थे। कन्या अपनी माता से काढना बुनना, कातना, चित्रकारी करना आदि कार्य सीखती थी। इसके अतिरिक्त कन्या गृह कार्य में हाथ बँटाती रही होगी। एक कन्या के खेत की रखवाली करने का उल्लेख है।[2]

सती-प्रथा एव वैधव्य

सस्कृत लोककथा मे समाज के प्रत्येक वर्ग में सती प्रथा का प्रचलन था। सती" से तात्पर्य है—मृत पति के शव के साथ स्त्री का चिता में प्रवेश करना।[3] कथासाहित्य में सती प्रथा की न तो प्रशसा ही की गई है और न निन्दा ही। किसी स्त्री को न तो सती होने के लिए बाध्य करने का एव न ही सती होने से रोकने का उल्लेख है। परन्तु गर्भवती स्त्री के सती होने का निषेध है।[4] सती प्रथा के पीछे अवश्य ही कोई कारण रहा है। क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्रियों के भी सती होने के उल्लेख हैं।[5] सती होने का कारण पति पत्नी प्रेम रहा हो। लोक जीवन में मान्यता प्रचलित रही हो कि प्रेम में पति का विरह असह्य होने से स्त्री पति के साथ चिता में जल जाती है। और ऐसी मान्यता के पीछे कोई घटना विशेष ही रही होगी। यह भी कारण रहा हो कि समाज में विधवा को हेय एव निम्न समझा जाता रहा हो। विधवा जीवन की दयनीय स्थिति के कारण वह पहले ही वैधव्य से मुक्ति पा लेना चाहती हो। या ऐसी रूढि बन गई थी। एक बाला एव वृद्धा

---

1 क स सा 17 4 24 2 4 27 1 7 116 118 9 1 6 9 5 92 9 2 266 8 2 234 9 5 68 17 4 26 14 2 111 2 1 40 6 8 170
The maidens and ladies however in the kathasaritsagar are more remarkable for their proficiency in dance and music and some of them were painters too The arts of composing poetry and letter writing included in the group of Sixty four Kalas which cultured girls were expected to master according to Vatsyayana were not neglected by them Cultural life of India as known from Somadeva p 95

2 शुक चतुर्विंशतिमाकथा, पृ 154 155

3 क स सा 12 1 33 39 6 8 89

4 वही 4 1 112 113

5 सिं द्वा, पृ 134 135 क स सा 10 2 57-66

के सती होने की घटना के आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि सती होना समाज में एक रूढ़ि बन गई थी। बाला वैधव्य में दूषित लम्बी जिन्दगी एवं वृद्धा स्त्री वृद्धावस्था के कष्टों से घबराकर ही अग्नि में प्रवेश कर गई हो।[1] सती होने का एक ऐसा उदाहरण भी है जिसमें तीर्थाटन करते हुए प्रयाग में देव दर्शन के देहावसान की सूचना पाकर उसकी पत्नी भी अग्नि में प्रवेश कर जाती है। देव दर्शन की पत्नी पति की चिता में प्रविष्ट नहीं हुई बल्कि उसके देहावसान की सूचना पाकर अग्नि में कूद गई।[2] सिद्ध है कि वैधव्य अत्यन्त दयनीय एवं कष्टकापूर्ण था।

विधवा से तात्पर्य ऐसी स्त्री से है जो न तो पुनर्विवाह करती है और न ही सती होती है। लोक जीवन में विधवा की स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है। इसी कारण अधिकतर स्त्रियाँ पति के साथ सती हो जाती थीं। गर्भवती स्त्री को सती होने का अधिकार न था अतः उसे वैधव्य कष्ट सहने पड़ते थे। एक छोटे से पुत्र वाली विधवा युवती यौवन तृष्णा की शांति एवं आत्म संतोष के निमित्त प्रत्येक रात को जहाँ तहाँ पर पुरुषों के साथ समागम हेतु जाती थी।[3] लोक जीवन में यद्यपि पर्दा प्रथा का प्रचलन था परन्तु घूँघट प्रथा विवाहिता स्त्रियों में प्रचलित थी।[4]

इस प्रकार लोक जीवन में नारी के विभिन्न चरित्र रूप मिलते हैं। वस्तुतः स्त्रियाँ भी समाज की नारी का एक रूप कदापि नहीं हो सकता है। लोक जीवन में यद्यपि कन्या का जन्म कष्टकारक था परन्तु पापों की शांति एवं इहलोक परलोक के सुख का कारण कन्या मानी गई है। कन्या दान को श्रेष्ठ माना गया। विवाह योग्य कन्या को घर में रखना दुर्भाग्य एवं लोक निन्दा का कारण समझा जाता था। ऋतुमती कन्या का घर में रहना [illegible] के लिए अशुभ एवं अकल्याणकारी था। प्रेम का सत्य सरल एवं पुनीत रूप लोक जीवन में ही था। उच्च वर्ग में तो प्रेम का नाटक मात्र था। उच्चवर्ग के लिए नारी विलासिता की एक वस्तु मात्र थी। लोक जीवन में पतिव्रता एवं व्यभिचारिणी दोनों तरह की स्त्रियाँ थीं। पतिव्रता के लिए पति ही सब कुछ था। पति ही उनकी गति थी। पतिव्रता स्त्रियाँ मन में पर पुरुष का ध्यान तक नहीं करती थीं।

"शुकसप्तति" तो व्यभिचारिणी स्त्रियों की खान है। परन्तु इसके आधार पर तत्कालीन समग्र नारियों को व्यभिचारिणी नहीं कहा जा सकता है। "शुकसप्तति" एक प्रसंग विशेष में लिखा गया कथा ग्रंथ है जिसका उद्देश्य एक स्त्री के चरित्र की रक्षा करने के साथ ही व्यभिचारिणी स्त्रियों की जीवन छवि प्रस्तुत करना है। लोक जीवन में ऐसी विवाहिता व्यभिचारिणी स्त्रियाँ अवश्य रही जो विभिन्न बहानों से पति को मूर्ख बनाकर पर पुरुष के संग रमण करती थीं। परन्तु इस व्यभिचार के लिए पुरुष भी उतना ही जिम्मेदार है जितनी स्त्रियाँ। पुरुष भी व्यभिचारी था। अतः मात्र स्त्रियों को ही दोषी ठहराया जाना न्यायोचित नहीं होगा। दासियाँ स्वामिनी की विलासिता के साधन उपलब्ध कराने में एक

---

1 क स सा 9.6.160 4.1.110
2 वही 12.6.46 71
3 वही 11.2.94 96
4 शुक हिर्वमितवीकथा पृ 252 255 क स सा 12.4.167

प्रतिपल उसकी सेवा-सुश्रूषा में लगी रहती थी। वेश्याओं में भी कुछ ठेठ लोक-नारी रही जो परिस्थिति के वश होकर देह-व्यापार से जीविका कमा रही थी। देवदासियों की भी यही स्थिति थी। इन सबके अतिरिक्त लोक-जीवन में ऐसी नारी भी थी जो अपनी जीविका कमाने के लिए कमरत रहती थी, अपने पति के कार्य में हाथ बँटाती थी। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि लोक-नारी की स्थिति न तो बहुत अच्छी और न ही बुरी थी। परन्तु लोक-नारी का अधिकतम प्रतिशत परिस्थितियों का शिकार था। उन्हें स्वतंत्रता न थी, उन्हें अविश्वास की खान कहा जाता था और तो और उच्चवर्ग के लिए तो यह विलासिता या उपभोग की वस्तु थी।

6 दास-दासी

दास दासी लोक का एक ऐसा वर्ग रहा है जो स्वय के लिए नही, अपितु उच्चवर्गीय राजा, सामत, पूँजीपति एव जमीदार के लिए जीता रहा है। उनकी सेवा में तत्पर रहना ही उसकी दिनचर्या है। समाज व्यवस्था में वह स्वय भी इस कर्म में लीन रहकर सतुष्ट रहा है। सभवत इसका मूल कारण यह रहा हो कि पूर्वजन्म के कर्मों का फल, भाग्य, ईश्वर की देन आदि धार्मिक पहलुओं ने समाज में स्थापित सडी-गली व्यवस्था के सत्य को समझने पहचानने के लिए आवरण को उद्घाटित न करने दिया। और वह इस कर्म को कर्त्तव्य समझकर करता रहा। सेवक के धर्म के विषय में कथा साहित्य में कहा गया है कि "वह स्वामी के हित को बिना अधिकार के भी करे।[1] और कहना न मानने वाले स्वामी का भी सेवकों को विवश होकर अनुगमन करना चाहिए।[2] दास को स्वामी की आज्ञा का हर हालत में पालन करना चाहिए। इस विषय में "बृहत्कथाश्लोकसग्रह" में कहा गया है कि "केवल आज्ञा रूपी सम्पत्ति से ही भृत्य और भर्त्ता में भेद होता है।"[3] अर्थात् स्वामी एव दास में भेद का आधार मात्र आज्ञा ही था। परन्तु हम देखते हैं कि दास तो मात्र स्वामी के उपभोग की एक वस्तु मात्र बनकर रह गया था। यहाँ तक कि भृत्य द्वारा स्वामी का आलिङ्गन भी बहुत बडा अपमान माना जाता था।[4] स्वामी की आज्ञा को व्यर्थ बना देने वाले सेवक के विषय में कहा गया है कि वह निर्मल सदृश होकर भी चद्रमा के कलक के समान है।[5] दास (सेवक) स्वय भी अपने जीवन की सार्थकता स्वामी के हित में समझता था। कथासरित्सागर में एक कथा है जिसमें स्त्री के रूप में पृथ्वी के "आज के तीसरे दिन राजा की मृत्यु" कहने पर वीरवर के राजा के जीवित रहने का उपाय पूछने पर पृथ्वी बताती है—"इसका एक ही उपाय है और वह तुम्हारे

1 क स सा. 10 4 111
2 "अकुर्वन्वचन भृत्यैरनुगम्य पर प्रभु।" वही 7 8 28
3 "आज्ञा तु प्रथम दत्ता कर्त्तव्यैवानुजाविना।
आज्ञासपत्तिमात्रेण भृत्याद्भर्ता हि भिद्यते॥" बृ क. श्लो. 15 157
4 वही, 20 143-146
5 शुक एकोनपञ्चाशत्तमीकथा, पृ. 203

अधीन है।" यह सुनकर प्रसन्न हुआ वीरवर अपने स्वामी के जीवन के लिए कहता है "यदि ऐसा है तो उसे शीघ्र बताओ, जिससे मेरे प्रभु के प्राणों का कल्याण हो। मेरे और मेरी स्त्री तथा पुत्र के प्राणों से भी यदि कोई उपाय हो तो मेरा जन्म सफल हो। तदनन्तर पृथ्वी के कहे अनुसार राजभवन के पास ही चण्डिका देवी के मंदिर में उसके पुत्र सत्ववर की बलि चढाने पर उसकी बहिन भाई के शोक में प्राण त्याग देती है और वीरवर की पत्नी पुत्र पुत्री की चिता के साथ जल जाती है। अन्तत्वोगत्वा वीरवर स्वय मरने को उद्यत होता है। इसी समय आकाशवाणी होती है जिसमें वीरवर पहले राजा की सौ वर्ष आयु मागता है, फिर पत्नी एव बच्चों का पुनर्जीवन मागता है एव वह कहता है—"अन्न खाया, उपकार करना चाहिए स्वामिभक्त पुत्र या अपने प्राणों की चिन्ता नहीं करते।"[1] इस प्रकार उच्चवर्ग अपने जीवन की रक्षा दास वर्ग के प्राणों से करता था। अपशकुन होने पर गुणशर्मा उसके अशुभ फल को स्वय के लिए मागता है और स्वामी का भला चाहता है।[2] गुणशर्मा स्वय कहता है कि सेवक और स्वामी में समान व्यवहार नही हो सकता है।[3] इस प्रकार चाहे दास हो या दासी उसका जीवन, उसकी दिनचर्या स्वामी के लिए थी। कथासाहित्य में हम पाते हैं कि यह वर्ग हर क्षण दिन हो या रात, स्वामी की सेवा में लगा हुआ है। उसको नीद नहीं आ रही है तो कोई कहानी सुना रहा है कोई हाथ पाँव दबा रहा है।[4] कोई शयन व्यवस्था कर रहा है[5], कोई सुरा सुन्दरी आदि विलासिता के साधन उपलब्ध करा रहा है[6], मृगयाव्यसन में पीछे पीछे भाग रहा है।

अन्तःपुर की समस्त व्यवस्था का दायित्व दासियों पर था। रानियों एव राजकुमारियों के लिए अलग अलग दासियाँ नियुक्त थी। दासियों का जीवन तो और भी बदतर था। वे तो दहेज में दी जाने वाली एक वस्तु मात्र थीं। राजा सामतों के यहाँ विवाह में दासियाँ भी हाथी घोडे ऊट के साथ दहेज रूप में दी जाती थीं।[7] अन्तःपुर में भोजन की व्यवस्था से लेकर रानियों के स्नान, उबटन विलेपन, नवीन वस्त्र आदि का दायित्व दासियों पर ही था।[8] राजकुमारियों एव रानियों के प्रेमियों से समागम की समुचित व्यवस्था भी विश्वस्त दासियाँ करती थी।[9] उस समय वह दासी सखीवत होती थी परन्तु प्रेम प्रसगों में दासियों द्वारा तनिक भी बाधा पहुँचाने या गलती हो जाने पर क्रोधवश उन्हें देश निकाला तक

---

1 भुक्त मया तदन्न यच्चोधनीय प्रयापि तत्।
तन्नीत्वा तत्कृते देव्या उपहारैकुरुच माम्॥ 41 —क स सा 9 6 112 180

2 वही 8 6 130-133

3 "भृत्योऽह त्व प्रभुस्तनौ व्यवहार कथ सम।" —वही 8 6 135

4 वही 2 2 23 6 6 146

5 वही 10 4 132 133

6. वही 5 1 60

7 तयान्यः पितृवेश्मसु स्थितयौवनाश्व स स्वप्रिया दत्तैस्तत्पितृभिर्गजाश्ववनितहेम्नादि महेयागढ।
नानारत्नमुपूर्णपार्थिवनैकेर्ष्च महार्घाणिशैलीनादर्शितदिग्जयोत्सवविषयरवके प्रजाकौतुकम्॥
—वही 8.1 185

8 वही 4 1.51 7.2.70

9 वही 12.8 126-127

दिलवा देती थी ।[1] राजकुमारियाँ जो मन की बात स्वय अपने पिता से न कह पाती दासियों के मुँह से कहलवा देती थी ।[2] किसी बाह्य व्यक्ति के आगमन की सूचना भी दास-दासी को ही देनी होती थी ।[3] राजकुमारियाँ अनचाहे व्यक्ति को अपमानित कर दासियों के द्वारा अन्तपुर स बाहर निकलवा देती थी ।[4]

दहेज में प्राप्त दासियों नृत्य गीत आदि से मद्य सेवन में लीन राजा का मनोविनोद करती थी ।[5] सभव है दहेज में प्राप्त दासियों के साथ सहवास भी करता था तथा चरित्र की दृष्टि से बचने के लिए राजा इन दासियों का नाम मात्र के लिए किसी दास या अन्य व्यक्ति से विवाह करा देता था। जिसके साथ विवाह होता, वे दोनों पति पत्नी तो कहे जाते रहे मगर एक-दूसरे स मिल नहीं सकते थे। राजा की ऐसी दासियों से उत्पन्न सतान वर्णसकर दास दासी कही जाती थी। "बृहत्कथाश्लोकसग्रह" में वर्णसकर जाति के दास का उल्लेख हुआ है ।[6] इसी क्रम में यह भी सभव है कि उस समय वशानुगत दास परम्परा भी रही हो। दास की सतान दास ही होगी ।[7] प्रतिज्ञावश भी दासता स्वीकार करना पडता था। कश्यप-पुत्र गरुड की माता प्रतिज्ञावश ही नागों की दासता में पडी हुई है ।[8]

दासियों में आदरणीय एव विश्वसनीय स्थान धात्री का था। धात्री वृद्धा होती थी। बच्चों की देख रख एव प्रसूति से सम्बन्धित कार्य का उत्तरदायित्व धात्री पर था। अत धात्री मातृवत् एव पूज्य थी ।[9] कुछ दास दासी स्थायी रूप मे स्वामी के यहाँ रहते थे। स्वामी ही उनके लिए सब कुछ होता था। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी दास दासी होते जो अपने अनुरूप घर बनाकर अपने स्वामी के घर से प्राप्त पक्वान्न से जीवन-निर्वाह किया करते थे ।[10] स्वामी की भक्तिपूर्वक आराधना करने पर भी सेवक की शोकमूलक दुस्थिति यह थी कि कभी कभी उसकी सेवा भी अपराध बनकर रह जाती थी ।[11] "वह एक टूटी फूटी वीणा की तरह टूटा रहा और माला की तरह जल्दी ही मलिन हो जाता है। भूमि पर शयन करने वाले भोजन रहित शील हवा धूप मे नष्ट मुनियों की तरह व्रत करने वाले होने पर भी सेवक नरक के समान क्लेश को सहते हैं। उनकी अजलि स्वामी के दरवाजे की तरफ जुडी रहती है और जिह्वा स्तुति में लगी रहती है और नम्रता में शिर झुका रहता है।"[12]

1 क.स.सा. 18 3 83-85
2 वही 7 9.224 7 9 210
3 वही 5 3 45
4 वही 5 1 76
5 तच्चेटिकाना दिव्यन नृत्यगातन रञ्जित ।
आपान सवमानश्च सचिवै सह तस्थिवान् ॥ —वही 9 2 2
6 बृ क श्लो 22 13
7 वही 7 65
8 क स. सा. 2 4 138
9 वतालपचविंशतिका, पृ 8, क. स. सा. 12 8 94 13 1 41-45 9.5 193 बृ क म, 9 2 102
10 क. स. सा. 6 1 90
11 बृ. क श्लो. 11 48-49
12 क्षेमेन्द्र एक सामाजिक अध्ययन, पृ. 62-63

इस प्रकार दास दासी के लिए स्वामी ही सब कुछ था और दास दासी का जीवन स्वामी के लिए था। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दास दासी उच्चवर्ग के उपभोग की वस्तु थे या उनकी विलासिता को जीवित बनाए रखने के उपकरण मात्र बनकर रह गये थे।

7 खान-पान

भोजन एवं जल जीवन के आधार है। और भोजन की अनिवार्यता ही मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है। भोजन के समुपलब्ध होने पर मनुष्य में लालच जागता है, जो उसे भौतिक ससाधनों के जाल में फँसने को मजबूर करता है। समाज में खाली पेट वाला भूखा एवं भरे पेट वाला सुसम्पन्न दोनों ही चोरी करते हैं। परन्तु दोनों के तरीके एवं आवश्यकताएँ अलग अलग होती है। एक "बुभुक्षित किं न करोति पापम्" से चोरी करता है तो दूसरा भौतिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए या लालचवश चोरी करता है। परन्तु संस्कृत लोककथा में खाली पेट होने को भी भाग्य में लिखा होना एवं पूर्वजन्म के कर्मों का फल मानने वाले लोक को हम आगे बढ़ते नहीं देखते हैं। कथासाहित्य के समाज में दो वर्ग हैं। एक तो वह वर्ग है जो राजा है सामन्त हैं सुसम्पन्न श्रेष्ठी या जमीदार है जिसके पास खान पीने के लिए पर्याप्त साधन एवं सुविधाएँ हैं और जिनका जीवन विलासितापूर्ण है। दूसरा जो वर्ग है वह प्रासादों एवं अट्टालिकाओं में निवसन वाले उच्चवर्ग का सेवक है तथा उस जीवित रखने एवं उसकी विलासिता का साधन है। वह न तो पूर्णरूप से स्वतंत्र है न ही स्वयं के लिए जी रहा है बल्कि सेवक या दास है। जो दीन अनाथ है वह भिक्षाटन हेतु दर दर की ठोकर खा रहा है। उसकी वृत्ति ही भिक्षा बन गई है। वह अत्यधिक परिश्रम करने के उपरान्त भी बहुत कम पारिश्रमिक प्राप्त करता है। जंगल में रहने वाली शबर भील चाण्डाल आदि जातियाँ जंगली जानवरों का शिकार कर पेट भर रही थीं तो राजा सामन्त के लिए शिकार मनोरंजन था।

संस्कृत लोककथा के समाज में उच्चवर्गीय राजा सामन्त ऐश्वर्यसम्पन्न श्रेष्ठी एवं जमीदार को इच्छित आहार उपलब्ध था। राज प्रासादों में भोजन के विशेष कक्ष बने हुए थे। जो सुरुचिपूर्ण ढंग से सजे हुए होते थे। वहाँ लगे होते एवं जहाँ सुस्वादु विविध आहारपूर्ण पात्र रखे होते थे।[1] भोजन बनाने के लिए रसोइये होते थे।[2] आहार में अन्नाद एवं क्रव्याद दोनों प्रकार की सामग्री उपलब्ध होती थी। मृग[3] भैंसा[4] छाग[5] मछली, कछुआ केकड़ा[6] आदि के माँस के भक्षण का उल्लेख हुआ है। माँस के विभिन्न प्रकार के भोजन बनाये जाते थे। माँस में घृत डालकर उसे भूना जाता था।[7] माँस का स्वादिष्ट व्यंजन बनाया जाता था।[8] घी माँस और व्यंजन के एक साथ खाने का उल्लेख भी हुआ है।[9] अन्नाद में मुख्य रूप से सत्तू[10] पक्वान्न[11] खीर[12]

1 क स सा 8 2 227 15 2 131
2 वही 8 2 229 7 7 70 8 6 41
3 वही 14 3 10
4 वही 10 8 213
5 वही 17 1 101
6 बृ क श्लो 18 307 313 क स सा 18 2 112
7 क स सा 10 5 252
8 वही 9 4 161
9 वही 10 6 21 12 35 113
10 वही 12 4 167
11 वही 12 8 142
12 वही 12 21 47 5 3 207

अपूप[1] सूप[2] गुड[3] व्यञ्जन[4] फलाहार[5] गोधूम[6] चावल[7] आदि खाये जाते थे। "रूचिकर भोजन के साथ रूचिकर पान भी आवश्यक था।"[8] पेय पदार्थों में मदिरा[9] प्रमुख था। इसके अतिरिक्त आसव[10] चरू[11] सीधु[12] आदि भी थे। भोजनादि के पश्चात् मुख शुद्धि के लिए एला (इलायची) लवग, कपूर, ताम्बूल आदि का उपयोग किया जाता था।[13]

रहन सहन की भाँति "लोक" का खान पान भी अकृत्रिम एव सरल था। उसके लिए सुलभ आहार उसके परिश्रम का परिणाम था, जिससे वह अपनी भूख शात कर सकता था। अतिरिक्त अन्न को राजा कर के रूप में लेता था। ग्राम नगर में रहने वाला 'लोक" कृषि, मजदूर, पशुपालन एव काष्ठ, चर्म, उद्यान पालन, मछली पकडना, स्वर्ण आदि से सम्बन्धित विभिन्न व्यवसायों से अपना भरण पोषण कर रहा था तो नगर या ग्राम से बाहर एव जगल में रहने वाली किरात, भील शबर, चाण्डाल आदि जातियाँ जगली-जानवरों के माँस एव कन्द-मूल से अपना पेट भर रही थी। एक तरह से ये जगली जातियाँ आदिम मानव जाति-परम्परा में जीवन जीने वाली अवशिष्ट जातियाँ थी।

"लोक" का प्रमुख खाद्यान्न गेहूँ एव चावल था। गेहूँ को गोधूम[14] एव चावल को ओदन[15] भक्त[16] तण्डुल[17] आदि नामों से अभिहित किया गया है। प्राय जनसामान्य में चावल खाने का प्रचलन अधिक था। शुकसप्तति की एक कथा में दाम्भिला गाँव में सोढाक नामक किसान की पत्नी मादुका के प्रतिदिन क्षेत्र पर भात लेकर जाने का उल्लेख है।[18] चिकनाई एव नमक से रहित कोदो के भात का उल्लेख भी हुआ है।[19] ओखल में मूसल से धान कूटकर चावल निकालने की चर्चा कई बार हुई है।[20] दूध में शर्करा एव चावल डालकर क्षीर बनाया जाता था। इसके साथ घृत का प्रयोग भी किया जाता था—"सक्षी-रघृतशर्करम्।"[21] खीर नैवेद्य के रूप में चढाई जाती थी इसे परमान्न भी कहा गया है।[22] यव का प्रयोग भी मिलता है। यव (जौ) के दानों को पकाकर और उन्हें पीसकर सत्तू बनाया जाता था।[23] सत्तू पाथेय के रूप में प्रचलित आहार था।[24] सत्तू

1 क.स.सा. 18 2 74 2 वही 8 6 41
3 वही 1 1.56
4 "व्यजन ददत्त सूदमेक मामेत्यवारयमत्।"वही 8 6.37
5 The Ocean of Story Volume 9 Foreword 17
6 क स सा 18 2 74 7 वही 9 4 180 14 4 76 1 7 20
8 क स सा. एक सास्कृ अध्ययन पृ 137
9 क स सा. 2 3.5 3 4 27 7 9 63 12.5 10 3 6 230 12 18 10 4 1 6-8 12 8.304 12 4.51 53
10 वही 9 4 198 11 वही 2 1 10
12 वही 3 6 230
13 वही 2 1 81 12 3.5 12 8 142 12 11 18 12 25 42 13 1 46 16 1 16
14 क स सा. 18 2 74 बृ क श्लो. 4 83
15 क स सा 9 4180 10 70 182 183 6 3 86 88 89
16 वही 14 4 76 17 वही 1 7 20
18 शुक द्वात्रिंशत्तमाकथा पृ 11 19 बृ क श्लो 18 184 191
20 क स सा. 18.5 223 21 वही 12 21 47
22 वही 5 3 202 23 वही 12 4 267
24 वही 10 6 106 10 9 141

विशिष्ट विधि से बनाया जाता रहा होगा जो कई दिनो की यात्रा के दौरान रास्ते में खराब नही होता था। खीर कभी कभी या अवसर विशेष पर बनाई जाती थी। रोज रोज एक ही वस्तु-प्रकार के आहार के प्रयोग से ऊब जाने पर खीर आदि विशिष्ट आहार बनाया जाता था।[1] चने का भुजा बनाकर बेचा खाया जाता था।[2] पिष्ट द्रव विशेष रावडी का उल्लेख भी मिलता है।[3] रावडी चावल या गहूँ से पानी या छाछ के साथ बनाई जाती रही होगी। आज भी लोक में रावडी का प्रचलन है।

ब्राह्मण घी, दूध, गुड, शक्कर आदि मधुर वस्तुओं के प्रेमी थे।[4] पुण्य लाभ हेतु अवसर या तिथि विशेष पर ब्राह्मणों साधुओं को भोजन के लिए आमत्रित किया जाता था। उन्हें उत्तम एव स्वादिष्ट भोजन कराया जाता एव दक्षिणा दी जाती थी। दिव्य भोजन में लड्डू, खिचडी, मिष्ठान्न आदि षट् रस युक्त व्यञ्जन का समावेश था।[5] गेहूँ के आटे को पानी और चीनी मे मिलाकर घी मे तलकर पुआ बनाए जाते थे।[6] गुड एव आटे को मिलाकर भी पक्वान्न तैयार किया जाता था जो बहुत प्रिय था।[7] इनके अतिरिक्त व्यञ्जन के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।[8] ग्वालों की बस्ती में गोरस बहुल पवित्र भोजन का प्रचलन अधिक था।[9] भोजन के साथ अन्य खाद्य पदार्थों में शाक भाजी के रूप में कटहल[10] मूली[11] एव लौकी[12] का उल्लेख प्राप्त होता है।

"क्रव्याद केवल पिशाच ही नही मनुष्य भी है। मद्य और माँस भोजन के अभिन्न अग बन चुके थे।"[13] "माँस आखेट के अतिरिक्त बाजार तथा हाट मे खुला बिकता था।"[14] कृष्णवर्ण मृग ताम्रवर्ण मृग कपिशवर्ण मृग तीतर लवा मोर गैंडा और कच्छप के माँस को श्रेष्ठ माना गया है[15] तथा मछली, कछुवा, केकडा आदि जलचरों का माँस बल और वीर्य वर्द्धक कहा गया है।[16] बकरे को मारकर उसका माँस पकाकर खाया जाता था।[17] दीनावस्था में ब्राह्मण के भी बकरे के माँस को आग में पकाकर खाने का उल्लेख मिलता है।[18] तीतर और मुरगे भी पकाये जाते थे।[19] मुर्गों का माँस पकाया एव भूना जाता था।[20] परन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि माँस आहार का अनिवार्य अग नहीं

---

1 क. स. सा. 10.9 141 142
2 कृत्वा ताश्चणकान् भृष्टान् गृहित्वा जल कुम्भिकान् वही 1.6.41
3 शुक षट्त्रिंशतमीकथा, पृ 159 160
4 बृ क श्लो. 16.58 59, क. स. सा. 12.20.47
5 क स सा 10.5.99 10.9.9 186 10.6 181 182 8.2.230
6 वही 18.2.74
7 वही 1.1.56
8 वही 8.6.37
9 बृ क श्लो 20.230 260
10 आम्रवनीपनसद्राडिमरम्यरोधः साथ सरो विहचर्वारिजमाससा।" —क स सा 7.8.224
11 वही 3.6.143 145 146 148
12 बृ क श्लो. 20.233 234
13 क स सा एक सास्कृ अध्ययन, पृ 134
14 क स सा तथा भा स पृ 14
15 शुक एकविंशतमीकथा, पृ 108
16 बृ क श्लो. 1 309 310
17 वही, 19.496-498
18 क. स. सा. 17.1.102 103
19 बृ क. श्लो. 22.95
20 "[illegible]। —क स सा 12.7.117

था।[1] मछली के माँस को तेल में तल एवं भूनकर खाया जाता था।[2] ऐसा भी उल्लेख हुआ है जिसमें एक व्यक्ति मरुस्थल मे सात दिनो तक थकी हारी और भूखी प्यासी अपनी स्त्री को अपने माँस एवं रक्त से जिलाता है।[3] भील जगल मे जीवन बिताते हुए मृग माँस से अपनी भूख शात करते थे।[4] भैंसे का माँस खाने का उल्लेख है। सभवत कच्चा माँस भी खाया जाता था। कथासरित्सागर की एक कथा मे गाँव के कुछ लोग किसी गँवार के भैंसे को ग्राम से बाहर भीलो की कच्ची बस्ती म ले जाकर वट वृक्ष के नीचे मारकर खा जाते हैं।[5] भील लोग पक्षियों को आग में भूनकर खाते थे।[6] चाण्डाल और बहेलिये गो माँस भी खाते थे।[7] कोल भील भैंसों का माँस खाते थे।[8]

इस प्रकार क्रव्याद के विषय में कहा जा सकता है कि समाज के एक वर्ग के लिए आखेट मनोरंजन का साधन था और माँस भक्षण विलासिता एवं सम्पन्नता का सूचक था तो दूसरी ओर समाज में जिसे गवार, अनपढ, असभ्य एवं जगली कहा जा रहा था, वह विभिन्न जगली जानवरो को मारकर अपने पेट की आग को शात कर रहा था। अत यह कहना सभव है कि समाज म आहार सर्वसुलभ नही था। पति के द्वारा अपने माँस एवं रक्त से अपनी पत्नी की भूख प्यास को मिटाने वाले उदाहरण से तो तत्कालीन विकट परिस्थितियाँ एवं सामाजिक विषमता स्पष्ट होती है। जहाँ एक वर्ग विलासिता के पक म डूबा था तो दूसरे वर्ग को दो समय का भोजन भी उपलब्ध न था।

तत्कालीन अरण्यवासी तपस्वी एवं शबर पुलिन्द भील आदि जातियाँ कद मूल आदि खाने म उपयोग करती थी।[9] फलो म ककडी[10] आम, अनार, कटहल[11] जामुन[12] आँवले[13] आदि का उल्लेख है। कथासाहित्य की अनेक कथाओं मे पान का उल्लेख हुआ है।[14] परन्तु प्राय ताम्बूल का प्रचलन उच्चवर्गीय समाज में ही था। ताम्बूल सम्मानसूचक एवं मागलिक था। नागवल्ली के पत्ते के कत्था चूना सुपाडी आदि से युक्त होने पर उसे ताम्बूल कहा जाता था जिसका आज भी लगभग यही रूप है। ताम्बूल का प्रयोग अवसर विशेष पर या भोजनोपरान्त किया जाता था।

पेय पदार्थों मे मदिरा एवं दूध का मुख्य रूप से प्रचलन था। दूध को क्षीर, पय और दुग्ध से अभिहित किया गया है।[15] इसके अतिरिक्त पानक का उल्लेख भी मिलता

1 क स सा, 10 9 101 12 7 112 17 1 101 104
2 शुक पचमीकथा पृ 30 क स सा 12 7 199 201
3 तस्या बजन्म सप्ताह भार्या क्लान्ता क्षुधा तृषा।
अजीवयत्स्वमांमास्रैः पाथा तान्याहरच्च सा॥ क स सा 10 9 6
4 वही 10 35 61
5 वही 10 6 213 214
6 वही 10 3.50
7 वही 5 3 158 159
8 वही ५ 3 158 159
9 वही 10 9 15 10 8 64 9 2 243
10 वही 18 4 32
11 वही 7 8 224
12 वही 18 4.59
13 वही 12 14 26 27
14 वही 2 1 81 12.3.5 12 8 142 12 11 18
15 वही 9 4 176 177 बृ क श्लो. 20 252

है।[1] छोटे बच्चों को बकरी का दूध पिलाया जाता था।[2] कथासाहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि मदिरा पीने की प्रथा सम्पूर्ण समाज मे प्रचलित थी। मदिरा पान विशिष्ट अवसरों एव भोजन का आवश्यक अग बन चुका था। मनु ने उच्च तीन वर्गों के लिए सुरापान का निषेध किया है। शूद्र ही मदिरापान का अधिकारी था।[3] कथासाहित्य के अनुसार मदिरा तत्कालीन उच्चवर्ग राजा सामत जमींदार ऐश्वर्यसम्पन्न वैश्य एव प्रतिष्ठित ब्राह्मणों के भोग विलास की सहचरी थी।[4] सुन्दरी के साथ काम क्रीडा के सहायक उत्प्रेरक द्रव्यो म मदिरा सर्वोपरि थी। अपने कार्य की सिद्धि के लिए अमोघ अस्त्र के रूप मे भी मदिरा का प्रयोग किया जा रहा था। लोग अत्यधिक मद्य पिलाकर दूसरों का भेद भी लेते थे। स्त्रियाँ भी खुलकर मद्यपान करती थी जिसमे उनके सुदीर्घ नेत्र झूमने लगते थे।[5] दिन मे मद्यपान निषिद्ध था। मदिरालय के लिए आपान भूमि शब्द का उल्लेख मिलता है।[6] मदिरा रखने के पात्र को कलश एव पान की प्याली को चषक कहा जाता था। मदिरालय मे युवतियाँ कलश के लिए रहती थी।[7] मद्य के विषय मे कहा गया है कि यह स्त्रियो के लज्जा रूपी बधन को तोडने वाला है तथा कामदेव का सर्वस्व एव विलास का प्रिय साथी है।[8] वैवाहिक मागलिक एव विशिष्ट अवसरों पर सामान्य लोग भी मदिरापान किया करते थे।[9] मदिरा के अतिरिक्त आसव[10] चरू[11] सीधु[12] नामक पेय मद्यों का उल्लेख हुआ है। व्यसनो मे प्रमुख अर्थात् सबसे बुरा मद्यपान को बताया गया है।[13] मद्यपान करने की बुरी आदत से व्यक्ति अच्छी सम्पत्ति पाकर भी उसे सुरक्षित नही रख सकते है।[14]

खान पान के उपयोग मे आने वाले पात्रो मे पाकभाण्ड[15] चषक[16] कलश आदि प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त पानी भरने के लिए मिट्टी का घडा (आलुका)[17] पके हुए चावल (भक्त) खाने के लिए कटोरा एव मिट्टी के पात्र[18] चमडे की पिटारी तथा भाजन

1 क स सा 6 8 175 — 2 वही 1 2 15 3
3 मनु 11 94
4 क स सा 3 4 27 7 9 105 12 5 10 3 6 230 12 18 10
5 वही 12 18 10 4 1 68 12 8 304 12 2 54 53
6 आपनभूमि सज्जेय तत्रागम्यतामिति।
तच्छ्रुत्वा ते ययु सर्वे तामापानभुव शुभाम्। वही 18 2 174
7 विचित्ररत्नचषकप्रफुल्लोत्पलविभ्रमाम्। वही 18 2 125
8 एषुत्सवशतासक्तैर्लज्जानिगडभेदि ते
स्मरजीवितसर्वस्व विलासप्रियमित्र मधु। वही 18 4 127
9 वही 6 1 175 170 — 10 वही 74 175
11 वही 2 1 10 — 12 वही 31 26
13 बृ क श्लो 13 17 25
14 तस्य पानप्रसक्तस्य गलत्युदय।
अभव्या धनसम्पत्तिर्नैव सम्पत्तिर्जरम् —क स सा 10 1 45
15 वही 12 4 70 14 4 77 — 16 वही 18 2 1
17 बृ क श्लो 18 155 165
18 वही 18 175 क स सा 6 3 55

बनाने के लिए भी पात्र थे।[1] भोजन पकाने के लिए पतीली एवं हाडी[2] तथा खाने के लिए कुम्हार निर्मित थाली[3] एवं थामी[4] आदि के पात्रों का उपयोग किया जाता था।

8 रहन-सहन

संस्कृत लोककथा साहित्य में वर्णित "लोक" सभ्य-असभ्य की परिभाषा से अनभिज्ञ, पारम्परिक आडम्बररहित जीवन शैली में ग्राम ग्राम से बाहर या जंगल में बस्तियाँ बनाकर रह रहा था। सरल हृदय "लोक" सभ्य कहे जाने वाले समाज की दृष्टि में असभ्य गवार था। एक मद विह्वला प्रमदा अनुनय करते हुए युवक की निष्ठुर बातों से भर्त्सना करती हुई कहती है—"अरे गवार ! दूर हटो, मुझ दुर्भगा का स्पर्श क्या करते हो ? जाओ बहुत सारे गवारों के स्पर्श से अभ्यस्त किसी गवारिन का स्पर्श करो।"[5] वैसे तो तत्कालीन समाज में बोल-चाल की भाषाएँ संस्कृत प्राकृत एवं देशभाषा रहीं[6] एवं इनके अतिरिक्त एक विलक्षण चौथी भाषा पैशाची भी रही जो पिशाच जाति में बोली जाती थी।[7] परन्तु सम्भव है तत्कालीन लोकभाषा के रूप में प्राकृत पैशाची एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ बोलचाल में प्रचलित रही होंगी। संस्कृत पढ़े लिखे एवं सभ्य कहे जाने वालों की भाषा थी।

"लोक" की आवास व्यवस्था अकृत्रिम एवं सुन्दर है। छोटी छोटी बस्तियों में मिट्टी के घर एवं झोंपड़ियाँ बनाकर लोग रहते हैं।[8] एक बस्ती में प्रायः एक ही समुदाय विशेष के लोग रहते हैं। घर कच्चे (मिट्टी के) बने होते, जिन्हें लीप पोतकर तैयार किया जाता हाथ से दीवारों पर चित्रकारी की जाती थी।[9] यह चित्रकारी रंगीन लाल सफेद मिट्टी से की जाती रही होगी। आज भी ग्रामों में इस तरह की चित्रकारी की जाती है। घर के समतल आँगन को हरे गोबर से लीप कर तैयार किया जाता था, जिससे वह फैले हुए मानस सरोवर सा लगने लगता। उसमें पेड़ पौधे लगा दिये जाते जिससे घर की शोभा और बढ़ जाती थी। आँगन में लगाई गई लताएँ घर की छतों पर चढ़कर छा जाती थीं। घर बहुत साफ रखे जाते थे। घर में धूल और कूड़ा कचरा भी मुश्किल से दिखाई देता। गाँव की गलियों में गायों के उद्दाम बछड़े कूदते रहते एवं गायों के रंभाने की मधुर

1 बृ क श्लो 18 179 180
2 वही 18 184 191
3 वही 16 68 90
4 क स सा 12 4 268
5 अयि वन्लवकार्पहि किं मा छुपसि दुर्भगाम्।
बन्लवन्लवकच्छुता छुप वन्लिनिकामिति ॥ बृ क श्लो 10 65
6 संस्कृत प्राकृत तद्वद्देशभाषा च सर्वगा।
भाषात्रयमिदं त्यक्त यन्मनुष्येषु सभवत् ॥ —क स सा 16 148
7 — । मया पिशाचभाषाया मौनमोक्षस्य कारणम् ॥ 27
दृष्ट्वा त्वां स्वागतं चतुर्थ्या भूतभाषया ।— ॥29 —वही 1 7 27 29
8 बृ क श्लो 22 164 165 18 148 201
9 — आलेख्यवर्णिचित्रपट भित्तौ ददर्श तम् ॥ —क स सा 18 3 74

आवाज सुनाई पडती थी। ग्वालो की बस्ती की गलियों में दधि मथन की ध्वनि सुनाई देती थी तो ब्राह्मणो की बस्ती की सीमा अग्नि कुण्ड से उत्पन्न यज्ञ धूम से आच्छादित रहती, अन्न एव गायों से भरी पूरी रहती था।[1] भीलों की बस्ती में हाथी दाँत मृग चर्म मोर पख, बिखरे पडे रहते।[2] लोक जीवन में काम मे व्यस्त रहने वाली स्त्रियां की मलिन वेश भी सुसज्जित लगता था। स्त्रियाँ पीने का पानी सरोवर एव कुएँ से सिर पर घडे के ऊपर घडा रखकर लाती थी। अतिथि को देव स्वरूप मानकर भक्तिपूर्वक उसकी सेवा सुश्रूषा की जाती थी। काँसे के पात्र में जल लेकर उसके चरण धोये जाते, सिर एव अन्य अगो पर मक्खन तथा उबटन आदि मला जाता, धतूरा, मौथा युक्त जल से स्नान कराया जाता। तदनन्तर पवित्र भोजन कराया जाता तथा आराम एव शयनादि की समुचित व्यवस्था की जाती थी। ऐसा करके लोग अपने को सौभाग्यशाली एव पाप मुक्त समझते थे।[3] बस्ती या ग्राम के बीच लगे पेड के नीचे बच्चे क्रीडा करते। जिनमें से कोई एक राजा एव अन्य मत्री आदि बनते।[4] एक तरह से यह बच्चों की एक ऐसी चौपाल थी जहाँ वे इकट्ठे होकर विभिन्न क्रीडाएँ करते, आपस में लडते झगडते रूठते मनाते थे।

दीनावस्था में आवास व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती। घर झोपडी के आँगन में कूडे कचरे का ढेर लग जाता था। झोपडी में खस की पुरानी झाझर चटाई का घेरा लग जाता। छप्पर के असख्य छिद्रों से धूप और चादनी भीतर घुस जाती थी। ऐसी अवस्था में आहार की बात तो दूर, पीने का पानी भरने के लिए मिट्टी का पात्र भी उपलब्ध नही हो पाता। मिट्टी के पात्र में छेद हो जाने पर उसे लाह (लाख) नामक पदार्थ से बद करके उपयोग मे लाया जाता था।[5] दीनावस्था में व्यक्ति स्वामी के घर से प्राप्त भोजन से जीवन निर्वाह कर खुश रहते थे। कथासरित्सागर की एक कथा में एक ऐसे ही पति पत्नी हैं जिनके घर में मात्र पानी का घडा (मटका) झाडू, एव चारपाई हैं। परन्तु कलह रहित होकर वे दोनों अत्यन्त खुश हैं और देवता तथा अतिथि को देकर बचे हुए परिमित अन्न को खाया करते हैं।[6]

बाहर जाने वाले प्रिय जन को ग्राम से बाहर तक विदा करने जाने की परम्परा थी। राह में पैदल चलते लोग रमणीय कथाएँ सुनाकर मन रमाते थे जिससे रास्ते की थकान का भी अनुभव नही होता। लोक में यह भी धारणा प्रचलित थी कि मातृपक्ष के बान्धव ही विपन्न पुरुषों के रक्षक होते हैं। अपनों के प्रति शत्रुता रखने के कारण पितृपक्ष के बान्धव बुद्धिमानों के लिए त्याज्य है।[7] पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे में भाई भाइ में कम और अधिक भाग को लेकर झगडा हो जाता था। ऐसी स्थिति में ग्राम के विद्वान वेदपाठी

---

1 अस्त्यवन्तिषु विप्राणामभिरामः कपिस्थलः ।
अग्निकुण्डाग्रसीमा स्फीतगोधूमगोकुल ॥ बृ क श्लो 4 93

2 क स सा 12 35 60-63 19 4 45 51 12 35 42

3 बृ क श्लो 20 230 260 शक अग्रवालिखित पृ 207

4 बृ क श्लो 18 151 154

5 वही 18 155 165

6 क स सा 61 88-97

7 बृ क श्लो 18 167 180

अध्यापक को निर्णायक बनाये जाने का उल्लेख है। मकान खाट, बरतन पशु आदि चल अचल सम्पत्ति को भाइयों में बराबर हिस्सों में बँटवारा किया जाता था।[1]

कथासाहित्यकालीन समाज में यातायात के जहाज[2] वायुयान[3] शिविका[4] हाथी[5] रथ अश्व[6] आदि अनेक साधन थे। परन्तु ये साधन सबको सुलभ न थे। इन विशेष वाहनों का उपयोग तो राज परिवार सामन्त श्रेष्ठिगण ही करते थे। जनसाधारण की सवारी तो शकट अर्थात् बैलगाडी थी।[7] जिसे भारवोढ़ा भी कहा गया है।[8] यातायात के इन समस्त साधनों का निर्माण 'लोक" के द्वारा ही किया जाता परन्तु इन सबका उपभोग वह स्वयं नहीं करता था। "लोक" में ऐसे कुशल कारीगर थे जो यंत्र चालित विमान का निर्माण कर सकते थे। एक बार चाबी देने पर बत्तीस कोस दूर जाने वाले विमान का उल्लेख मिलता है।[9] प्राणधर नामक बढ़ई के द्वारा निर्मित विशाल यान एक हजार यात्री ढो सकता था।[10] "लोक" की कला उसके जादू, विश्वास एवं आस्थाएँ सब कुछ उच्चवर्ग के लिए थे। एक तरह से ये उच्चवर्ग की विलासिता के साधनों को उत्पन्न करने के माध्यम थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जहाज पर निर्भर था जिसका निर्माण लोक करता था। जहाज में माल को चढाने उतारने का काम लोक करता था। राजा सामंत की विलासिता के उपभोग साधन बने वायुयान रथ आदि का निर्माण कुशल बढई करते थे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि समाज का आधार स्तम्भ "लोक" था। जिसे निम्न, गँवार एवं असभ्य माना जा रहा था। "लोक" अपनी परम्परा अपनी आस्था, अपने विश्वास अपनी मान्यताओं के अनुरूप सरल व अकृत्रिम जीवन जी रहा था जिसका उच्चवर्ग स्वार्थ लिप्सा के लिए उपभोग कर रहा था। उसके रहने के लिए प्रासाद या बडी बडी अट्टालिकाएँ नहीं थी। वह तो विलासिता के पंक से दूर तथा लालच की दुष्प्रवृत्ति से अछूता रहकर जो जितना भी मिलता उसी में सन्तोष कर सहयोग की भावना से कृषि पशुपालन एवं अन्य अपने कर्म संलग्न, अकृत्रिम जीवन जी रहा था।

वस्त्र

समय के साथ "लोक' की पारम्परिक जीवन शैली में भी अवश्य ही किञ्चित परिवर्तन होता रहा है। फिर भी लोक की समाज में अलग ही छवि रही है। सदैव "लोक"

---

1 क स सा 10 6 172 176
2 वही 9 1 129 18 2 104 12 34 174 9 1 129 12 14 70
3 वही 9 25-6 79 41 6 34 9 1 7 61 79 228 79 38 79 236 8 1 36 8 3 123 8 4 39
4 वही 13 1 159
5 वही 12 2 73 12 7 309 3 7 6 3 5 63 12 2 50 79 63 6 1 169 2 4 10 12 7 307 16 2 94 12 5 71 2 5 29
6 वही 2 4 85 92 3 4 98 99 3 4 100 14 4 55 15 4 56
7 बृ क श्लो 5 90 94 10 1 5
8 भारवोढा युग कर्षन्परण युगभङगत ॥ —क स सा 10 4 12
9 वातयन्त्रविमानं च तस्मामीह सङभुयत्।
याजनाष्टशतीं याति सकृत्प्रहतकीलकम् ॥ वही 7 9 38
10 प्राणधरश्च सुमहद्विमानं कृतमस्ति मे।
यत्मानुषसहस्राणि वहत्ययत्नहेलया ॥ वही 7 9 228

की अपनी पारम्परिक विशृंखलित संस्कृति रही है। संस्कृत लोककथा साहित्य में "लोक" के वस्त्रों के विषय में सामान्य जानकारी ही मिलती है। उच्चवर्ग में "वस्त्राभूषण धारण करना सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक समझा जाता था। प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं प्रतिष्ठा के लिए उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण धारण करने की परम्परा थी।[1] लोग निर्धनतावश फटे वस्त्र पहनते थे। एक ब्राह्मणी के फटे वस्त्र पहनना उसकी दरिद्रता एवं विवशता का सूचक है।[2] महारानी वासवदत्ता उसे नवीन वस्त्र देती है।[3] वस्त्र बुनने वाली जाति जुलाहा (कार्पटिक) थी। सामान्यजन सूती वस्त्र पहनते थे। लोक जीवन में रेशमी वस्त्र का प्रचलन नहीं था। परन्तु रेशमी वस्त्र पहनने की ललक उनमें भी रहती थी। सरड नामक ग्राम के शूरपाल ग्रामाध्यक्ष की पत्नी उससे रेशमी चोली मांगती है और उसके न देने पर भरी सभा में लज्जाकारक एवं अप्रिय वचन कहती है।[4] उस समय मुख्य रूप से उत्तरीय, कञ्चुक उष्णीष वस्त्रयुग्म आदि परिधानों का उल्लेख मिलता है। वस्त्रयुग्म से तात्पर्य उर्ध्व वस्त्र एवं अधोवस्त्र से था।[5] उत्तरीय[6] शरीर के ऊपर ओढ़े जाने वाले चादर के रूप में व्यवहृत होता रहा होगा। सिर पर बांधी जाने वाली पगडी को उष्णीष या शिरोवेष्टन कहा गया है।[7] कोल भील शबर आदि जातियाँ कृष्णाजिन या वल्कल धारण करते थे। उनमें से मृग चर्म मुख्य था।[8] इधर उधर विचरण करने वाले दीन हीन भिक्षुक चमड़े से ही शरीर ढकते थे। लक्ष्मी के स्वामी लक्षदत्त राजा के सिंहद्वार पर चमड़े के टुकड़े से शरीर को ढके हुए भिक्षुक के रात दिन बैठे रहने का उल्लेख हुआ।[9] अहीरों की वेशभूषा के विषय में कहा गया है कि वे हाथ में लाठी और कंधे पर काला कम्बल डाले हुए रहते हैं।[10]

कार्य में व्यस्त रहने वाली स्त्रियों का मलिन वेश भी सुसज्जित लगता था।[11] स्त्रियों के वस्त्रों में अंगिया (कञ्चुक) का उल्लेख कई बार हुआ है। यह स्तनों को ढकने के लिए धारण की जाती थी। राजा उदयन को देखने के लिए दौड़कर गवाक्षों पर पहुँचने वाली स्त्रियों में से किसी सुन्दरी के हाँफने से उछलते हुए स्तन राजदर्शन के लिए माना

1 क स सा एक सांस्कृ अध्ययन पृ 144
2 ... ब्राह्मणी सा विवेशात कृशपाण्डुरधूसरा ॥ 40
मलिनेन विशीर्णेन वाससा विधुरीकृता।
दुःखेन्यरिभावाङ्के बिभ्रती बालकावुभौ ॥ — क स सा 4 1 40-41
3 स्नापिता दत्तवस्त्रा च तांश्च स्वादु च भोजिता।
ब्राह्मणा साप्युभिमतेव तस्य पु सपुत्रकम् ॥ — वही 4 1 51
4 शुक सप्ततिकथासंग्रह पृ 159 160
5 एवं गृहीत्वा गच्छ त्वं वस्त्रयुग्ममुपायनम्। — क स सा 5 1 113 , 1 3 50
6 एवमुक्तवत्यां स्नातः तार्यं ... । वही 12 8 8 13 1 134
7 वही 10 5 154 12 6 263
8 वही 4 5 12 12 35 12 19 4 47 12 34 19
9 वही 7 3 2 14
10 वही 2 2 119 6 3 135
11 कर्मिकालमलैरङ्गी पृथुनैर्घनास्थलै।
स तादृशोऽपि नवः सीमा या वेशो विभूषणं ॥ — बृ क श्लो 5 41

कञ्चुक म याहर निक्लना चाहते थे।[1] स्त्रियाँ आधी बाहों[2] की श्याम-धवल वर्ण की चोली पहनती थी।[3] स्त्रियाँ साडी भी धारण करती थी।[4] साडी के स्थान पर चादर ओढने का सकेत भी मिलता है[5] तथा वे अधोवस्त्र के रूप में लहगा पहनती थी एव लहगे के ऊपर शाल (चादर) ओढ लेती थी।[6] दुपट्टे का उल्लेख भी हुआ है।[7] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्त्रियों के वस्त्रों में कञ्चुक, साडी, लहगा एव दुपट्टा मुख्य थे। नर सिर पर उष्णीष, उर्ध्ववस्त्र के रूप में उत्तरीय एव अधोवस्त्र के रूप में धोती धारण करते एव पावो में खडाऊ पहनते थे।[8]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन लोक-जीवन में सूती-वस्त्र पहनने का प्रचलन था। वस्त्र बुनने का कार्य कार्पटिक करते थे। रेशमी वस्त्रों का प्रचलन उच्चवर्गीय समाज में था। "लोक" की वेशभूषा आडम्बर रहित सरल थी। वन्य जातियाँ व्याघ्र-मृग चर्म पहनती थी। दीन-हीन एव भिक्षुक आदि भी चर्म वस्त्र धारण करते थे। सामान्य वस्त्रों के प्रचलन के बावजूद भी जन सामान्य को शरीर ढकने को पूर्ण रूप से वस्त्र उपलब्ध नहीं थे। सभव है गाँवों की गलियों में भूखे नग-धडग बच्चे खेला करते। स्त्रियाँ फटे वस्त्र धारण करती, उन्हें तन ढकने को वस्त्र भी उपलब्ध न था। राजा, सामत एव ऐश्वर्य सम्पन्न उत्सव अवसरों पर उत्तम, नवीन एव आकर्षक वस्त्र धारणकर[9] चारण, भाट ब्राह्मण दीन हीन आदि को दान देते थे।[10] उन्हें उपहार में मिले वस्त्रो के ढेर लग जाते थे।[11]

आभूषण

वस्त्राभूषण धारण करना मनुष्य की सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। जहाँ एक ओर वस्त्राभूषण मनुष्य की सभ्यता-सस्कृति के प्रतीक हैं वही दूसरी ओर अलकार उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि के साधन हैं। मनुष्य अपनी पारम्परिक मर्यादा, अनुष्ठान, विश्वास एव आर्थिक स्थिति के अनुरूप वस्त्राभूषण धारण करता रहा है। समाज में ऐश्वर्यसम्पन्न लोगों को आभूषण वस्त्र सर्वसुलभ रहे हैं। पद्मरागमणि[12] तार्क्ष्यमणि[13] स्फटिकमणि[14]

---

1 दुनगनाया कस्याश्चिन्मुहुरूच्छ्वसितौ स्तनौ।
कञ्चुकादिव निर्गन्तमुमीषतुस्तद्दिदृक्षया॥ —क स सा 3 4 16

2 "नागात्र विस्फरद्रत्नमूर्धा धवलकञ्चुका।" —वहा 13 1 165 12 17 6

3 बृ क श्लो, 21 94 102 क स सा 13 1 164-165

4 पर्णशय्याशिरोभाग निहित सपिधानक। —बृ क श्लो, 14 94

5 क स सा, 10 8 38

6 वही 9.3 43

7 बृ क श्लो, 10.207

8 "अथ कन्थाजरच्छत्रपादुकादिपरिच्छदान्।" वही 18.395

9 क. स सा. 2 6 16-20

10 प्रदत्तवस्त्राभरण, प्रगीतवरचारणः।प्रनृत्तवरनारीक प्रससार महोत्सव॥ —वही 3 2 85

11 वही 9 1 224 13 1 160

12 वही 7 2 87

13 वहा 12 1 7 18 4 131 14 वही 6.3.52

मुक्ता[1] प्रवाल[2] वज्र[3] हीरा[4] आदि से निर्मित आभूषण धारण करने के उल्लेख मिलते हैं। परन्तु निर्धन जनसामान्य अधिक से अधिक धातु निर्मित या पुष्पों के द्वारा स्वनिर्मित आभूषण धारण करते हैं।

संस्कृत लोककथा में स्त्री पुरुष के आभूषणों में साम्य है। कई ऐसे आभूषण थे जो स्त्री पुरुष धारण करते थे, यथा वलय हार, मुद्रिका, कुण्डल आदि। पुरुष भी गले में माला धारण करते एवं हस्त में वलय पहनते थे। नूपुर, मेखला आदि आभूषण स्त्रियाँ ही धारण करती थी। चूडामणि मुकुट आदि ऐसे आभूषण थे जो राजाओं के द्वारा ही धारण किये जाते थे।[5] मुकुट मस्तक पर धारण किया जाता था। पट्ट उष्णीष या शिरोभूषण के ऊपर बाधा जाता था। व्यक्ति का विशेष सम्मान पट्ट बंध द्वारा किया जाता था।[6] कण्ठाभूषण के रूप में हार का उल्लेख कई जगह मिलता है।[7] हार[8] के अतिरिक्त स्फटिक माला[9] मुक्तावली[10] कण्ठिका[11] एकावली[12] कण्ठाभरण[13] आदि अन्य कण्ठाभूषणों का प्रचलन था। कर्णाभूषण के रूप में मुक्ताजटित अलकार का उल्लेख कथासरित्सागर में मिलता है।[14] "प्राचीन भारत में अंगद केयूर वलय कंगन अंगुलीयक ये पाँच कराभूषण प्रचलित थे। इन आभूषणों का स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रूप से व्यवहार करते थे। अन्तर इतना ही था कि पुरुष सादे कराभूषण धारण करते थे जबकि स्त्रियों के आभूषणों में घुघरु आदि लगे रहते थे।"[15] अंगद पुष्पों से भी बनाया जाता था।[16] केयूर भी अंगद के सदृश ही भुजबंध होता था।[17] कटक को नर नारी समान रूप से धारण करते थे जिस पर नाम भी अंकित होता था।[18] अंगुलीयक प्रेम एवं विवाह में उपहार स्वरूप दिया जाता था। प्रेमी द्वारा प्रदत्त अंगुलीयक को धारण करना प्रेम चिह्न या प्रेम प्रतीक माना जाता था एवं विभिन्न आपदाओं को दूर करने के लिए प्रभावशाली अंगुलीयक का उल्लेख भी मिलता है।[19] कटि आभूषण में मेखला या करधनी का प्रचलन था। इसमें घुघरू भी लगे होते थे।[20] पादाभूषण में नूपुर प्रमुख था। नूपुर स्त्रियाँ ही धारण करती थी।[21] जिसे पायल कहा जाता है।

स्त्रियों में वेश का फल प्रिय का दृष्टिपात है। प्रिय यदि प्रसाधन पर दृष्टिपात डाले और प्रसन्नता को प्राप्त हो तो समझिए कि स्त्री का समस्त प्रसाधन सफल हो गया अन्यथा

---

1 क. स. सा. 12.8.63 13.42
2 वही 13.42
3 वही 12.18.48
4 वही 14.4.82
5 वही 12.7.70
6 वही 2.4.193 13.218 16.167
7 वही 6.2.124 10.5.26
8 वही 6.7.211 13.1.148
9 वही 6.7.211
10 वही 12.8.163
11 वही 12.2.142
12 वही 13.1.45
13 वही 9.4.105 107
14 वही 4.1.82 3.6.204
15 क. स. सा. एक भाषिक अध्ययन पृ 147
16 क. स. सा. 12.7.74 6.7.164
17 वही 6.7.211 5.3.234
18 क. स. सा. 5.1.177
19 वही 10.7.38 18.4.292, 12.5.61 2.2.97 3.4.239 शुक अहल्यानिमीकथा पृ 164 165
20 क. स. सा. 17.6.164 2.6.97 12.34.232, 13.1.164 बृ. क. श्लो 23.81-85
21 क. स. सा. 5.2.150 13.1.164 शुक. पञ्चदशीकथा पृ 98

सारा श्रम व्यर्थ है[1] तथा "काई भी नई वस्तु पहले अतिशय प्रिय व्यक्ति को ही दी जाती थी।"[2] यद्यपि तत्कालीन समाज में रत्न जटित, स्वर्णाभूषण, मुक्ताभूषण, रजताभूषण तथा पुष्पाभरण आदि का प्रचलन था। परन्तु "लोक" के लिए स्वर्ण या रजत के आभूषण क अतिरिक्त पुष्पाभरण ही मुख्यत अलकरण था। जिस "लोक" को आहार समुपलब्ध नही था, जिसके आवास की व्यवस्था नही थी, शरीर ढकने को वस्त्र नही था, उसके लिए रत्नजटित, मुक्ताभूषण एव स्वर्ण-रजत निर्मित आभूषण धारण करना कहाँ सभव था। यह सीधे रूप में आर्थिक-स्थिति से जुडा पक्ष है। जो सर्वसम्पन्न होते हैं वे ही अत्यधिक मूल्यवान् वस्त्राभूषण धारण करने मे सक्षम होते हैं। तत्कालीन "लोक" में पुष्पों से कदली क महान तन्तु द्वारा हार, वलय, नूपुर एव मेखला आदि गूथने का उल्लेख मिलता है।[3] पुष्पों से निर्मित गजरा पहना जाता था।[4] पुष्प भी प्रसाधन हेतु उपयोग में लाये जाते थे। स्त्रियाँ कर्णोत्पल धारण करती थी। स्त्री पुरुष पुष्प माला धारण करते थे।[5] विशेष रूप मे स्त्रियाँ केशा, काना एव हाथा मे पुष्पाभरण धारण करती थी। वन में निवास करने वाले शबर लोग अपने शरीर का मोर-पख एव हाथी दाँत से निर्मित आभूषणों से अलकृत करते थे। शबर स्त्रियो के लिए मोर पख ही वस्त्र थे, गुजाफल की मालाएँ ही हार थी तथा हाथी का मदजल ही श्रृगार का प्रसाधन था।[6] इस विषय में डॉ एस एन प्रसाद लिखते हैं कि "शबर की स्त्री मोरपख तथा कण्ठ मे घुमची के फलों के बीज, जो आकर्षक, लाल आर काले छोटे छोटे होते हैं, उनका कठहार बनाकर अपनी अल्हड जगली सुन्दरता मे चार चाँद लगाती थी। कानो में कुण्डल जैसा आभूषण भी वे उसी फल के बीज का बनाती थी।"[7] भील शबर किरात आदि जातियो के लिए वन मे उत्पन्न होने वाले प्राकृतिक उपादान ही अलकार थे। हाथी दाँत निर्मित वलय, कगन आदि अन्य आभूषण स्त्री पुरुष धारण करते रहे होंगे।

तत्कालीन "लोक" के आभूषण के विषय में कहा जा सकता है कि अधिकाश आभूषण स्त्री-पुरुष दोनो म समान रूप से पहने जाते थे। आभूषण धानु पुष्प निर्मित होते थे। जगल मे निवसने वाली जातियाँ मोर पख, हाथी दाँत एव वन मे पैदा होने वाले प्राकृतिक उपादान, गुजाफल, पुष्प आदि से स्व निर्मित आभूषण धारण करती थी।

---

1 शुक त्रिंशिनमाकथा, श्लोक 134 पृ 114
2 "प्रहिता ते नव पूर्व प्रेष्ठाय दीयते।" क स सा 13 1 45
3 तैश्च ग्रथितवानस्मि कदलीपटुतन्तुभि ।
बन्धूकतरल हारमुत्पलैश्चुरितादरम् ॥ 186
पद्मरागेन्द्रनीलादिनानारत्नोपलप्रभ ।
कुसुमै कल्पयामि स्म कम्बूनूपुरमेखला ॥ 187 —बृ क श्लो 20 186 187
4 क स सा 7 6 2 5 का 15 2 136 13 1 93
6 तस्याग्रार्नितेण पार्श्वमनरुद्धा च दूरत ।
दन्तिदत्तजिनचिता भिल्लपल्लीर्विलोकयन् ॥ —का 12 3 42
—।दन्तिदन्तचितानुड्गभित्ति व्याघ्रच्छदच्छवि ॥ 4)
वासासि बर्हिपिच्छानि हारा गुञ्जाफलस्रज ।
मातङ्गमदनिष्यन्दा यत्र स्त्रीणा च मण्डनम् ॥ 50 —का 19 4 49 50
7 क स सा तथा भा स पृ 97

सौन्दर्य-प्रसाधन—

सौन्दर्य वृद्धि के लिए वस्त्राभूषण के अतिरिक्त अन्य प्रसाधनों का भी प्रयोग किया जाता रहा है। संस्कृत लोककथा साहित्य के समाज में सुगन्धित चूर्ण कुंकुम केशर अंगराग चंदन,कपूर अगरु इत्र आदि का विलेपन त्वचा की मद्रिमा आकर्षक एवं सुगन्धित बनाये रखने के लिए किया जाता था। स्त्री पुरुष दोनों ही विभिन्न प्रसाधनों से अपने को सजाया करते थे। स्वयं को सजाने सवांरने के लिए दर्पण का उपयोग किया जाता था।[1] स्त्री पुरुष दोनों अपने केशों को संवारा करते थे। स्त्रियाँ केश रचना में निपुण होती था।[2] केशों का काला, घना एवं अधिक लम्बा होना सौन्दर्य प्रतीक माना जाता था।[3] केशों को जूड़े के सदृश गूँथा जाता था उसमें पुष्पादि लगाये जाते थे।[4] वियोगावस्था में केश विन्यास निषिद्ध था।[5] केशों को सुगन्धित करने के लिए कालागुरू की धूप तैयार की जाती थी जिसके धूम से केशों को सुगन्धित और स्निग्ध बनाया जाता था। यह सुगन्धित धूप बालों को सुवासित करता था।"[6]कालागुरु से घर को भी सुगन्धित किया जाता था।[7] अंगरागादि का लेप एवं वस्त्राभूषण धारण किये जाते थे।[8] "विश्व के अधिकांश देशों में अंजन लगाने की प्रथा प्रचलित रही है।"[9] अंजन का उपयोग नेत्रों की लम्बाई को बढ़ाने एवं उन्हें आकर्षक बनाने के लिए किया जाता रहा है।[10] विधवावस्था में अंजन लगाना वर्जित था। विवाह आदि में एवं छोटे बच्चों को नजर लगने से बचाने के लिए इसका उपयोग किया जाता रहा है।[11]

मुख सौन्दर्य अभिवृद्धि के लिए मस्तक पर तिलक लगाया जाता था। स्त्री पुरुष दोनों ही तिलक लगाते थे। तिलक केशर चंदन आदि सुगन्धित पदार्थों का बनाया जाता था।[12] मुख पर गोरोचन एवं कुंकुम से पत्र रचना करने का उल्लेख हुआ है।[13] ताप शमन एवं त्वचा को शीतल व सुगन्धित बनाने के लिए तिलक के रूप में चंदन का प्रयोग किया जाता था। चंदन जल के साथ पत्थर पर घिसा जाता था।[14] चंदन के साथ कपूर को मिलाकर भी शरीर लेप तैयार किया जाता था।[15] केशर कपूर कालागुरु आदि सुगन्धित

---

1. मण्डनस्यापृतामेता पश्यन्ति स्म सदर्पणा। 205 —बृ क श्लो 10.205
2. धन्नी कबरीपाशं पृष्टतः परिमोचितम्।" —क स सा 13.194
3. वहन्त्यौ केशपाशौ च पन्नगाविव निर्मितौ।
   भाग्या लावण्यसर्वस्वनिधान रक्षितु तयो॥ वही 17.5.165
4. वही 19.3.9 5. वही 14.2.113
6. क स सा एक सांस्कृ. अध्ययन पृ 147 7. क स सा 18.3.17
8. वही 8.6.202 18.1.133 18.5.192 9. O S VOL I P 211
10. O S VOL I P 211
11. तत मासादपद्युर्वि चेटिभिः कुण्डकस्थितम्।
    कस्तूरिकादिसंयुक्त कज्जल तैलमिश्रितम्॥ क स सा 1.4.47
12. वही 14.2.10 13. वही 1.6.111.112
14. वही 12.28.17 14.2.10
    सिद्धस्तेन चन्द्रस्य सा गुहा तदर्थिना
    तच्चन्दर्शिल्प यो देव चन्दनाश्म॥ वही 14.4.135
15. वही 7.8.15.17

द्रव्यों को मिलाकर अगराग (लेप) तयार किया जाता था। अगराग का प्रयोग स्त्रियाँ करती थी।[1] पैरों में अलक्तक लगाया जाता था, जिसे लाक्षारस भी कहा जाता था।[2] स्त्रियाँ सुख सौभाग्य के प्रतीक रूप में सिन्दूर का प्रयोग करती थी।[3] सभवत आज की भाँति उस समय भी सौभाग्यवती स्त्रियाँ सिन्दूर से माँग भरा करती थी।

आर्थिक सम्पन्नता के आधार पर विभिन्न प्रसाधन-सामग्री का उपयोग किया जाता था। राजा सामत एव ऐश्वयसम्पन्न लोगों के प्रासादों में रत्न-जडित पर्यङ्क, रत्न-प्रदीप, छत्र चामर, कालीन एव पर्दों से सुसज्जित प्रकोष्ठ के अतिरिक्त विलासिता के साधन रूप बहुमूल्य वस्तुएँ होती थी।[4] परन्तु "लोक" के घर म पानी भरने का मिट्टी का घडा, झाडू एव चारपाई ही कुल सम्पत्ति थी।[5]

9. मनोविनोद

जीवन म प्रत्येक व्यक्ति क लिए मनोविनाद आवश्यक है। निरन्तर श्रम करने से थका हारा एव विभिन्न चिन्ताओं से ग्रसित व्यक्ति मनोविनोद से पूर्णत विमुक्त तो नही हो पाता परन्तु किञ्चिद् समय के लिए उसे निसार देने में सक्षम अवश्य हो जाता है और पुन नवीन उत्साह एव तन्मयतापूर्वक कर्म में प्रवृत्त होता है। "मनोरजन समाज की सुख समृद्धि का सूचक है। बौद्धिक उच्चता एव आर्थिक सम्पन्नता के अनुसार मनोरजन में भी विविधता होती है। किन्तु हर वर्ग के लोग अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार इसमे प्रवृत्त रहे हैं।"[6] सस्कृत लोककथा साहित्य मे समाज के उच्चवर्ग के विभिन्न मनोविनोदों का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है किन्तु "लोक" के मनोविनोद के विषय में किञ्चित जानकारी ही प्राप्त होती है। उच्चवर्ग का मनोविनोद विलासिता से परिपूर्ण था, जिसमें नृत्य, गीत, वाद्य मृगया, जल-विहार कथा वार्ता आदि प्रमुख साधन थे। परन्तु ये सब सुरा सुन्दरी से अछूते न थे। राजाओं के यहाँ नर्म सचिव विदूषक रहा करता था जो विभिन्न हास्यपूर्ण उक्तियों चेष्टाओं एव अपनी अद्भुत आकृति से राजा का मनोविनोद करता था।[7] उच्चवर्ग ऋतुओं के अनुसार ग्रीष्म में जल क्रीडा एव उद्यान-क्रीडा, वर्षाकाल में सगीत, शरद् ऋतु की रात्रियों में चाँदनी में राजभवन की खुली छत पर सुरा-पान, हेमन्त ऋतु में कालागुरु

1 आश्लिष्यापहृतनाङ्गरागेणापिञ्जरी कृतम्।
महाहृद तमद्राक्ष तन्वान कामुकायितम्॥ क स सा 13 1 89 12 11 17

2 "सालक्तकाभिस्तिर्भूमि कराङ्गुलिभिराहता।" —वही 12 8 111 13 171

3 वहा 3 4 122

4 वहा 13 6 338 339 5 3 78 6 5 137

5 वारिधानी च कुम्भश्च मार्जना मञ्चकस्तथा।
अह च मत्पतिश्चेति धुर्म्यचित्रयमेव नौ॥ वही 6 1 91

6 क स सा एक सास्कृ अध्ययन पृ 157

7 क स सा 6 8 114

में सुगन्धित प्रकोष्ठ में विश्राम आदि मनोविनोद किया करता था।[1] सुरा सुन्दरी राजा के मनोविनोद का एक आवश्यक अंग था। एक दिन युद्ध में प्रियजनों की मृत्यु से दुःखी राजा सूर्यप्रभ सो जाते हैं तो उनकी रानियाँ आपस में इस प्रकार बात करती हैं— आज राजपुत्र अकेले कैसे सो गये ? दूसरी कहती है— दुःख इसलिए। तीसरी कहती है— यदि आज ही उन्हें नवीन सुन्दरी कन्या मिल जाती तो वे सारे स्वजनों के दुःख भूल जाते। उनमें से एक पूछती है—राजा लोग लम्पट क्यों होते हैं। दूसरी उत्तर देती है—देश रूप अवस्था, चेष्टा विज्ञान आदि के भेद से अच्छी स्त्रियाँ भिन्न भिन्न गुणों वाली होती हैं। एक ही स्त्री सर्वगुण सम्पन्न नहीं हुआ करती। कर्णाट लाट सौराष्ट्र मध्यप्रदेश आदि की स्त्रियाँ अपनी अपनी विशेषताओं से पति का मनोरंजन करती हैं।[2] कुछ सुन्दर स्त्रियाँ शरत्कालीन चन्द्रमा के समान मुख से मन हरण करती हैं कुछ सोने के घड़े के समान उठे और घन स्तनों से चित्तरंजन करती हैं कुछ स्त्रियाँ काम के सिंहासन के समान जघनस्थल से आकृष्ट करती हैं और कुछ दूसरे दूसरे सौन्दर्य तथा आकर्षक अंगों से मन आकृष्ट करती हैं। विभिन्न रसों के लालची राजा स्वर्ण सदृश वर्ण वाली प्रियंगु पुष्प के समान सांवले वर्णवाली ललाई युक्त गौर वर्ण वाली मन को मोहित कर देने वाली नव अवस्था के कारण सुन्दर मनोरम सरल एवं हाव भाव विलास से सौन्दर्य छटा बिखराने वाली तथा वृद्ध होने पर भी मनोहर गजगामिनी, हंसगामिनी नृत्य निपुणा गाने में कुशल, वाद्य कला में पारंगत, बाह्य अंतरंग रति विलास में चतुर बात करने में प्रवीण आदि गुणों वाली नव यौवना के लिए सदैव लालायित रहते थे।[3] राजाओं के मनोविनोद के लिए दहेज में दासियाँ दी जाती थीं।[4] इनके अतिरिक्त शस्त्र विनोद[5] कन्दुक क्रीडा[6] जल क्रीडा[7] उद्यान क्रीडा[8] गुलिका क्रीडा[9] पशु पक्षी क्रीडा[10] मृगया[11] एवं द्यूत क्रीडा[12] आदि मनोरंजन के साधन भी उच्चवर्ग को समुपलब्ध थे। एस.एन. प्रसाद के अनुसार "आखेट सामान्यतः श्रीमानों के अनुरंजन का माध्यम रहा होगा किन्तु द्यूत जनसामान्य का भी लोक प्रिय मनोरंजन

---

1 सुधिनरजास्त विरम्भाग जोद्यानभूमिषु। सीधे जलेषु सरसा भारायन्त्रगृहेषु च ॥ 17
वर्णावन्त पुरेभूपश्च्र्ग्गरवर्तीषु। शारदीन्दूदयासानदर्गार्यं नेर्भाप ॥ 8
आस्तीर्णसुखशय्येषु कालागुरुसुगन्धिषु। वासवेश्मसु हैमेन्ते स नृपोऽन्त पुरैर्वन ॥"
—क स सा 18.3 17 19

2 "ततोऽपरा ब्रवीति स्म प्राप्तोत्यभिनवा यदि।
सरकन्या स तद्दुःख विस्मरत्यधुनैव तत् ॥ 100 —वही 8 4 78 101

3 वही 8 4 102 119

4 वही 7 9 216

5 वही 8 6 146 8 6 26 28

6 वही 8 7 7

7 वही 1 6 113 114

8 वही 6 2 56 13 1 94 6 2 108

9 वही 10 9 217

10 वही 13 1 55 12 1 107

11 वही 2 3 10 3 1 8 4 1 25 4 1 28 29 4 1 30 4 3 11 16 12 2 78 6 1 146

12 वही 12 6 262 264 270 12 6 187 190 5 1 58 59 65 18 2 15 204

था।"[1] तत्कालीन 'समाज में धनी निर्धन, भले बुरे, ऊँच नीच ठग, गुण्डे आदि वर्गों में द्यूत क्रीडा लोकप्रिय मनोरंजन था। द्यूतशालाएँ दाँव लगाने वाले जुआरियों से इस प्रकार भरी रहतीं मानो आमिष के आस्वाद में आसक्त बगुलों से भरी झील हो।[2] जुए के व्यसन में सब कुछ हार जाने पर जुआरी कई दिनों भूखे प्यासे रहकर द्यूतशाला में पड़े रहते थे। पहनने के लिए उचित कपड़े न होने की लज्जा से वहाँ से निकल भी न पाते थे।[3] जुआ व्यसनी के विषय में कहा गया है कि पासे दरिद्रता को निमंत्रण देने वाले हैं, जुआ खेलने वाले के हाथ ही उनके शरीर को ढकने के वस्त्र हैं धूल ही बिछौना है चौराहा ही घर है और सर्वनाश ही उनकी स्त्री है।[4] जुए में होने वाले विनाशों से अवगत होने पर भी समाज का प्रत्येक वर्ग उसका शिकार बनता जा रहा था। जुआ और वेश्या आदि बुरे व्यसनों में लिप्त कृतघ्न पुरुषों के हृदय को तलवार की तरह कठोर बताया गया है।[5] जुआ के वशीभूत ऐसे लोगों का कोई अपना नहीं होता है। द्यूत-क्रीडा में दाँव पर लगाने के लिए धन लोलुप ऐसे लोग गोद में सोई अपनी पत्नी की हत्या करने में भी नहीं चूकते हैं।[6]

तत्कालीन लोक के मनोविनोद के साधनों में द्यूत क्रीडा के अतिरिक्त काव्य कथा, पान वीणा गीत[7] बाँसुरी, सितार[8] नृत्य[9] आदि प्रमुख थे। नट एक ऐसी जाति थी जो गाँव गली में जाकर नृत्य, कलाबाजी एवं चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन के द्वारा लोगों का मनोरंजन करती थी।[10] काष्ठ निर्मित कठपुतलियों एवं यंत्रमय खिलौनों के प्रदर्शन किये जाते थे। कथासरित्सागर में एक बालक के काष्ठ निर्मित कठपुतलियों एवं विविध यंत्रमय खिलौनों से खेलने का उल्लेख मिलता है।[11] 'नागरिक' में मनोविनोद का एक अन्य प्रिय साधन पशु पक्षी पालन था। स्त्रियाँ अपने मनोविनोद के लिए पक्षियों को पालती थीं।[12] शुकसप्तति में तो सारी कथाएँ शुक ही कहता है। शुक द्वारा कही गई नीतिपूर्ण कथाओं से मदनविनोद की पत्नी प्रभावती के चरित्र की रक्षा तो हो जाती है साथ ही मनोविनोद भी होता है। अतः प्रभावती कथा श्रवण में इतनी लीन हो जाती है कि पर पुरुष के संसर्ग हेतु जाना भी भूल जाता है। कथा श्रवण में ही रात्रि व्यतीत हो जाती और सुबह हो जाती

1 क स सा तथा भा स पृ 134
2 माक्षार्णां त्वनन्यत्रै सभा कितवचन्द्रके । सरसामाभिषास्वादगृद्धैर्बकसन्न्यकै ।। बृ क श्लो 23 35
3 क स सा 12 6 75 78
4 बाहू प्रावरणं शय्या पांसवश्चत्वरं गृहम् ।
भार्या विध्वस्तता धात्रा कितवस्य हि निर्मितम् ॥ —वही 12 6 75 78
5 दृश्यता द्यूतवेश्यादिकव्यसनसङ्गनाम् ।
हृदय हा कृतघ्नानां पुंसां निस्त्रिंशकर्कशम् ॥ —वही 12 10 27
6 वही 12 10 17 95
7 बृ क श्लो 22 7 8
8 वही 22 92 93
9 वही 2 28 33
10 मधुपानान्तगलेषु सविगन्धास्वन मुहुः । गीयते स्म मनोज्ञानि नटैर्नृत्यते स्म च ॥ वही 2 30
11 क स सा 6 3 1 2
12 क स सा तथा भा स पृ 140

है। लोक में कथा कहने सुनने की प्राचीन परम्परा रही है। आज भी ग्रामों में यह परम्परा सुरक्षित है। रात्रि के समय ग्राम में स्थान विशेष पर चौपाल लग जाती है और आपस में मनोरंजक एवं उपदेशप्रधान कथाएँ कही सुनी जाती हैं। बच्चों को दादी नानी के कहानियाँ सुनाने की प्राचीन परम्परा आज भी लोक में प्रचलित है। कथासाहित्यकालीन लोक जीवन में कथा श्रवण की परम्परा थी और यही उसके मनोविनोद का सर्वसुलभ मुख्य साधन था। बृहत्कथा, कथासरित्सागर, शुकसप्तति आदि कथाग्रंथों की रचना भी इसी परम्परा की कड़ी का परिणाम है। गाँव की गलियों में बच्चे आँख मिचौली का खेल खेलते किम्वा कहानी कहते, गुड़िया और गेंद (कन्दुक) से खेलते हुए मन को बहलाते थे।[1] बच्चे आपस में गेंद खेलते थे।[2] देव मंदिर में नाटक खेले जाते थे। लोग नाटक देखकर आनंदित होते थे।[3] मल्लयुद्ध में विभिन्न दाँव पेंच से पहलवान एक दूसरे को पराम्त करने का प्रयत्न करते थे।[4] जिसे जनसामान्य देखने जाता था।

संस्कृतकथासाहित्य में लोक के मनोविनोद विषयक साधनों की जानकारी अल्प मात्रा में मिलती है। वस्तुत "लोक" का अधिकांश भाग उच्चवर्ग की सेवा शुश्रूषा में संलग्न था। राजा, सामंत, ऐश्वर्यसम्पन्न श्रेष्ठी एवं जमींदार के यहाँ कार्य करने वाला भृत्यवर्ग दास दासी भारवाहक स्वामी के विलासितापूर्ण मनोविनोद के साधन उत्पन्न कर रहे थे या स्वयं ही उसके मनोविनोद के उपकरण बनकर रह गये थे। मनोरंजन हेतु राजाओं को दहेज में कई दासियाँ देने का प्रचलन था। विदूषक तो राजा का एक स्थायी मनोरंजक उपकरण था। कथासाहित्यकालीन समाज में प्रजा का स्वामी कहा जाने वाला राजा अत्यधिक विलासी हो गया था। अपने कर्तव्यों को भूलकर रात दिन सुरा पान द्यूत क्रीड़ा में संलग्न रहता एवं नित नई सुन्दरी की तलाश में रहता था। नव यौवना सुन्दरी के दृष्टिपथ में पड़ जाने पर राजा उसे पाने के लिए उद्यत हो उठता। मंत्री, सचिव एवं भृत्यवर्ग उस सुन्दरी को राजा के लिए उपलब्ध कराने में जुट जाता और रात्रि में राजा को नींद न आने पर मंत्री एवं भृत्यवर्ग विभिन्न कथाएँ सुनाकर उसका मनोविनोद करते थे।

उत्सव

प्राचीनकाल से ही अपनी खुशी को अभिव्यक्त करने की मनुष्य की प्रबल इच्छा रही है। मनुष्य अपनी खुशी को अभिव्यक्त करने के लिए समय समय पर्व त्यौहार यात्रा एवं मेले आदि उत्सवों का आयोजन करता रहा है। कुछ उत्सव ऐसे हैं जो नियत तिथि को मनाये जाते हैं कुछ व्यक्ति स्वेच्छा से अवसर विशेष पर शुभ मुहूर्त देखकर आयोजित करता है। लोक प्रचलित उत्सव संस्कृति के पुनीत प्रतीक होते हैं। व्यक्ति की इच्छा एवं वैभव के अनुकूल ही उत्सव किये जाते हैं।[5] संस्कृत लोककथा साहित्य में समाज में धनी निर्धन उच्च निम्न सभी वर्गों के लोग अपनी आर्थिक सम्पन्नता के आधार पर छोटे बड़े

---

1 पुरगकुल्जविसपेनु तस्य रथ्येषु रथ्यन्यु।
नेत्रपिधानकाद्यन्यपुत्रिकाकन्दुकैरिति॥ —बृ क श्लो 14 32

2 "बालधात्रान्नध्यायैः क्रीडति स्म सकन्दुक॥" —वही 6 17

3 क स सा 10 1 74

4 वही 2 2 15 5 2 121

5 वही 12 31 30

विभिन्न उत्सवों का आयोजन करते हैं। तत्कालीन समाज में "बसन्तोत्सव" सर्वप्रधान लोकोत्सव रहा है। वसन्तोत्सव (मधु) बड़े धूम धाम से उद्यान में मनाया जाता था।[1] जहाँ मेला लगता एवं लोग मेला देखने जाते थे।[2] उत्सव में स्त्रियाँ नृत्य करती एवं गीत गाती थी।[3] लोग जल क्रीडा करते थे।[4] इस अवसर पर नगर-ग्राम में यात्रा (जुलूस) निकाली जाती थी।[5] जिसे घर की खिडकियों से स्त्रियों के देखने का उल्लेख है।[6] वसन्त ऋतु के आगमन की खुशी में आयोजित यह उत्सव एक सामाजिक अभिव्यक्ति का रूप था। "इस अवसर पर काम देवता मदन की पूजा होती थी। विशेष रूप से यह युवक-युवतियों का उत्सव था। इसका आयोजन बहुत ठाठ बाट से होता था। नागरिक नगर की सजावट देखने आते थे। इसलिए उक्त अवसर पर प्रेमी प्रेमिकाओं को मिलने के अनेक सुअवसर प्राप्त होते थे। ऐसी निशा में वसन्तोत्सव की पूर्ण वासन्ती चन्द्रिका छिटकी रहती थी। इस समय के समग्र वातावरण में रति विलास और संगीत की प्रधानता होती थी।"[7]

सम्भव है यह उत्सव वसन्त ऋतु के समय चैत्र मास में मनाया जाता रहा हो। भारतीय सामाजिक जीवन में मनोरंजनपूर्ण वसन्तोत्सव प्राचीनकाल से नियमित मनाया जाता रहा है। इसका विकसित रूप आधुनिक "होली" है।[8] आजकल होली फाल्गुन पूर्णिमा को होती है। वसन्तोत्सव प्रतिवर्ष चैत्र मास में मनाया जाने वाला वह लोक त्योहार था, जिसे कोई व्यक्ति या वर्ग विशेष ही नहीं, अपितु सभी लोग हर्षोल्लास से मनाते थे।

प्रतिवर्ष आषाढ शुक्ल चतुर्दशी को लोक यात्रोत्सव का आयोजन हुआ करता था।[9] इस उत्सव में पवित्र तीर्थ स्थल की यात्रा की जाती, जहाँ जाकर स्नान किया जाता था।[10] इस तीर्थोत्सव में नर नारी भाग लेते थे।[11] इसी भाँति आषाढ मास के शुक्ल-पक्ष की द्वादशी को समुद्र के मध्य रत्नकूट नामक द्वीप में भगवान् विष्णु के स्थल अर्थात् मन्दिर पर यात्रा मेला लगता था, जहाँ भगवान् विष्णु की पूजन के लिए दूर दूर से सभी द्वीपों

---

1 "तस्मान्मधूत्सवाभिप्तयौरलाके गृह मम।" क स सा 1 4 35

2 वही 1 6 108 2 3 87

3 "स वसन्तोत्सवोद्दामप्रनृत्यत्पौरचर्चरी।" वही 9 4 58

4 वही 1 6 108

5 क्रमेण यौवनस्था सा मधुमासे कदाचन।
यथौ यात्रोत्सव द्रष्टुमुद्यान सपरिच्छदा॥ वही 12 22 6

6 वही 3 3 72

7 क स सा तथा भा स पृ 121

8 'The spring festival a regular and a very interesting feasture of ancient Ind.a Social ancient life and its development into modern Holi have been brought out in a clear orderly and regular manner with reference to the instances found in the Kathasaritsagar

–Socio Cultural life of India as known from Somadeva P

9 तस्यामाषाढचतुर्दश्या शुक्लाया प्रतिवत्सरम्।
यात्राया स्नातुमेति स्म नानादिग्भ्यो महाजन॥ —क स सा 12 13 6

10 वही 13 1 86

11 वही 12 22 6

के यात्री आते थे।[1] एक अन्य धार्मिकोत्सव मेष सक्रान्ति का उल्लेख भी हुआ है जो सूर्य के उत्तरायण होने पर मनाया जाता था। इस अवसर पर लोग पवित्र तीर्थ स्थलो पर जाकर स्नान किया करते थे।[2] इस उत्सव पर गगा स्नान का विशिष्ट महत्त्व था।[3] आज मनाई जाने वाली मकर सक्रान्ति उस समय की मेष सक्रान्ति ही है। आज भी लोक मे मकर सक्रान्ति के दिन पवित्र धार्मिक तीर्थ स्थल गगा आदि मे स्नान करने की परम्परा प्रवहमान है। इन्द्रोत्सव[4] एव उदक दानोत्सव[5] दो ऐसे धार्मिक उत्सवो का भी उल्लेख हुआ है। उदक दानोत्सव को जलाजलि दान महोत्सव भी कहा गया है।[6] आज के कुभ पुष्कर मेले की भाति उस समय भी तीर्थ स्थलों पर मेले लगा करते थे जहाँ नर नारी जाकर पुण्योदक में स्नान कर अपने को धन्य एव पवित्र मानते थे। गगा स्नान की परम्परा तो आज भी लोक में विद्यमान है जिसके पीछे लोगों की यह दृढ आस्था है कि गगा स्नान करने पर सारे पाप धुल जाते हैं।

समाज में पुत्र जन्मोत्सव एव विवाहोत्सव भी मनाये जाते थे। ये दोनों उत्सव आर्थिक सम्पन्नता से जुडे थे। जिसकी जैसी आर्थिक स्थिति होती उसी के अनुरूप ये उत्सव आयोजित किये जाते थे। उच्च वर्ग पुत्रोत्सव बडे धूम धाम से मनाते थे।[7] राजा के पुत्रोत्पत्ति होने पर अत्यन्त उत्साह एव सम्पन्नता के साथ राज्य भर मे व्यापक रूप मे पुत्र जन्मोत्सव मनाया जाता था।[8] पुत्र का उत्पन्न होना कुटुम्ब के हार्दिक उत्सव का मूर्तरूप था।[9] राज पुत्र महोत्सव मे राजा के द्वारा वस्त्र आभूषण बाँटे जाते सवको का धन लुटाया जाता स्त्री पुरुष मगल गान गाते नृत्य करते रीति रिवाजों को जानने वाली स्त्रियाँ रनिवास मे एकत्र हो जाती थी। खुशी में नगर की सम्पूर्ण भूमि अबीर गुलालमय हो जाती थी।[10] लोक जीवन मे पुत्रोत्सव अपने घर परिवार में ही मनाया जाता रहा होगा। पुत्र जन्म महोत्सव आयोजित करने की आर्थिक क्षमता उसमे न था। उसके पास न तो वस्त्राभूषण बाँटने को थे न उसके यहाँ दास दासी थे न धन ही था जिसे वह भृत्यजन को लुटाता। परन्तु लोक जीवन मे भी पुत्र जन्म उत्सव अवश्य ही अपने परिवार के बीच में मनाया जाता रहा होगा। आज भी पुत्र उत्पत्ति पर खुशी में विभिन्न आयोजन किये जाते हैं। मिठाइयाँ बाँटी जाती हैं।

---

1 अस्ति द्रुपदस्य मध्ये रत्नकूटाख्यमम्बुधे । कृतप्रतिष्ठस्तत्रास्ते भगवान्धर्मरश्मिना ॥ 3
आषाढशुक्लद्वादश्या तत्र यात्रोत्सवे सदा । आयान्ति सर्वद्वीपेभ्य पूजायै वन्दना जना ॥ 4
—क स सा 5 3 3-4

2 वही 13 1 152

3 मयेह गङ्गास्नानार्थमागतेनोत्तरायणे ।" क स सा 13 1 52

4 इन्द्रोत्सव कदाचिच्च प्रविष्टु निर्गता वयम् । वही 1 4 3

5 अस्यामुदकदानाख्ये मतत्यदुत्सव पुरि । वही 1 2 25

6 अद्यारक्यमपसुमन प्रविवर्धमयात्यत् ।" वही 16 2 5

7 वही 4 3 77-85 9 5 164 165 4 3 76 2 3 74 75

8 वही 9 2 345

9 अविवादत मत्तावन्दा तस्याभवन्ति मे सुत । वर्धिष्णु कुलमस्य कुत्स्नस्य हर्षमयत ॥ —वही 4 2 153

10 वही 4 3 ~~-8

पुत्र जन्म उत्सव की भाँति विवाहोत्सव भी धूम धाम से मनाया जाता रहा है। इस मागलिक अवसर पर स्त्रियाँ मगलगान करती थी।[1] राज-पुत्र, राज पुत्री का विवाह सार्वजनिक-उत्सव का रूप ले लेता था। उसमें समस्त नगर-जन भाग लेते थे।[2] "लोक" के यहाँ विवाह पारिवारिक या सगे सम्बन्धियों के उत्सव के रूप में होता था। विवाहोत्सव में मंगल गीत गाये जाते, विभिन्न नृत्य किये जाते।[3] इस अवसर पर खुशी में मद्यपान भी किया जाता था।[4] लोक के लिए विवाह भी एक उत्सव ही था जिसमें कुटुम्ब, परिवार जन, सगे सम्बन्धी एकत्रित होते थे।

इन उत्सवों के अतिरिक्त राजा, सामन्त, विजयोत्सव[5] युवराज अभिषेक उत्सव[6] कृपा महोत्सव[7] तथा पुत्री के उत्पन्न होने पर पुत्र-जन्म से भी अधिक हर्ष एव प्रसन्नता के साथ उत्सव मनाये जाने का उल्लेख है।[8] विजयोत्सव युद्ध आदि में विजय प्राप्त करने पर तथा कृपा महोत्सव किसी विशिष्ट देव-कृपा से कार्य-सिद्धि होने पर आयोजित किया जाता था। इन उत्सवों मे राजा धन वर्षा करके, दान देकर प्रजा में प्रशसा का पात्र बन जाता। लोगों में वीर, दानी कृपालु आदि नामों से जाना जाता। राजा विभिन्न उत्सवों पर वस्त्राभूषण एव धन सेवकों याचकों में बाँटता था। "लोक" यह नही समझ पाता कि राजा द्वारा बाँटा जाने वाला धन उसका ही है। राजा द्वारा प्रजा के धन को प्रजा के लोगों में बाँटने से राजा को क्या हानि थी। परन्तु यह ध्यातव्य रहे कि भले उस समय के विभिन्न उत्सवो का आयोजन लोक द्वारा न किया जाता रहा हो परन्तु "लोक" की उनमे सक्रिय भूमिका रही है। इस प्रकार राजा सामन्त द्वारा आयोजित विभिन्न महोत्सवों में व्यय होने वाला सम्पूर्ण धन लोक का था। महोत्सवों की शोभा बढाने वाला अलकरण "लोक" का मनोरजन एव उत्सवों में एक उपकरण के रूप में प्रयोग करता था।

10. शिक्षा एव कला

सस्कृत लोककथा साहित्य के समाज में शिक्षा-प्रणाली प्राचीन पारम्परिक पृष्ठभूमि पर आधारित थी। दूर देशों से आकर एव गुरुकुल में रहकर छात्र विद्याध्ययन करते थे। कथासाहित्य में गुरकुल के कई रूप देखने में मिलते हैं। विद्वान् उपाध्याय किसी प्रमुख नगर या ग्राम में गृहस्थ रूप में रहते थे जहाँ अध्ययन अध्यापन किया जाता था तथा जिन्हें अग्रहार, ब्राह्मण मठ एव गुरु-गृह कहा जाता था। उस समय वलभी[9] कश्मीर, वाराणसी[10] एव पाटलिपुत्र[11] प्रमुख शिक्षा के केन्द्र थे। शिष्य की गुर के प्रति अगाध

1 "प्रमादमासेव्य च तद्विवाहज प्रीतनृत्यलिखिलाङ्गनागणम्" —क स सा 12 34 381
2 वही 6 8 250 254
3 वही 12 28 91 18 4 127
4 वही 6 1 99
5 वही 17.3 93
6 वही 6 8 120
7 वही 9 4 72 73
8 वही 6 8 49
9 वही 10 10.5-6
10 वही 10 9 214
11 वही 10 10.5-6

आस्था थी। वह गुरु की अटूट निष्ठा एवं श्रद्धा पूर्वक सेवा करते हुए अध्ययन करता था।[1] शिष्य ब्राह्मण या क्षत्रिय ही होते थे। उस समय पाठ्य विषयों में वेद का महत्त्व पूर्ववत् था।[2] एवं वेदाध्ययन का अधिकार वैश्य एवं शूद्र को नही था। कथासरित्सागर मे वैश्य का एकमात्र उदाहरण मिलता है। वह अकिंचन एवं दीन माता का पुत्र है जिसे अक्षर लिखना एवं गणित के हिसाब किताब को सीखने का अवसर मिलता है।[3] इस प्रकार कथासाहित्य मे शिष्ट, उच्च एवं सभ्य कहे जाने वाले वर्ग की शिक्षा के विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है परन्तु लोक की शिक्षा के विषय में विस्तृत जानकारी का अभाव है। अग्रहार (ग्राम) राजा द्वारा विद्वान् ब्राह्मण को दिया गया दान था जहाँ केवल ब्राह्मण ही रहा करते थे। इसे ब्राह्मण विद्या केन्द्र कहा जा सकता है। मठों पर ब्राह्मणों का आधिपत्य था।[4] जिन्हें ब्राह्मण मठ भी कहा जाता था।[5] गुरुकुल या गुरु गृह ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के लिए विद्याअध्ययन के केन्द्र थे। परन्तु वैश्य एवं शूद्र के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी। हाँ यह ठीक है कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के लिए शिक्षा के उपलब्ध होने से लोक का किंचित भाग दीन हीन अभावों से ग्रस्त ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कहे जाने वाले 'लोक' को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार तो था। परन्तु प्रश्न यह है कि आजीविका के अभाव में क्या कोई व्यक्ति शिक्षा के विषय में सोच सकता है? यद्यपि गुरुकुल में भिक्षाटन ब्रह्मचारी का दैनिक कर्त्तव्य पालन था।[6] परन्तु गुरुकुल से लौटन के बाद आजीविका के अभाव मे वह क्या करे? कथासरित्सागर में एक कथा मिलती है जिसमें काशी निवासी श्रीकण्ठ नामक ब्राह्मण के पुत्र नीलकण्ठ को बाल्यावस्था में संस्कार के उपरान्त विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल को भेज दिया गया परन्तु विद्याध्ययन कर जब वह घर को लौटा तो उसके सब सगे सम्बन्धी मर चुके थे। अनाथ और निर्धनावस्था में वह गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ व दुःखी होकर कठोर तपस्या करने चला गया।[7] अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्रह्मचर्य भिक्षाटन को आजीविका मानकर यदि निर्धन ब्राह्मण या क्षत्रिय विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल चला गया होगा तो वहाँ से लौटने के उपरान्त उसकी क्या दशा हुई होगी। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह मे कहा गया है कि विद्या तो गुरु की शुश्रूषा करने से प्राप्त होती है या धन व्यय करने से।[8] तो कहाँ सम्भव थी दरिद्र हीन

1 तत स गत्वा विद्यार्थी पुर पाटलिपुत्रकम् । सिषेवे वेदकुम्भाख्यमुपाध्याय यथाविधि । क स सा । 2 5।
2 वही 8 6 161 6 1 164 8 6 8 7 । 116 8 6 156
3 उपाध्यायमथाध्यर्थ्य तयाकिंचन्यशस्या । क्रमेण शिक्षितश्चाहं लिपि गणितमेव च । वही । 7 37
4 वही 3 4 105
5 राजतरङ्गिणी 7 214 8 243
6 क स सा 14 4 24
7 सोऽह गुरुकुलाधीतविद्यो बाल्य निज गृहम्
उपैमि यावत्तावन्मे विनष्टा सर्वबान्धवा ॥17
तेनानाथोऽधनश्च गार्हस्थ्यासिद्धिदुःस्थित ।
निर्विण्णोऽहमिहागत्य तपस्तीव्रमशिश्रियम् ॥18 —वही 12 11 18
8 गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा बृ क श्लो 17 17

जिनकी सिद्धि असभ्य, ग्रामीण एव निम्न कहे जाने वाले लोक म सम्भव थी। स्थापत्य मूर्ति एव चित्र आदि लोक कला एव मोहिनी, अनुलोम प्रतिलोम, विष मत्र, वेताल सिद्धि आदि लोक विद्या के प्रकृष्ट जीवन्त उदाहरण मिलते हैं जिन्हे किसी गुरुकुल म रहकर नही सीखा जाता वल्कि लोक प्रचलित ये विद्याएँ कलाएँ पीढी दर-पीढी मौखिक परम्परा म प्रवहमान थी। इनकी सिद्धि के लिए विशिष्ट विधि से साधना की जाती, व्रत, उपवास रखे जाते बलि दी जाती एव मत्र सीखे जात थे। सम्भव है आज के तथाकथित सभ्य समाज को ये लोक कथाएँ एव कलाएँ जादुई खेल लगें कल्पना की उडान लगे परन्तु यह कहा जा सकता है कि लोक शिक्षा (विद्या) वनिस्पत वेद विद्या (गुरुकुल शिक्षा) के जीवन स अधिक जुडी थी। व्यावहारिक जीवन मे उसका उपयोग था। वेदाध्ययन तो समाज म पाण्डित्य प्रदर्शन एव मस्तिष्क अर्थात् ज्ञान का विषय बनकर रह गया था जिसका जीवन में कोई व्यावहारिक महत्त्व न था।

11. लोक-विश्वास

लोक के व्यावहारिक जीवन म कदम कदम पर पारम्परिक विश्वास एव मान्यताओं की महता भूमिका होती है। लाक के लिए परम्परागत बात एक सुदृढ एव पवित्र आस्था के तत्त्व बन जाते हैं। वह उन परम्पराओं में किंचित मात्र भी परिवर्तन तथा परिष्कार नही करना चाहता, वरन् उन्हे ज्यों का त्यों अपना लेना ही अपना पावन कर्तव्य मानता है। इसके पीछे दो कारण होते हैं—1 उनकी आस्थाशील प्रकृति 2 परिवर्तन के प्रति भय या आशका।"[1] ऐसी बाता को आज का सभ्य समाज भले ही अन्ध-विश्वास कह कर अपना मुँह फेर ले परन्तु "लोक" के लिए तो व दृढ विश्वास एव आस्था के ऐसे प्रतीक चिह्न हैं जिनमें वह स्वय जीता है। चाहे वे टोने टोटके भूत-प्रेत, डायन चुडैल झाड-फूँक, तत्र मत्र से सम्बन्धित हों या भाग्य पूर्वजन्म, कर्म स्वप्न भविष्यवाणी दिव्य अलौकिक शक्तियों एव शकुन से सम्बन्धित ही क्यों न हों। सस्कृत लोककथा साहित्य में वर्णित लोक विश्वासों को निम्न प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—

1 भाग्य, कर्म पूर्वजन्म एवं विधाता से सम्बन्धित।
2 शाप भविष्यवाणी, स्वप्न एव ज्योतिष से सम्बन्धित।
3 भूत प्रेत डाकिनी योगिनी, वताल आदि से सम्बन्धित।
4 तत्र मत्र एव जादू टोना।
5 लोक परलोक स्वर्ग नरक एव पुनर्जन्म।
6 शकुन अपशकुन।
7 अलौकिक तत्त्व—रूप परिवर्तन परकाया प्रवश, अद्भूत प्रभाव वाली वस्तुएँ आदि स सम्बन्धित।
8 अन्य।

1 अष्टछापकृष्णकाव्य में लाक तत्त्व, पृ 67

भाग्य, कर्म एव पूर्वजन्म—

'भारतीय विचारधारा दैव या भाग्य को मानव कार्य कलापों मे बाहर से हस्तक्षेप करने वाली शक्ति नही मानती, अपितु उसकी दृष्टि मे प्राणी के अपने ही कर्मो से उद्भूत एक ऐसी शक्ति है जो उन कर्मों के अनुसार उसके भावी जीवनक्रम को निर्धारित एव नियन्त्रित करती है।'[1] भाग्य और कर्म अन्योन्याश्रित है। कर्म और भाग्य साथ साथ चलते है। भाग्य प्रबल है। पर इसान के कर्म न करने पर भाग्य डूब जाता है। मनुष्य कर्म करता रहे और अगर भाग्य साथ न दे तो कर्म का फल नष्ट हो जाता है।[2] पूर्वभव कृत शुभाशुभ कर्मों के फल का ही दूसरा नाम भाग्य है।[3] परन्तु उद्यमविहीन पुरुष का भाग्य भी फलीभूत नही होता है।[4] भाग्य और कर्म दोनो एक दूसरे से जुडे हुए हैं। भाग्य कर्म से पर की वस्तु नही है। पौरुष (कर्म) के अभाव मे पुरुष का भाग्यफल सत्तायुक्त होते हुए भी उसी प्रकार निष्क्रिय है जिस प्रकार धनुर्धर के बिना धनुष एव बोने वाले के बिना बीज निष्फल एव निष्क्रिय है।[5] मनुष्य कर्म करते हुए भी उसके फल को दैवाधीन मानता है क्योंकि "अपने सिर की छाया और दैव की गति का कौन उल्लघन कर सकता है।'[6] पूर्वजन्म के कर्मो से जिस प्राणी का जो भवितव्य होता है वह बिना प्रयत्न किये ही असाध्य होने पर भी स्वय सामने आकर उपस्थित होता है।[7] पौरुष को वृक्ष एव भाग्य को उसकी जड मानकर कहा गया है कि "पौरुष का वृक्ष तभी फल देता है जब भाग्यरूपी उसकी जड विकार रहित हो वह नीति के थाले मे स्थित हो और ज्ञान के जल से सींचा गया हो।[8]

जब मनुष्य विपत्तियो मे घिर जाता है और अपने 'पौरुष के भी नष्ट हो जाने पर वह अपने आपको भाग्य के भरोसे छोड देता है'[9] क्योंकि उसका विश्वास है कि "भाग्य की गति बडी दुर्जय होती है। उसे भला कौन जान सकता है।"[10] भाग्य यदि अनुकूल है तो वह अचिन्तित विषयो की घटना को भी घटित कर देता है और उसके (दैव) प्रतिकूल होने पर साधना का आधिक्य भी उसी प्रकार निष्फल हो जाता है जिस प्रकार अस्त को प्राप्त होने वाले सूर्य को उसकी सहस्र किरणे भी अवलम्ब देने में असफल हो जाती

---

1 संस्कृतनाटक में अतिप्राकृत तत्व पृ 243

2 मि. द्रा. पृ 39

3 एतच्चाभिधानस्य लक्षण पूर्वकर्मण । बृ क श्लो 21.51

4 न उद्युक्तकारस्य दैव फलति कस्यचित् ।कालकारणसामग्रीमाश्रयोऽपि ह्यपेक्षते ॥ वही 21.52

5 यथा धनुर्धनुष्क यथा बीजमवापकम् ।सत्तामात्रफल पुरुषस्तथा दैवमपौरुषम् ॥ वही 21.54

6 दैवायत्त च वस्त्विहक्कोचितु नार्हसि प्रिये ।को हि स्वशिरसश्छाया विधेश्चोल्लङ्घयेद्गतिम् ॥

—क स सा 9 2 211

7 इति पूर्वकर्मविहित भवितव्य जगति यस्य जन्तो य. ।तस्यत्नेन स पुरत पतित प्राप्नोत्यसाध्यमपि ॥

—क स सा 10 / 255

8 पुंसे ह्यनिकृते दैवं सिक्ते प्रज्ञानवारिणा ।नयालवाल फलति प्राय पौरुषपादप ॥

—क स सा 12 29 44

9 न ग निरुपमगनात पयोमयमिवर्णिनम् ।प्रभवपौरुष पश्यन्त्वनाश्रयमासता ॥ वही 12 34 186

10 शक्या हि केन निश्चेतु दुर्ज्ञेया नियतेर्गति । —वही 12 34 189

हैं।[1] लोगो का दृढ विश्वास था कि जो भी घटित होता है वह सब दैव के अधीन होता है। मनुष्य की समृद्धि और विपत्ति, जीवन और मरण का कारण दैव है।"[2] इसी दैव की विचित्र गति से समुद्रशूर नामक वैश्य का समुद्र मे गिरना, उसके धन का डूबकर नष्ट होना, गले का हार पाना मुर्दे पर बैठकर समुद्र पार करना, उसका छिप जाना निष्कारण मृत्यु दण्ड मिलना उसी क्षण प्रसन्न द्वीप के राजा से धन की प्राप्ति होना, मार्ग में फिर डाकुओं द्वारा उसका भी अपहरण हो जाना और अन्त में एक वृक्ष से फिर धन (हार) का प्राप्त हो जाता है।[3] "भाग्यवान् व्यक्ति के कल्याणकार्यों को सफल करने के उपाय दैव स्वय ही घटित कर देता है।"[4] "लोक' में व्यक्ति के द्वारा किये गये कर्मों का फल चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो, भले परिस्थितियों का सयोग मात्र ही क्यो न रहा हो परन्तु लोक जीवन में यह विश्वास दृढ रूप में घर कर चुका था कि उसके भाग्य मे यही लिखा था कि या "भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।" अर्थात् जो होना है वह होकर ही रहता है।

जन सामान्य का यह विश्वास था कि किसी विषय पर "दुख करना व्यर्थ है। पूर्वजन्म के किये को टाला नही जा सकता है।[5] क्योकि मनुष्य इस जन्म में जो कुछ भी पाता है वह उसके पूर्वजन्म् के सस्कारों का फल होता है।[6] और मरते समय मनुष्य की जैसी भावना रहती है अगले जन्म में वही रूप प्राप्त करता है।"[7] लोक में मनुष्यों में परस्पर स्नेह या विरोध दिखाई पडता है वह भी प्राय पूर्वजन्म के सस्कारों से ही प्राप्त होता है।[8] यहाँ तक कि स्त्री पुत्र, मित्र आदि भी पूर्वजन्म के सस्कारों के कारण ही स्नेही या विरोधी हो जाते हैं[9] और पूर्वजन्म के सस्कारों से ही इस जन्म में लोग परस्पर मिलते हैं।[10] लोगों का विश्वास सुदृढ हो चुका था कि सब कुछ पूर्वजन्म के सस्कारवश ही होता है।[11] इस जन्म के कारण पूर्वजन्म के सस्कार माने जा रहे थे। एक बनिये की लडकी पूर्वजन्म के सम्बन्ध से ही एक चोर पर दृष्टि पडते ही अनुरागवती हो जाती है और पति के रूप मे उसे प्राप्त न करने पर उसके शव के साथ चिता में प्रवेश कर जाती है।[12] यहाँ

---

1 प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यत करसहस्रमपि॥ —शुक, श्लो 143 पृ 118

2 "दैवमेव हि नृणा वृद्धौ क्षय कारणम्॥" —शुक श्लो 62 पृ 48

3 क स सा 9 4 130 135

4 तत्पारे च विमानकर्तुरपरस्यास्य क्व पूर्वं गति-
र्भव्याना शुभसिद्धयुपायरचनाचिन्ता विधत्ते विधि॥ —वही 7 9.256

5 "कृत दु खेन किं शक्य पूर्वकर्मातिवर्तितुम्" —वही 12 34 296

6 सि, द्वा, पृ 124

7 यद्भावितात्मा म्रियते जन्तुस्तद्रूपमश्नुते॥" —क स सा 12 2 159

8 किं च देव त्रिधा स्नेहो व्यापाद देहिनाम् ।प्राग्जन्मवासनाभ्यासवशात्प्रायेण जायते॥ वही 4.3.30

9 इत्थ दारादयोऽपीह भवन्ती भुवने नृणाम् ।प्राक्सस्कारवशायातवैरस्नेहा महापते॥ वही 4.3.51

10 एते च धन्या यथा त्वमादृक्स्नेहपर प्रभु ।प्राक्कर्मोपार्जिता यूयमन्योन्यस्य न सशय॥ वही 7 6 39

11 सत्य पूर्वार्जितोऽयं न स्वामी सर्वं हि तिष्ठति ।पूर्वकर्मवशादेव तथा च श्रूयता कथा॥ वही 7 6 41
—शुक प्रथमाकथा, पृ 15 16

12 क स सा 16 12 165 170

तक कि एक राजकुमारी पूर्वजन्म में अपने पति की क्रूरता को सोचकर ही इस जन्म में उसका मन पुरुषों के प्रति आकृष्ट नहीं होता है और न वह विवाह ही करना चाहती है।[1]

इसी प्रकार पूर्वजन्म में ऋषि विद्याधरों का राजा शास्त्रों का ज्ञाता होने पर भी पूर्वजन्म के किसी शाप के शेष रह जाने के कारण सुग्गा बना एवं उसकी पत्नी जंगल की सूकरी बनी।[2] उस समय समाज में पूर्वजन्म के विषय में जानने के लिए एक पात्र विशेष भी था। सिंह विक्रम विन्ध्यवासिनी देवी के प्रताप से वटवृक्ष की जड़ में खजाना एवं पूर्वजन्म देखने का पात्र प्राप्त करता है। उस पात्र में अपनी पत्नी का पूर्वजन्म में भीषण भालू (मादा) के रूप में और अपने को सिंह के रूप में देखकर पूर्वजन्म में जातिगत संस्कारों के कारण अपना और पत्नी का घोर मतभेद समझकर ही दुःख एवं मोह का त्याग कर देता है।[3] एक बालक पूर्वजन्म के अभ्यास से बचपन में ही परोपकार में लग जाता है।[4] संस्कृत लोककथासाहित्य में पूर्वजन्म से सम्बन्धित ऐसे विश्वास कई स्थलों पर उपलब्ध होते हैं।[5]

लोगों का विश्वास था कि "सब कुछ विधाता ही करता है। मनुष्य के किये तो यहाँ कभी कुछ भी नहीं हो सकता।"[6] "भाग्यहीन पुरुष बहुत कष्ट उठाकर भी कोई फल नहीं पाते क्योंकि विधाता ही उनके प्रतिकूल होता है।"[7] यहाँ तक कि विधाता के प्रतिकूल होने पर वह मनुष्य के पौरुष को भी जीत लेता है।[8] और तो और विधाता की इच्छा न होने पर मनुष्य मर भी नहीं सकता है। दुःखों से उद्विग्न एक व्यक्ति श्मशान में मरे हुए पुरुष को देखकर अपने समस्त दुःखों की निवृत्ति के लिए वृक्ष की डाली में फँदा डालकर लटक जाता है परन्तु अचेतावस्था में प्राण निकलने से पूर्व ही फँदा टूट जाता है। वह भूमि पर गिर पड़ता है और जब उसे चेतना आती है तो किसी कृपालु पुरुष को वस्त्र से हवा करते पाता है।[9] लोकजीवन में यह मान्यता थी कि विधाता ही सर्व शक्तिमान है जो इस सृष्टि का स्रष्टा (कारण) है।[10] जो कुछ भी यहाँ घटित हो रहा है वह उसके द्वारा पूर्व में ही निर्धारित किया हुआ है। विधि के विधान विचित्र हैं।[11] जिन्हें समझना असम्भव है। यहाँ तक कि देवी देवता के भी वश की बात नहीं है। जब विधाता वाम हो, तब

1 क. स. सा. 7.9.165-166
2. वही 10.3.157
3 वही 4.3.46-47
4 पूर्वाभ्यासेन बालोऽपि सदा परहिते रतः प्रज्ञापुण्यपरीपाक इव साकारतां गतः ॥ —वही 12.27.97
5 वही, 4.2.52-53, 7.9.154-157, 12.7.192-194, 17.6.109-110, 7.8.197
6 भो भ्रातः किं क्रियते सर्वमाचेष्टते विधिः। न शक्यं पुरुषस्येह क्वचित्किंचित्करं भवेत् ॥ वही 12.29.13
7 तथा सर्वथा ह्यभव्यानां कृतः क्लेशो महानपि। न फलाय विधिस्तेषु तथा वामो हि वर्तते ॥ वही 12.6.163
8. वही 12.7.104
9 वही, 12.29.14-23
10 "या निर्माय नवानर्घलावण्या नियत विधिः।" वही, 12.9.7
11 "अहो विधेरचिन्त्यैव गतिरद्भुतकर्मणः।" वही, 12.7.205
"विचित्रविभवे तस्मै सर्वथा विधये नमः।" वही, 12.34.326

स्वप्न में दिया हुआ देवी का निश्चित वचन भी किस काम आ सकता है ?"[1] सक्टापन्न व्यक्ति पर जब और दुखों का पहाड टूटे तो उस स्थिति में भी यह माना जाता है कि "विधाता सुख दुख मे मनुष्य के प्रगाढ धैर्य की परीक्षा लिया करता है।[2] "कथासरित्सागर का सुन्दरसन "परदेश, विरह की पीडा, नीच वणिक् स पराजय, अनाहार तथा मार्ग में चलने की थकावट इस पचाग्नि में तो पहले मे ही दग्ध हो रहा है अब शायद उसके धैर्य का अन्त देखने के लिए विधाता ने डाकुओं के आक्रमण के रूप में छठी अग्नि को भी सिरज दिया है।[3]

कथासाहित्य के लोक जीवन में पूर्वजन्म, भाग्य और विधाता में विश्वास की जडें गहरे तक जम चुकी थी। हर कार्य भाग्य, विधाता एव पूर्वजन्म से जुड गया था। फल की इच्छा किय बिना सदैव कर्म में तल्लीन रहने वाला "लोक" जीवन में सुख-दुख को पूर्वनियत मानकर सन्तुष्ट रहने लगा। उसका विश्वास था कि इस जन्म में जो कुछ भी हो रहा है वह तो भवितव्य है, भाग्य में ऐसा ही होना लिखा है, विधाता के लेख हैं, जिन्हें मिटाया नही जा सकता है। उसके वश में तो बस इतना ही है कि वह कर्म करता रहे, पुरुषार्थ करता रहे। अगर भाग्य में विधाता ने लिखा होगा पूर्वजन्म में अच्छे कर्म किये होंगे तो उसे अवश्य मिल जायेगा। उसकी यह मान्यता थी कि विधाता भी पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप ही इस जन्म में सुख दुख प्रदान करता है। इन विश्वासों में जीने वाले सरल हृदय "लोक" को श्रम के बदले जो मिलता उसी में सन्तोष कर लेता और इन विश्वासों की आड में छद्मवेशी पाखण्डी सदव उसे उत्पीडित करता रहा, जिसे जानते हुए भी वह उसके प्रति आक्रोश या विद्रोह की बात नहीं सोच सका। क्योंकि भाग्य, विधाता तथा पूर्वजन्म जैसी आस्थाएँ एव विश्वास उसे ऐसा करने से रोकते रहे।

शाप—

सस्कृतलोककथासाहित्य में शाप एक अत्यधिक लोकप्रिय एव रोचक तत्त्व है। "शाप एक प्रकार का व्यक्तिगत दण्ड विधान है। शाप देने वाले में सत्य न्याय, धर्म, तपस्या या योग की विशेष शक्ति मानी जाती है, जिसके प्रभाव से वह दोषी व्यक्ति को तत्काल दण्ड देन म समर्थ होता है।[4] शाप माता पिता भाई बहिन, मित्र या विशिष्ट सिद्ध व्यक्ति द्वारा उनकी आज्ञा का उल्लघन करने पर या उनके विरुद्ध आचरण करने पर निश्चित अवधि के लिए दिया जाता है। शापग्रस्त व्यक्ति अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर पाता और वह मनुष्य से पशु पक्षी आदि विभिन्न योनियों में जन्म लेकर कष्ट पाता है। विद्याधर शापवश मर्त्यलोक म जन्म लेते हैं। शापित व्यक्ति अनेक कष्टों को सहन हुए शाप अवधि क पूरा होने पर पूर्व अवस्था को प्राप्त कर लेता है। प्राय शाप की अवधि क साथ शाप विमुक्ति का उपाय या कारण भी बताया जाता है। शापवश

1 क स सा 12 36 40

2 मन्ये कल्याणमत्र स्यान्युरुषस्यास्य विधि पुन परीक्षत गाढ धारत्व सुखदुखयो ॥ वही 14 3 1

3 वही 12 34 285 286

4 सस्कृतनाटक में अतिप्राकृत तत्त्व पृ 209

अजगर बने विद्याधरों के राजा काचनवेग की विमुक्ति इस प्रकार बताई गई है यज्ञसोम मार्ग में जाते हुए एक जगल में पहुँचा तो दैववश वहाँ एक अजगर उसे निगल गया। यह देखकर उसकी पत्नी भूमि पर बैठकर रोने लगी। उसका रोना धोना सुनकर अजगर मनुष्य की वाणी में उससे बोला— हे भली स्त्री तू इस प्रकार क्या रो रही है। तब उस ब्राह्मणी ने कहा-'हे महाप्राणी । मैं क्यों न रोऊ जबकि तूने विदेश में मुझ दुखिया का भिक्षापात्र ही हरण कर लिया। मुझ स्त्री को अब कौन भीख देगा। उस सदाचारिणी ब्राह्मणी के इस प्रकार कहने पर अजगर ने अपने मुँह से उगलकर एक बडा सा सोने का पात्र उसके आगे रख दिया और कहा—"यह ले भिक्षापात्र। मांगने पर जो भी व्यक्ति इस पात्र में दान नही देगा उसके सिर के सैकड़ों टुकडे हो जायेंगे। यह मेरी सत्यवाणी है। तब वह सती ब्राह्मणी उस अजगर से बोली—"यदि ऐसा है तो पहले तू ही इस पात्र में मुझे पति की भिक्षा दे। उसके कहते ही अजगर ने समूचे और जीवित यज्ञसोम को उगल दिया। उसे उगलते ही तुरन्त वह अजगर दिव्य पुरुष बन गया और प्रसन्न होकर उन दोनों (पति पत्नी) से बोला—"मैं काचनवेग नाम का विद्याधरों का राजा हूँ। मेरे इस शाप की अवधि सती स्त्री के सवाद तक थी। आज वह समाप्त हो गई। अत अब मैं पुन अपने रूप में आ गया। ऐसा कहकर और उस सोने के पात्र को रत्नों से भरकर प्रसन्न विद्याधरराज आकाश में उडकर अपने लोक को चला गया।[1] इसी प्रकार यज्ञ सोम के हरिसोम एव देवसोम नामक दोनों पुत्र दीन हीन एव अनाथावस्था में मामा के शाप से मास भक्षी ब्रह्मराक्षस बने तापस के शाप से ब्रह्मराक्षस से पिशाच बने ब्राह्मण के शाप से पिशाच से चाण्डाल बने चाण्डाल से चोर बने, चोर से चोरों के सेनापति बने सेनापति से कटी पूँछ वाले कुत्ते बने कुत्ते बनने पर उन्हें पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और भगवान् शङ्कर के समक्ष नाचते रहने पर लोगों के कहने पर शिवजी के कहे अनुसार वे काग हो गये। काग से बाज हुए बाज से मयूर बने एव मयूर से हस हो गये और अन्तत हस से अपने पूर्वरूप को प्राप्त हुए।[2] इसी तरह शापवश शुक योनि में जन्म लेने पर भी विक्रम केसरी समस्त शास्त्रों का ज्ञाता एव दिव्य ज्ञान से युक्त है।[3] मुनि के शाप से जगली हाथी बने (शीलधर) को अपने पूर्व जन्म का वृतान्त स्मरण रहता है जिसकी बोली भी मनुष्य जैसी ही है और जिसके शाप की मुक्ति थके मादे अतिथि की सेवा शुश्रूषा करने एव अपनी कथा सुनाने से होती है। वह हाथी के शरीर से मुक्त हो गधर्व बन जाता है।[4] विद्याधरों के राजा समर की पुत्री अनगप्रभा के अपने रूप और यौवन के अभिमान

---

1 क स सा 10.5 310 322

2 वही 17 1.83-85

3 तत्र शापावतीर्णोऽपूर्हिम्यविज्ञानवाञ्शुक ।
विदग्धचूडामणिरित्याख्यया सर्वशास्त्रवित् ॥ —वही 12.10 6

4 ...। मुनिशापात्परिभ्रष्टो वन्यो हस्ती भविष्यसि ॥ 31
जातिस्मरो व्यक्तवाक्क भवानारमयिष्यति ।
यदातिसन्तर्मतिथि स्ववृत्तान्त च वर्ण्यति ॥ 32
तदा गजत्वान्निर्मुक्तो गन्धर्वस्त्व भविष्यसि ।
उपगारत्व तस्यापि भविष्यन्याति येस्तदा ॥ 33 —वही 12.7 31 33

मे किसी को भी पति रूप में पसन्द न करने पर उसके दुराग्रह से क्रुद्ध होकर उसके माता पिता ने शाप दिया कि वह मनुष्य योनि में उत्पन्न होगी और उस योनि मे भी उसे पति सुख न मिलेगा तथा सोलह वर्ष की अवस्था में ही वह मनुष्य देह का त्याग कर यहाँ आ जायेगी। मुनि-कन्या की अभिलाषा से शाप के कारण मानव देह को प्राप्त कुरूप मानव खड्गधर तेरा पति होगा। तेरे न चाहने पर भी तुझे वह मर्त्यलोक में ले जायेगा। तब दूसर के द्वारा तुझे ले जाने पर उसके साथ तेरा वियोग होगा। क्योंकि उस खड्गधर ने पूर्वजन्म में दूसरो की आठ स्त्रियो का अपहरण किया है। इसलिए वह आठ जन्मो तक भोगने के योग्य दुखों को प्राप्त करेगा। तू भी मानव बन जाने से, विद्याओं के नष्ट हो जाने के कारण एक ही जन्म में आठ जन्मों का दुख भोगेगी।[1] क्रुद्ध माता-पिता ने मकरन्दिका को भीलकन्या बनने का[2] स्थूलभुज को उसके पिता ने मर्त्यलोक में भयानक रूप एव आकृति वाले के रूप में उत्पन्न होने का[3] अशोक माला को मृत्युलोक में कुरूप ब्राह्मण से विवाह एव उसे छोडकर फिर अन्य तीन पतियों के पास जाने का और वहाँ से भागकर बलवान राजपूत के पास जाने एव पूर्व प्रथम पति के देख लेने पर जब वह मारने दौडेगा तब राजभवन में प्रवेश करने से शाप मुक्ति का[4] पुत्र पद्मसेन को क्रुद्ध पिता ने भार्या सहित मर्त्यलोक में जाने का[5] शाप दिया।

ग्रह-नक्षत्र—

लोक जीवन मे ज्योतिष शास्त्र में विशेष श्रद्धा रही है। सामान्यजन कार्य आरम्भ करने से पूर्व ज्योतिषी से शुभ मुहुर्त पूछते हैं। ज्योतिषी के कहे अनुसार शुभ-समय में विशिष्ट पद्धति से कार्य आरम्भ किये जाते हैं। ज्योतिषी ग्रह-नक्षत्रों की गणना के आधार पर भविष्यवाणी भी करते हैं तथा उसके सत्य सिद्ध होने पर घर घर में वे चर्चा का विषय बन जाती है।[6] भविष्यवाणी के अतिरिक्त आकाशवाणी में भी लोगों का विश्वास रहा है। इस वाणी को सत्य मानकर लोक उसके कहे अनुसार कार्य में प्रवृत्त होते हैं। यह वाणी अदृश्य रूप में किसी दिव्य दैविक या अलौकिक शक्ति द्वारा की जाती है। आकाशवाणी लोक हित में होती है। देवी चण्डिका के समक्ष जैसे ही वीरवर अपना सिर काटने को उद्यत हुआ कि आकाशवाणी हुई—"बेटा । ऐसा साहस न करो। तेरी इस वीरता से मैं बहुत प्रसन्न हूँ इसलिए तुम अपना मनमाना वर माँगो।" इस पर वीरवर अपने स्वामी राजा विक्रमतुग के लिए सौ वर्ष की आयु तथा अपनी पत्नी एव पुत्र के पुन जीवित होने का वर माँगता है। उस दिव्यवाणी के "ऐसा ही होगा।" कहने पर उसी क्षण उसकी पत्नी

1 क. म. सा. 9 2 169 176
2 वही 10 3 146 155
3 वही 9 2 76 77
4 वही 9.2.58-61
5 सोऽपि त तद्ग्रहक्रुद्ध. सभार्यमशपत्पिता। कि ते तपोवन गत्वा मर्त्यलोकमवाप्नुहि ॥ वही 7 8 205
6 सोऽह जातकनिर्दिष्टचौर्यस्तच्छास्त्रवेदिभि। तद्भीत्याध्यापित: पिता धर्मशास्त्र प्रयत्नत ॥

वही 12.5 192

अथाश्रूयन्त पौराणा जल्पितानि गृहे गृहे। सिद्धादेशवच: सत्य कृत व्योमचरैरिति ॥ बृ क श्लो.5 325

एवं पुत्र भी उत्पन्न है।[1] इसी प्रकार आकाशवाणी ने समुद्रशूर नामक वणिक एवं अनिच्छम्भन को मृत्यु मुख से बचाने की[2] राजकुमार नरवाहनदत्त के चक्रवर्ती राजा होने की[3] अलंकारवती के चक्रवर्ती नरवाहनदत्त की पत्नी बनने की[4] मदनमंचुका से सम्मिलन[5] तथा अन्य आकाशवाणी भी सत्य सिद्ध हुई देखते हैं।

स्वप्न–

लोक जीवन में शुभाशुभ स्वप्न में विश्वास था। जनसामान्य की मान्यता थी कि स्वप्न सत्य सिद्ध होते हैं। कुछ स्वप्न जल्दी फलदायी होते हैं तो कुछ विलम्ब से फलीभूत होते हैं। स्वप्न जीवन से जुड़ी भावी शुभ अशुभ घटना की सूचना पूर्व में ही दे देते हैं। "रजोगुणप्रधान और बाह्य विषयों से विमूढ प्राणी निद्रा के वश में होकर उन उन कारणों से स्वप्न देखता है।"[7] स्वप्न का विलम्ब से अथवा तुरन्त फल मिल जाना समय भेद से होता है। रात्रि के अन्त में देखा हुआ स्वप्न शीघ्र फल देने वाला कहा गया है।"[8] स्वप्न के अभिप्राय को न समझ पाने की स्थिति में नक्षत्रशास्त्र के ज्ञाता ज्योतिषी और सिद्ध भविष्यवक्ता से देखे गये स्वप्न को बताकर उसका फल पूछा जाता था।[9]

स्वप्न मुख्य रूप से अन्यार्थ यथार्थ एवं अपार्थ तीन प्रकार के बताये गये हैं। इनके विषय में कहा गया है कि जिसका फल तुरन्त होता है वह अन्यार्थ है। प्रसन्न हुए देवता आदि का आदेश यथार्थ होता है। गम्भीर अनुभव एवं चिन्ता आदि से होने वाला स्वप्न अपार्थ है।"[10] स्वप्न भावी शुभ अशुभ की सूचना देते हैं। स्वप्न में पार्वती के कमल के फूलों की माला पहनाने को उद्यत होकर अचानक रुक जाने से प्रिय मिलन में होने वाले विघ्न की पूर्व सूचना दी गई है।[11] कथासाहित्य में तीनों प्रकार के यथार्थ अन्यार्थ एवं अपार्थ स्वप्न के कई उदाहरण मिलते हैं। नीलकण्ठ को देवी गङ्गा स्वप्न में आकर फल देती है और कहती है कि इन फलों को खाते हुए तुम तब तक यहाँ रहो जब तक मनोरथ पूरे न हो जाएँ। यह सुनकर वह जाग पड़ता है और रात बीतने पर गंगा स्नान करने जाता है तो उसे जल में बहकर आए फल मिलते हैं।[12] इस प्रकार नीलकण्ठ के स्वप्न फल को तुरन्त ही प्राप्त करना अपार्थ स्वप्न है। यथार्थ स्वप्न के उदाहरण में भगवान् विष्णु को

---

1 क. स. सा. 9.3.177-190

2 वही, 9.4.116-120, 7.8.169-172

3 वही 9.1.216-217

4 वही 9.1.216

5 वही 14.1.35

6 वही 12.1.70

7 रजोगुणेन मनसा बाह्यार्थविमुखेन हि जन्तुर्निद्रावशः स्वप्नं तैस्तैः पश्यति कारणैः ॥ वही, 8.3.147

8 विरलाघ्रफलस्य च तस्य कालविशेषतः एव रात्र्यन्तदृष्टस्तु स्वप्नः शीघ्रफलप्रदः ॥ वही, 8.3.150

9 बृ. क. श्लो., 5.47-54, 2.51-53

10 स्वप्नस्त्वनेकधान्यार्थो यथार्थोऽपार्थ एव च । स सद्यः सूचयत्यर्थमन्यार्थः सोऽभिधीयते ॥ 147
प्रसन्नदेवतादेशरूपः स्वप्नो यथार्थकः । गाढानुभवचिन्तादिकृतस्त्वपार्थकः ॥ क. स. सा. 8.3.147-149

11 वही, 17.4.166-167

12 वही, 12.7.116-120

वर प्रदान करते हुए[1] शिवजी को आदेश देते हुए[2] श्वेत वस्त्र धारण किये दिव्य रूपा देवी को आदेश देकर अन्तर्धान होते हुए[3] विन्ध्यवासिनी देवी के आराधक को खड्ग प्रदान कर आदेश देते हुए[4], भवानी अम्बिका को आदेश देते हुए[5] भगवान् भास्कर को आदेश देते हुए देखते हैं।[6] बुरे स्वप्न के कारण भाई के अनिष्ट की आशका से दुखित अनिच्छासेन का उससे मिलने की उत्कण्ठा को अपने पिता मे प्रकट करना[7], एक व्यक्ति का स्वप्न में दृष्ट कन्या में अनुरक्त हो जाना[8] तथा राजा विक्रमशक्ति का चित्र फलक में देखी गई सुन्दरी को स्वप्न में देखना[9] अपार्थ स्वप्न ही है।

मानवेतर सत्त्व एव जादू-टोना—

सस्कृत लोककथासाहित्य के लोक जीवन में भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस, वेताल, डायन, योगिनी से सम्बन्धित अनेक मान्यताओं एव विश्वासों का प्रचलन रहा है। राक्षस बडे बडे दाँतों वाले एव भयानक आकृति वाले होते हैं।[10] ब्रह्मराक्षस के विषय में कहा गया है कि उसके केश बिजली के सदृश पीले थे। वह काजल के समान काला था और कालमेघ के समान ज्ञात पडता था। उसने अतडियों की माला और केशों का यज्ञोपवित पहन रखा था। मनुष्य के मस्तक का मास खा रहा था और खोपडी से रक्त को पी रहा था। क्रोध के कारण उसके मुँह से आग निकल रही थी। उसकी दाढें वडी भयावनी थी। उसका निवास स्थान एक पीपल का वृक्ष था।[11] राक्षस जिसके पीछे पड जाते हैं, उसका पीछा नहीं छोडते हैं। वे जब चाहे जिसको वेहोश कर सकते हैं। उसमें यकायक प्रकट होने एव गायब होने की शक्ति होती है। आदमी को चीरकर उसका खून पी जाते हैं।[12] भूत (राक्षस) लोक में किसी को भी ऐसा पकडते (जिसे आज लोक-जीवन में लग जाना कहा जाता है) कि झाड-फूँक करने वालों से भी नीरोग नहीं होता।[13] लोगों को राक्षस की पहचान थी। देवता भूमि का स्पर्श नहीं करते। यक्ष और राक्षस स्थूल (मर्त्यवासी) होते हैं। इसलिए उनके पदचिह्न विशेष रूप से पुलिन प्रदेश में गहरे धँसे होते हैं।[14] ये मनचाहा रूप धारण कर लेते हैं।[15] राक्षस या भूत की ही श्रेणी के वेताल को भी लोग पहचान लेते। वेताल भी भयानक आकृति वाला होता है। वेताल सिद्धि के लिए साधना की जाती है। सिद्धि करने की विशिष्ट विधि से उसका आह्वान किया जाता है। कथासरित्सागर के एक वेताल का रग काला है, वह लम्बा है गर्दन ऊट के जैसी है, मुँह हाथी के समान है, भैंस जैसे पैर हैं, उल्लू की सी आँखें हैं, गधे के से कान हैं।[16]

---

1 बृ.क श्लो. 4 109 114
2 क स सा. 7 9 145 146
3 वही 7 9 205
4 वही 7 8 117 120
5 वही 12 36 181 182
6 वही 9 6 47-48
7 वही 7 8 153
8 वही 17 6 71 77
9 वही 18 3.37
10 वही 7.8 129
11 वही 12.27 68-73
12 सि. द्वा, पृ 67-68
13 शुक, षट्चत्वारिंशत्तमीकथा, पृ 191 193
14 बृ क श्लो, 9 13 30
15 क स सा, 2.2 81
16 सोऽपि कृष्णच्छवि प्रांशुरुष्ट्रग्रीवो गजानन ।

श्मशान में भूतगण उत्सव मनाते हैं, कबन्ध नाचते हैं, रक्त मांस के भक्षण से वेताल ताली बजाते हैं।[1] अभीष्ट सिद्धि के लिए मन्त्रवेत्ता वेताल को मन्त्र से प्रसन्न करते हैं। रात्रि के समय श्मशान में जाकर शव को स्नानादि कराकर मन्त्र विशेष से शव में वेताल का आह्वान किया जाता है एवं विधिपूर्वक उसका पूजा कार्य सम्पन्न किया जाता है। उसे सन्तुष्ट करने के लिए मनुष्य के मांस का भोजन दिया जाता और मांस के लोभी वेताल के तृप्त न होने की स्थिति में मन्त्रवेत्ता को स्वयं का मांस भी देना पड़ता है।[2] वेताल के चढ़ने पर शव हिलने डुलने, चलने फिरने एवं बात करने लगता है।[3] लोग पिशाच में विश्वास करते थे। उनका मानना था कि पिशाच से ग्रस्त होने पर या बात सम्मोहित होने पर आदमी पागल सा हो जाता है।[4]

लोक जीवन में स्त्रियाँ भी योगिनी एवं डायन होती हैं। कथासरित्सागर में एक ऐसी डायन स्त्री का उल्लेख है जो कुछ मन्त्र पढ़ती हुई एक मुट्ठी जौ लेकर बोती है, बात ही बात में वे जौ पौधे बन जाते एवं उनके फल लग जाते हैं। फल के पक जाने पर दानों को तोड़कर पकाती (सेंकती) है फिर उन्हें पीसकर सत्तू बनाती है। सत्तू को काँसे के बर्तन में रखकर उस पर पानी छिड़ककर घर को व्यवस्थित कर स्नान करने जाती है। यह सब कुछ देखकर उसके पति ने उसे डायन समझकर झटपट दबे पाँवों जाकर उस बरतन के सत्तू को सत्तू की हंडिया में रख दिया और हंडियाँ में से उतना ही सत्तू निकालकर उस बरतन में रख दिया। वह स्त्री आकर सत्तू खाने व खिलाने लगी, उलट पलट का उसे पता न था अतः मन्त्र सिद्ध सत्तू को खाने से वह बकरी बन गई। क्रोधवश उसके पति ने उसे खटीक के हाथों बेच दिया।[5] डायन की बनाई डोरी को गले में बाँधने से व्यक्ति के मोर बन जाने का उल्लेख हुआ है।[6] डायन (डाकिनी) व्यक्ति को खा भी जाती है।[7] श्मशान भूत प्रेत से भरे रहते हैं तथा डाकिनियाँ वहाँ क्रीड़ा करती रहती हैं।[8] डाकिनियाँ श्मशान में चिता की आग में मन्त्रों के साथ मानव रक्त की आहुति दिया करती हैं।[9] सम्भवतः डाकिनियों के अतिरिक्त मन्त्र सिद्धि से अद्भुत शक्ति प्राप्त करने वाली योगिनियाँ होती हैं जो रात्रि में मनुष्य के रक्त मांस को प्राप्त करने के लिए आकाशमार्ग से आती हैं।[10] अभिमन्त्रित वस्तु के प्रभाव से रूप परिवर्तन (योनि) कर सकती हैं। वामदत्त योगिनी के अभिमन्त्रित जल के प्रभाव से भैंसे से मनुष्य का रूप प्राप्त करता है और वामदत्त स्वयं

1 क. स. सा. 14.4.107
2 वही 12.35.42-50
3 वही 12.8.52-56, 12.6.295-296, 12.8.192-195, 12.10.68
4 शुक्र, त्रिशतमीकथा, पृ. 145, सि. द्वा. पृ. 80
पुंभेव भूताक्रान्तेव तप्त: समोहितेव च । नोत्तरं पृच्छत: कश्चिद्ददौ परिजनस्य सा ॥ क. स. सा. 18.3.87
5 वही 12.4.265-273
6 वही 12.4.283-284
7 वही 12.8.150
8 बहुभूतगणाकीर्णमाक्रीडं डाकिनीप्रियम् । महाभैरवमश्मशानं चिताधूमसमाकुलम् ॥ वही 12.35.9
9 बृ. क. श्लो. 20.93-102
10 क. स. सा. 14.4.25-55

यागिनी मे प्राप्त थोडी सी अभिमत्रित सरसो को अपनी दुष्टा स्त्री पर छिडककर उसे घोडी बना देता है ।[1]

लोककथासाहित्य क अध्ययन मे योगिनिया एव डाकिनिया म स्पष्ट अन्तर रेखा खीच पाना सम्भव नही ह । कथासाहित्य मे इन दानों को पयाय के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है । सम्भव है डाकिनी को यकायक अदृश्य एव प्रकट होने की शक्ति प्राप्त थी, जो श्मशान भूमि म भूत प्रेतादि के साथ रहा करती हो, जिसे मत्र सिद्धि या अद्भुत शक्ति प्राप्त थी तथा जो पशु पक्षी का कच्चा मास भी खा लेती थी । लोक जीवन मे वह स्त्री जो विशिष्ट विधि से मत्र सिद्ध एव अद्भुत शक्ति प्राप्त करता, योगिनी कही जाती रही हा । परवर्ती काल में डाकिनी सदृश शक्ति प्राप्त होने मे उसे भी डाकिनी कहा जाने लगा हा । "तत्र मत्र जादू टोना का व्यापक प्रभाव उस युग की सबसे बडी विशेषता रही ह । समाज के अधिकाश लोगा की आस्था इस चमत्कारी विद्या के प्रति थी ।"[2] कथासाहित्य में विभिन्न मत्रो की सिद्धि प्राप्त करने की विधि, उनका प्रयोग एव उनसे प्राप्त अलौकिक क्षमता का विशद उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] इन तत्र मत्रों की सिद्धि के लिए आराध्य की आराधना की जाती थी[4] एव श्मशानभूमि को साधन के लिए उपयुक्त स्थान माना जाता था ।[5] इन तत्र-मत्र एव औषधियों के प्रभाव से पुरुष स्त्री एव स्त्री पुरुष बन जाती थी ।[6] भूताविष्ट व्यक्ति की मत्रवेता झाड फूँक करता था ।[7] बाह्य शक्तियों से बचने के लिए बच्चों क गले मे ओषधियुक्त गण्ड बाँधे जात थे ।[8] मत्र एव जडी-बूटी मे सरक्षित कवच पहन जात थे ।[9] किसी व्यक्ति को मारन एव अभीष्ट सिद्धि के लिए तात्रिक का सहारा लिया जाता[10] देवता को प्रसन्न करने के लिए नर बलि दी जाती थी ।[11]

लोगा का ज्योतिष शास्त्र में अटूट विश्वास था । ज्योतिषी कुण्डली का मिलान कर जन्म नक्षत्र आदि पूछकर शुभ-मुहुर्त निकालता था । कभी समुचित दक्षिणा से प्रसन्न ज्योतिषी कुछ ही दिनो में विवाह-लग्न निश्चित कर देते थे ।[12] इससे उनकी लोलुप प्रवृत्ति

1 क स सा 12 15 1 56

2 क स सा एक सास्कृ अध्ययन, पृ 24

3 क स सा 3 6 87-88 7 3 170 8 3 115 116 सिं, द्वा, पृ 80 बृ क श्लो 20 93 102

4 क स सा 3 6 110 2 3 48 3 6 32 3 4 150, 12 27 71 15 1 96 7 3 54 18 2 16 18 2 6 2 5 87 10 5 294

5 वही 8 6 163 3 6 15 51 5 3 205 206 6 2 164 166
वेतालपचविंशतिका की सभी कथाओं को इसी रूप में देखा जा सकता है ।

6 — । तदेव देवतादेशान्मन्त्रौषधवशेन वा ॥ 87
पुरुष स्त्री कदाचित्स्यात्स्त्री वा जातु पुमानभवेत् ।
भवन्ति चैव सयोगाः कामजा महतामपि ॥ 88 —क स सा 12 22 87-88

7 शुक त्रिपञ्चाशत्तमीकथा, पृ 216 217 एकोनत्रिंशत्तमीकथा, पृ 144

8 बृ क श्लो 27 76-87

9 वही 1 18

10 सिं, द्वा, पृ 15

11 क स सा 10 5 289 294

12 वही 6 8 247 6 6 5 9 9 2 140 146 12 34 118 119 12 36 171 9 4 148 150

का ज्ञान होता है। सामुद्रिक द्वारा हस्त रेखा, पद रेखा आदि शारीरिक लक्षणों के आधार पर लोग अपने भविष्य एवं अतीत के विषय में जानने को उत्सुक रहते थे।[1] लोगों का लोक परलोक एवं पुनर्जन्म में विश्वास था।[2] उनकी मान्यता थी कि अच्छे कर्म करने वाले को स्वर्ग मिलता है और बुरे कर्म करने वाले को नरक में धकेल दिया जाता है। तपस्या एवं भगवत् नाम से ही परलोक नहीं बनता है। मनुष्य अपने कर्मों से भी परलोक बना सकता है।[3] आत्महत्या को जघन्य अपराध माना जाता था। आत्महत्या करने वाले को नरक की प्राप्ति होती है अतः भगवान् की अर्चना कर पुण्य करते हुए निर्विघ्न भाव से स्वर्ग को पाना चाहिए।[4] अद्भुत प्रभाव वाली वस्तुओं खड्ग एवं कल्प वृक्ष आदि में विश्वास था। जिनके प्रभाव से इच्छित फल की प्राप्ति सम्भव थी।[5]

संस्कृत लोककथा में विद्याधर से सम्बन्धित अनेक कथाएँ हैं। तत्कालीन लोक में परियों की भाँति ये कथाएँ प्रचलित रही होंगी। विद्याधर दिव्य रूप आकाशगामी एवं अद्भुत शक्ति वाले होते हैं। उनका अपना अलग ही विद्याधर लोक होता है।[6] जनसामान्य का ब्राह्मण में इतना विश्वास था कि कार्य का आरम्भ ब्राह्मण द्वारा शुभ मुहूर्त में पूजा अर्चना के साथ कराया जाता।[7] वैदिक कर्म काण्ड से ब्राह्मण पुत्रादि लाभ एवं अन्य दुष्कर कार्यों को भी सुकर बना सकते हैं। अतः लोग पुत्र लाभ हेतु उपाय पूछने ब्राह्मण के पास आते थे।[8]

शकुन—

लोक जीवन में चिरकाल से ही प्रकृति में होने वाली अद्भुत घटनाओं, पशु पक्षियों शारीरिक क्रियाओं, ग्रहोपग्रहों एवं स्वप्न आदि से प्राप्त शकुनों को भावी शुभाशुभ का सूचक मानने की परम्परा रही है। प्रो. पाठक ने शकुन के विषय में कहा है—"शकुनों में यह विश्वास निहित रहता है कि कोई दैवी शक्ति आंगिक व मानसिक विकारों या प्राकृतिक जगत् के परिवर्तनों द्वारा मनुष्य को भावी शुभ या अशुभ का पूर्व संकेत दे देती है।"[9] इस प्रकार "स्वयं अपने और बाह्य जगत् के कार्य व्यापारों के ये शुभाशुभ संकेत ही शकुन अपशकुन कहलाते हैं।"[10] संस्कृत लोककथासाहित्य के लोक जीवन में ऐसे

---

1 मि. द्वा. पृ 107
2 क. स. सा. 12.5.204 12.3.11 312 12.5.31 320
3 मि. द्वा. पृ 137
4 बृ क श्लो. 4.99 102
5 क. स. सा. 12.32.31 37 12.21 30 32 4.2.33.35
6 वही 10.10.171 164 17.8.?? 17.1.3-57 14.4.75.78 14.4.40 14.2.56 14.4.75-83 15.1.31 15.2.134 12.20.? 12.1.42-43 ?8.210-217
7 मि. द्वा. पृ 11
8 स त्वपुत्रः पर्यचिन्तयत्... ॥ 55
तत्सम्पत्पुत्रिणाम्... ॥ क. स. सा. 2.5.55 56
9 संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्व, पृ 1??
10 अपभ्रंश कथाकाव्य में लोक तत्व, पृ ?8

कई शकुन-अपशकुन प्रचलित थे, जिनमें लोगों की अटूट-आस्था एवं दृढ विश्वास था। लोग शकुन से भावी शुभ-अशुभ का अनुमान कर लेते थे। जन्म लेते ही बच्चे का बोलना या चलना अशुभ[1] स्त्रियों के दाएँ अंग में स्फुरण अनिष्टकारक[2] नर के दाएँ अंग में स्फुरण शुभ भविष्य की सूचना[3] टिटिट्भ का दाहिनी ओर जाना एवं वाम से सियार सियारन का बोलना अशुभ[4] शुक आदि पक्षियों का कोलाहल शुभ[5] प्रकृति में मेघों का उमडना भय का सूचक रक्तवृष्टि का होना विनाश का सूचक, दिशाओं का लाल होना समृद्धि एवं अभ्युदय का सूचक[6] सरोवर में पक्षियों का कलरव, देवालयों की भेरी आदि कार्य ससिद्धि के सूचक[7] सुन्दर-सुन्दर पेडों को उखाडते हुए महाप्रचण्ड वायु का बहना, बादल न रहने पर भी गगनतल में घोर शब्द, पताकाओं के ऊपर बिजली का टूटना (गिरना) गीधों का मडराना महाछत्रों का टूटना आदि अमगल सूचक एवं फल-फूल शुभ सूचक माने गये हैं।[8] कथासरित्सागर में कीर्तिसेना के जगल में जाते समय यमराज की दूती के सदृश श्रृगाली भयकर रूप से रोने लगती है।[9] इसी प्रकार अपने सात मित्रों के साथ जाते हुए विष्णु शर्मा को मार्ग में अपशकुन होते हैं।[10] वह मित्रों को लौट जाने के लिए कहता है। परन्तु उसका कहा नहीं मानते और उसका उपहास करते हैं। आखिर उन्हें भयकर विपत्ति का सामना करना पडता है। गुणशर्मा भी मार्ग में अनेक अपशकुन देखता है। उसकी बायीं ओर कौआ उड रहा था और कुत्ता बायीं ओर से दायीं ओर गया। साँप दायी ओर से बायीं ओर गया और कन्धे के साथ उसकी बायीं भुजा भी फडकने लगी।[11] छींकना अशुभ माना गया है। छींकने पर "जीव" कहना चाहिए। गूढसेन राजा का पुत्र आधी कहानी कहकर सो जाता है। दिव्याङ्गनाएँ शाप देती हैं। यदि छींकने पर कोई "जीव" न कहेगा तो वह मर जायेगा।[12] महापुरुषों की अन्तरात्मा यदि बिना किसी कारण के दुखी या सुखी होती है तो वह भावी शुभ-अशुभ की सूचना देती है।[13] स्वप्न में

---

1 क. स. सा. 6 6.91

2 पल्लवत्यास्य तत्कालमदाक्षिण्य प्रदर्शयन्।
पस्पन्दे दक्षिण चक्षुरकम्पत च मानमम्॥ वही, 17 4 141

3 वही, 9 1 4 11 1 68

4 वही 18.5 108-112

5 बृ.क.श्लो. 5.325 326 शुक, प्रथमाकथा, पृ. 8 9

6 क्षिप्ताः स्थाग्नौ च यनेन तन्यम्ताः स्थ महामृद्धे।मघादयसता यच्च स भूयोऽपि भयागमः ॥ 145
रक्तौघवर्षण यच्च तद्‌भयस्य विनाशनम्।दिशा यद्रक्तपूर्णत्वमृद्धि सा महती च व. ॥ 146
—क. स. सा. 8.3 145 146

7 बृ.क.श्लो. 5 73-77

8 क. स. सा. 14.3.88 92, 17.3.2-4 9.3.50

9 वही 6.3 106

10 वही 6 6 47

11 वामस्तस्याभवत्काक श्वा वामाद्दक्षिण ययौ।
दक्षिणोऽहिरभूद्वामः सस्कन्धश्चास्फुरद्भुजः॥ वही 8 6 129

12 वही 3.3 66

13 सूचयन्त्यन्तरात्मा हि पुंसो भावि शुभाशुभम्॥ वही 16 1 49

काली स्त्री का दिखाई देना भी भावी अमगल की आशका का कारण है ।[1] इस प्रकार काम में लगे हुए लोगो को आने वाले अपशकुन कार्यों में व्यवधान उत्पन्न करते हैं । इन शकुनों अपशकुनों से प्राप्त सूचनाओं के बाद वैसा शुभ अशुभ होना देखा भी जाता है ।

उपर्युक्त विश्वासों के अतिरिक्त दोहद अर्थात् गर्भावस्था का मनोरथ जिसके न बताने पर गर्भ की विफलता देखी जाती है[2] एव दोहद मे ही (गर्भवती स्त्री के छूने से) असमय ही पेडों को पुष्पित एव पल्लवित देखा जाता है ।[3] दिव्य अदिव्य एव दिव्य वाणी[4] अन्तर्धान होने[5] तप पूजा, व्रत, उपवास, दान आदि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर अभिलषित वर प्राप्त करने[6] अग्नि सस्कार के उपरान्त अस्थियों को विधिपूर्वक पवित्र तीर्थ स्थल गगा आदि में प्रवाहित करने[7] यज्ञ कुण्ड की भस्म को पवित्र पापनाशन एव कल्याणकारक मानने[8] स्त्री-पुरुषों के भिन्न भिन्न अगों पर होने वाले तिल आदि चिह्नों के पृथक पृथक फल होने[9] तथा सौगन्ध देने दिलाने[10] आदि में "लोक" का विश्वास था ।

12 लोक एव उच्चवर्ग की दिनचर्या एव अन्त सम्बन्ध

समाज में व्यक्ति समुदाय की दिनचर्या ही उसकी जीवन शैली का निर्धारण करती है । सस्कृत लोककथा में पारम्परिक आस्थाओं विश्वासों एव मान्यताओं के अनुरूप जीने वाले "लोक" की दिनचर्या समाज में शक्ति सम्पत्ति एव प्रतिष्ठा से उच्च कहे जाने वाले वर्ग के जीवन की सुकुमारता विलासिता एव उसके सुख ऐश्वर्य की अभिवृद्धि के साधन उपलब्ध कराना रही है । "लोक" अपनी जीविका के लिए श्रम करता रहा है तथा परम्परा में पूर्व पीढी से प्राप्त व्यवसाय करता रहा है । उसकी दिनचर्या तो क्या उसके जीवन पर भी उसका अपना सम्पूर्ण प्रभुत्व नही रहा । "लोक" का अधिकांश भाग सामन्तवादी ऐश्वर्यसम्पन्न यत्र का एक ऐसा अग था जिसकी दिनचर्या उस यत्र की इच्छा क्रिया पर निर्भर रही है । यद्यपि उस यत्र की गतिशीलता में "लोक" की महती भूमिका रही पर उसे जानबूझ कर कदापि स्वीकार नही किया । उच्चवर्ग उसे असभ्य ग्रामीण कहकर आजीवन सुरा सुन्दरी द्यूत एव आखेट में सलग्न रहा ।

ससार में मनुष्य प्रचण्ड शौर्य अर्जित धन एव अनुरूप भार्या से प्रतिष्ठा प्राप्त करता है ।[11] शौर्य एव धन के अतिरिक्त प्रतिष्ठा भी उच्चता का प्रतीक रही है । वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण के शौर्यवान एव ऐश्वर्यसम्पन्न न होने पर भी उसका सर्वोच्च स्थान रहा है ।

1 क स सा 16 1 51
2 बृ क श्लो 5 95-87
3 वही 28 56 57 12 69 71
4 वही 22 1/0 208 क स सा 9 2 54 56 7 9 159
5 क स सा 7 9 192 1/0
6 वही 17 5 27 29 12 16 82
7 वही 12 16 63-44 10 8 64-44
8 गुरु, बृहत्कथाश्लोकसग्रह, पृ 219 220
9 क स सा 8 6 210
10 बृ क श्लो 13 4 7
11 अत्युत्क्रमण शौर्य धन निजभुजार्जितम्
भार्या कुलानुरूपा च पुम्सामेष पूजने क स सा 12 34 51

तत्कालीन समाज में उच्च एवं निम्न वर्ग की धारणा प्रचलित रही है।[1] उच्च वर्ग के राजप्रासाद कालागरु से सुगन्धित विभिन्न वर्णों के फूलों की माला से सुसज्जित कामदेव के उद्यान सदृश लगते हैं।[2] मदिरागृह में परिचारिकाएँ मदिरा पिलाती हैं। एक राजा के पितृ वियोग के असह्य शोक को भूलकर परिचारिकाओं के संग सुरा और कामसुख का सेवन करने का उल्लेख हुआ है।[3] स्त्री, मद्य और आखेट आदि व्यसनों में निमग्न राजा राज्य का कार्यभार मन्त्रियों के ऊपर छोड़कर निश्चिन्त रहते हैं।[4] भिन्न भिन्न एवं दूर देशों से आई वेश्याओं, नर्तकियों, वन्दियों एवं भाटों के गीत और स्तुतियों से नगरी का वातावरण संगीत एवं उत्सवमय हो जाता है।[5] उत्सव विशेष पर प्रतीहारों के आदेश से लोग इधर उधर दौड़ते, कर्मचारी कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं, चारण स्तुतिगान एवं स्त्रियाँ नृत्य करती तथा मन्त्रियों के साथ मद्यपान करती हैं।[6]

राजाओं सामन्तों के यहाँ वर्णसङ्कर जाति के दासों का उल्लेख उनकी विलासिता एवं चरित्रहीनता की प्रामाणिक सिद्धि करता है।[7] वर्णसङ्कर दास से तात्पर्य उस दास दासी से है जो दास की पत्नी से उत्पन्न राजा की सन्तान होती है। राजा या सामन्त अपने दास का विवाह किसी सुन्दर स्त्री से करवा देते, परन्तु वह दास अपनी विवाहिता के साथ सहवास तो दूर उससे बात भी न कर सकता और वह पत्नी दास की ही कही जाती। राजा के द्वारा उसकी पत्नी से उत्पन्न सन्तान दास की सन्तान एवं वर्णसङ्कर दास दासी कही जाती है। वर्णसङ्कर दास के अतिरिक्त वंशानुगत दास दासी का उल्लेख भी हुआ है।[8] परम्परा में दास की सन्तान दास रही है। वर्णसङ्कर दास की सन्तान हो वंशानुगत दास कही जाती रही हो।

अन्तःपुर के प्रसूति गृह में सेविकाएँ और दाइयाँ नियुक्त थी।[9] बच्चों की देखभाल के लिए धात्री थी। भोजन से लेकर रानियों के स्नान, वस्त्र-अलंकार, प्रसाधन, उबटन एवं पर पुरुष के सहवास की समस्त व्यवस्था का उत्तरदायित्व दास दासियों का था। चतुर चेटी राजकुमारियों के प्रेम प्रसंग से सम्बन्धित समस्त कार्यों की व्यवस्था करती थी।[10] यहाँ तक कि राजकुमारियाँ अपने मन की बात भी दासियों के माध्यम से ही पिता के

---

1 बृ क श्लो, 5.51 52

2 रतिप्रान्तिकर तत्र कालागुरुसुगन्धिनि ।दशार्धवर्णविन्यस्तपुष्पप्रकरशायिते ॥ 232
कामोद्याननिभ कान्ता ता वहद्दिव्यसौरभाम् ।सोऽपश्यद्राङ्गसद्विद्यावल्लीप्रसवसंनिभाम् ॥ 233
—क स सा 12 7 232 233

3 बृ क श्लो 18 116 120

4 क स सा 3 1 8 7 9 64

5 वरचारणनर्तकी समूहैर्विविधदिगन्तसमागतैस्तदात्र ।
परित स्तवनृत्तगीतवाद्यैर्बुध तन्मय एव जीवलोक ॥ 262 —क स सा 6 8 262

6 वही 12.35 232 9 2 2

7 बृ क श्लो 22 13

8 "भवता साधुवृत्तेन गोत्रदासा कृता वयम् बृ क श्लो 7 65

9 क स सा 9.5 193 13 1 41-45 12 8 94

10 वही 12 7 2,8 220

पास पहुँचाती हैं।[1] आगन्तुक की सूचना द्वार पर नियुक्त दासियाँ देती हैं।[2] अन्तःपुर में पुरुष प्रवेश निषिद्ध था। परन्तु राजकुमारियों के अभिलषित पुरुष को रात्रि में उनके शयन कक्ष में पहुँचाने का कार्य विश्वस्त एवं चतुर दासियाँ करती हैं जो उनकी सेवा में नियुक्त की गई हैं। राजकुमारियाँ स्वार्थ सिद्धि हेतु उनसे सखीवत् व्यवहार करती हैं। दासियों के खिड़की की राह से रस्सी के माध्यम से खींचकर अपनी प्रिय राजकुमारी के इच्छित पुरुष को उसके पास पहुँचा देने के कार्य का उल्लेख है।[3] सखीवत् व्यवहार करने वाली राजकुमारियाँ अपने आनन्द में थोड़ा भी विघ्न होने पर दासियों को सजा देने से भी नहीं चूकती हैं।[4] स्वामी की भक्तिपूर्वक सेवा शुश्रूषा एवं आराधना करने वाले सेवकों की शोकमूलक दुःस्थिति यह है कि बेचारों की सेवा भी अपराध बन जाती है।[5] विषधर सर्प का क्रोध निर्विष डेंडहों पर ही निकलता है।[6] भृत्य गण निन्दा रहित रमणीय कार्यों एवं वार्ताओं से राजा का मनोविनोद करते हैं।[7] क्षौर कर्म[8] शयन व्यवस्था[9] हेतु सेवक नियुक्त हैं। सेवक दास एवं सम्पूर्ण भृत्य वर्ग की दिनचर्या के विषय में एक दास द्वारा कही गई उक्ति द्रष्टव्य है— अपने अपने स्वामियों के घरों में प्राप्त पक्वान्नों से जीवन निर्वाह किया करते हैं।"[10]

राजा सामन्त की केलि के लिए इलायची लवंग मौलसिरी अशोक और मदार के फूलों से सुशोभित उद्यान हैं। ऐश्वर्यसम्पन्न वैश्य धन जुटाने में संलग्न हैं। धन ही उनका दूसरा प्राण है।[11] उच्चवर्ग बल एवं वीर्यवर्द्धक मछली कछुआ केकड़ा आदि के मांस तथा नारियल आदि बृंहण फलों का उपभोग कर रहा है तथा सदासुलभ सुपाड़ी कपूर पान चन्दन आदि कामोद्दीपक पदार्थों से नित्य अपने अंगों का संस्कार कर रहा है।[12] जिसे मोती कस्तूरी मांस और फलों के रस तथा स्नान अनुलेपन आहार पान उत्तम शय्या सुलभ है।[13] रानियों की पालकी परिजन ढोते एवं रास्ते में से पुरुषों को दास एवं कञ्चुकी हटाते हैं।[14] भृत्य वर्ग के अतिरिक्त लोक का एक और वर्ग था जिसकी दिनचर्या जीविका अर्जन करना है। धीवर जाति मछली पकड़ने के अतिरिक्त समुद्र यात्रा में कुशल है।[15]

1 क स सा 7 9 210 7 9 224
2 वही 5 3 45
3 वही 12 8 125 127
4 वही 18 3 83-85
5 बृ क श्लो 11 49
6 "दुग्धुधेषु प्ररूढ क्रुधा पृथमहाप्रति —ज म मा 2 6 74
7 वही 2 2 2 3 बृ क श्लो 7 24 29
8 क स सा 6 6 146
9 वही 10 4 132 133
10 तानाजामतमन्कत्व कृत्वा गेह निजेनिजम् स्वस्वस्वामिगृहलोनान्नरस्वान्नकृतवर्तनौ। —वही 6 1 80
11 कदर्याणा पुरे प्राण प्रायेण द्रव्यसञ्चय —वही 3 4 357
12 बृ क श्लो 18 307 317
13 क स सा 12 35 113-114
14 शिशुपालवध 5 17
15 क स सा 12 2 137

जंगल में बस्तियाँ बनाकर रहने वाली शबर जाति आखेट एवं साँपों को पकड़कर उनके प्रदर्शन से मनोरंजन करके जीविकोपार्जन करती है। भील, चाण्डाल, डोम, पुलिन्द आदि भी ऐसी ही जातियाँ हैं। नापित बढ़ई, उद्यानपालक, रसोइए, ग्वाले, अहीर, कुम्हार, चमार स्वर्णकार आदि पारम्परिक कर्म कर रहे हैं। भृत्यजन स्वामी के यहाँ आए विशिष्ट अतिथि को कन्धे पर बैठाकर एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाते हैं,[1] स्नान, श्रृंगार, अनुलेपन आदि कार्य करते हैं।[2] चारण प्रशंसा परक गीत गाते हैं। वंदियों से अभिवन्दित राजा उनकी विरदावली से जगाये जाते हैं।[3] स्त्रियाँ विवाहोत्सव, विजयोत्सव एवं पुत्र-जन्मोत्सव में नृत्य करती एवं गीत गाती हैं।[4]

समाज का अल्पसंख्यक शक्तिशाली ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग विलासी प्रवृत्ति वाला हो तथा बहुसंख्यक वर्ग पारम्परिक अकृत्रिम जीवन शैली में जी रहा हो और इसी कारण उच्चवर्ग की दृष्टि में बहुसंख्यक असभ्य कहा जा रहा हो तो दोनों वर्गों के सम्बन्ध के विषय में यही कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यक शक्तिशाली एवं ऐश्वर्यसम्पन्न तो है ही साथ में स्वार्थी एवं वञ्चक प्रवृत्ति वाला है जिसके कुटिल छद्मनापूर्ण वाग्जाल एवं आदर्शपूर्ण उक्तियों में बहुसंख्यक वर्ग दिग्भ्रमित होकर स्व विवेक खो चुका है और अपने भले बुरे के विषय में न सोचकर पारम्परिक मान्यताओं विश्वासों एवं अनुष्ठानों के अनुरूप ही कार्यों का निष्पादन करता है। साधन ज्ञान शक्ति एवं धन के अभाव के साथ समय का अभाव स्वाभाविक इसलिए था कि ज्ञानार्जन करना ही उसका प्राथमिक अनिवार्यता रही। ऐसी दुःस्थितियों में समाज का अल्पसंख्यक उच्चवर्ग, येन केन प्रकारेण स्व हित के लिए लोक को उत्पीडित करता रहा है। विलासिता एवं सच्चरित्र का एक साथ होना असम्भव ही है। वस्तुतः स्वयं को सभ्य समझने वाला राज प्रासादों एवं धवल अट्टालिकाओं में रहने वाला नवीन वस्त्राभूषण धारण करने वाला उच्चवर्ग कर्तव्य एवं नीति से दूर विलासी, चरित्रहीन पथभ्रष्ट स्वार्थ लोलुप छली कपटी एवं असभ्य रहा है।

सुरा-सुन्दरी द्यूत-क्रीडा एवं आखेट में व्यस्त रहने वाले राजा सामन्त तो मदमत्त हाथी की तरह निरंकुश होते हैं। विषय लोलुप होकर धर्म एवं मर्यादा की श्रृंखला तोड देते हैं। निरंकुश चित्त वाले राजा का विवेक अभिषेक के जल में उसी प्रकार बह जाता है जैसे बाढ के पानी में सब कुछ बह जाता है। डुलते हुए चँवर की वायु जैसे रजकण, मच्छर और मक्खियों को दूर उडा देती है वैसे ही वृद्धों के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों के अर्थ तक को दूर भगा देती है, उनका छत्र जैसे धूप को ढकता है वैसे ही सत्य को भी ढक देता है। वैभव की आँधी में चौंधियाई हुई उनकी आँख उचित मार्ग नहीं देख सकती

1 सा चाप्येकस्य भृत्यस्य स्कन्धमारोपयन्नन।
स भर्त्ता च बुद्धनाया पथि तत्प्रियकाम्यया॥ —क. स. सा. 7.3.121

2 वही 7.5.210-212

3 वही, 3.6.224 बृ.क.श्लो. 1.53.56

4 क. स. सा. 12.34.347

हैं।[1] धूर्त कजूस वैश्यो का तो धन ही दूसरा प्राण है।[2] व्यापारी वर्ग एक ओर गरीब जन का शोषण कर लाभ उठाना चाहता है तो दूसरी ओर राजा की चाटुकारिता कर उसका भी कृपा पात्र बने रहना चाहता है।[3] राजा सामन्त, वणिक् एव प्रतिष्ठित ब्राह्मणों ने मिलकर सामाजिक मर्यादा एव नैतिक नियम निर्धारित किये जा स्वय उनके लिए अनुकूल रह है। वस्त्राभूषण धारण करना सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक[4] एव फटे वस्त्र धारण करना निर्धनता का सूचक रहा है।[5]

स्वामी एव सेवक का व्यवहार समान नही हो सकता है।[6] सेवक का धम है कि स्वामी के हित को बिना अधिकार के भी करे[7] और करना न मानने वाले स्वामी का भी सेवकों को अनुगमन करना चाहिए।[8] स्वामी की आज्ञा को व्यर्थ बना देने वाले मत्री अथवा सेवक निर्मल होकर भी चन्द्रमा के कलक के सदृश है।[9] आज्ञा रूपी सम्पत्ति से ही भृत्य और भर्त्ता का भेद होता है। अत सेवक को स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही चाहिए।[10] सेवक का तो कर्तव्य ही है वह प्राण देकर भी स्वामी की रक्षा करे।[11] "लोक" इन सारी उक्तियो का अक्षरस पालन करता रहा परन्तु उच्चवर्ग अपने दायित्वों को भूलता रहा है। स्वामी के सुख दुख को "लोक" अपना सुख दुख समझता है। वत्सराज कौशाम्बी नगरी से निकले तब उनके पीछे पीछे स्त्रियों बच्चों और वृद्धों समेत नगर के लोग रोते बरसात की भाँति आँसू बहाते निकले।[12] सेवक स्वामी के कल्याण को सर्वोपरि महत्त्व देता है। अपने प्राणों की बलि देकर भी राजा या स्वामी के जीवन को बचाने में ही स्वय को कृतार्थ समझता है। वीरवर नामक सेवक से उसका पुत्र कह रहा है—"मैंने उनका जो अन्न खाया है उससे मैं उऋण हो जाऊगा। आप विलम्ब क्यों कर रहे हैं? मुझे भगवती के सामने ले चलो और मेरी बलि दे दो। जिससे मुझे शान्ति

1 राजानस्तु मदान्धाना गजा इव निरङ्कुशा। छिन्दन्ति धर्ममर्यादाशृङ्खला विषयोन्मुखा ॥54॥
तेषा हृदि क्लविततानामभिषेकाम्बुभि समम्। विवेको विगलत्योघशोभमान इवाखिल ॥55॥
श्वियन्त इव चोद्धूय चलच्चामरमारुतै ॥ वृद्धोपदिष्टशास्त्रार्थरजोमशकमक्षिका ॥56॥
आतपत्रेण सत्य च सूर्यालोको निवार्यते। विभूतिवात्योपहता दृष्टिर्मार्गं च नेक्षते। 57॥
—क स सा 12.24.54-57

2 वही 3.4.357

3 वही 10.1.6.24

4 वही 4.1.67 2.6.19

5 वही 4.1.41

6 "भृत्योऽह त्व प्रभुस्तन्नौ व्यवहार कथ सम।" —वही 8.4.135

7 वही 10.4.111

8 वही 7.8.28

9 शुकसप्तति, एकोनत्रिंशत्तमीकथा, पृ 201

10 आज्ञा तु प्रथम दत्ता कर्तव्यैवानुजीविना। आज्ञामात्रविशेषेण भृत्याद्भर्ता हि भिद्यते —बृ क श्लो 15.157

11 "प्राणैरपि हि भृत्याना स्वामिसरक्षणव्रतम्।" —क स सा 12.24.53

12 कौशाम्ब्या निर्गते तस्मिन् साक्रन्दा साश्रुदुर्दिना।
सस्त्रीबालवृद्धास्ता पौरास्तमनु निर्ययु ॥ वही 16.1.6)

मिल सके।"[1] वीरवर मन्दिर में पहुँचकर अपने पुत्र का मस्तक काटकर देवी चण्डिका को दे देता है और अपने पुत्र के बलिदान से राजा के सौ वर्ष जीवित रहने की कामना करता है।[2] सेवक स्वामी की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व त्याग करने में ही अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता है। परन्तु आश्चर्य का विषय तो यह है कि प्रजापालकलोकपाल कहे जाने वाले राजा सेवकों के प्राणों से स्व जीवन की रक्षा करते हैं।[3] इससे बढ़कर स्वार्थ की और क्या पराकाष्ठा हो सकती है कि एक सुसम्पन्न राजा स्व प्राणों की रक्षा के लिए ब्रह्मराक्षस के भक्षणार्थ एक सात वर्षीय ब्राह्मण बालक सौ गाँव एवं सोने तथा रत्नों से निर्मित मूर्ति देकर खरीदना चाहता है। राजा के द्वारा इस सम्बन्ध की घोषणा करवाने पर किसी अग्रहार में दीन हीन परिवार का सात वर्षीय ब्राह्मण बालक अपने नश्वर शरीर को देना चाहता है जिसमें माता पिता की दरिद्रता दूर हो सके और इसी में वह मातृ पितृ ऋण से विमुक्ति भी मानता है। उसके माता-पिता भी उसे राजा को बेच देते हैं।[4] इस घटना से अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। क्या राजा लोक के लिए था? बालक स्वयं को बेचने के लिए उद्यत क्यों हुआ? बालक के माता पिता ने भी उसे क्यों बेच दिया? क्या उस समय लोक की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही दयनीय रही? वस्तुत राजा लोक कल्याण के लिए नहीं, बल्कि स्व कल्याण में संलग्न है। लोक की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय रही है, तभी तो राजा अपनी ऐश्वर्यसम्पन्नता से ब्राह्मण की दैन्यावस्था का स्वार्थ सिद्धि हेतु लाभ उठा रहा है। हीनतावश एवं धार्मिक विश्वास मातृ पितृ ऋण से विमुक्ति हेतु वह बालक स्वयं को बेच देना चाहता है। माता पिता का अपनी सन्तान को बेचने का कारण सम्भवत धन लिप्सा ही है। यह कथा स्वयं सिद्ध करती है कि रक्षक ही भक्षक बन चुका है क्योंकि जो प्राणी दुर्बल होता है, वह भय के उपस्थित होने पर प्राणों की रक्षा के लिए माता पिता को पुकारता है। उनके न होने पर वह राजा को पुकारता है, क्योंकि आर्त्तजनों की रक्षा के लिए ही राजा बनाये जाते हैं, यदि उसे राजा का सहारा नहीं मिलता, तो फिर वह अपने कुल देवता का स्मरण करता है। उस बालक के लिए तो ये सभी वहाँ उपस्थित हैं, लेकिन सबके सब प्रतिकूल हो गये हैं। माता पिता ने धन के लोभ में उसके हाथ पैर पकड़ रखे हैं, राजा अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए स्वयं उसका वध करने के लिए उद्यत है और वहाँ देवता के रूप में जो ब्रह्मराक्षस है, वही उसका भक्षक बना है।[5]

सेवक अपशकुन होने पर उसके अशुभ फल को स्वयं के लिए माँगता है एवं स्वामी के कल्याण की कामना करता है।[6] समर्पित भाव से सदैव स्वामी की सेवा में तत्पर रहने

1 कृतार्थोऽहं मम प्राणै राजा चेतात्त जीवति।पुत्रस्य हि तदन्तस्य दत्ता स्यान्निष्कृतिर्मया ॥ 61
तत्कि विलम्बयते नीत्वा भगवत्याः पुरोऽधुना ।उपहरीकुरुष्व धाम्नस्तु शान्तिर्मया प्रभो ॥ 62
—क. स. सा. 12 11 61-62

2 वही 12 11 67 70 12 11.86 100

3 वही 12 11 128 131

4 वही 12 27 90-130

5 वही 12.27 130 133

6 अशुभ सूचयन्त्येतान्यनिमितानी मे ध्रुवम्।
तन्ममैवास्तु यत्किंचिन्मा भूद्राज्ञस्तु मत्प्रभो ॥ —वही 8 6 130

वाले सेवक से तनिक भी त्रुटि होने पर, उसे कड़ी सजा मिलती है। राजा के सफेद बालों को उखाड़ते समय गलती से काले बाल के उखड़ जाने पर नाई का एवं भोजन करते समय दाँत के नीचे कंकड़ आ जाने से खानदानी बूढ़े रसोइए के वध करवाने का उल्लेख हुआ है।[1]

राजा सामंत के यहाँ दास दासी तो उष्ट्र अश्व हस्ती आदि की भाँति विवाहोत्सव में दहेज के रूप में लिए दिए जाते रहे हैं।[2] उच्च निम्न का भेद प्रचलन में रहा है। ब्राह्मण चाण्डाल आदि जातियों का अन्न नहीं खाते हैं।[3] राजा सामंत एवं ऐश्वर्यसम्पन्न वैश्य के ही मात होती है। दरिद्र व्यक्ति तो एक स्त्री का भरण पोषण भी कठिनाई से कर पाता बहुत सी स्त्रियाँ रखना उसके लिए संभव ही न था।[4] राजा लक्षदत्त के सिंह-द्वार पर बैठ रहने वाले कार्पटिक नामक भिक्षुक के आखेट के समय सुदृढ़ डंडे के प्रहार से हिंसक पशुओं को मारने एवं सीमान्तवर्ती राजा को जीतने के लिए घनघोर युद्ध में मजबूत डण्डे के प्रहार से अनेक शत्रुओं को मार डालने पर उसके अद्भुत पराक्रम को देखकर भी राजा ने उसे कुछ भी न दिया। राजद्वार पर लकड़ियाँ जलाकर जीवन व्यतीत करते हुए उसे पाँच वर्ष बीत गये।[5] यहाँ पर राजा की स्वार्थ लिप्सा ही द्योतित होती है जो भिक्षुक सदैव उसकी सेवा में तत्पर है निरन्तर पाँच वर्ष तक सिंहद्वार पर रहता है। राजा के द्वारा उसके भाग्य का बात करना तथा "दर्शन श्रीददात्यस्य किं न वेति परीक्षित" कहना अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने का बहाना मात्र है।[6]

इस प्रकार जहाँ एक तरफ उच्चवर्ग के चरित्रहीन तथा विलासिता एवं द्यूत क्रीड़ा से परिपूर्ण जीवन के असभ्य एवं वीभत्स रूप का उद्घाटन होता है वहीं "लोक" के पारस्परिक अकृत्रिम जीवन की पुनीत छवि झलकती है। लोक की दिनचर्या राजा सामंत ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग की जीवनचर्या में प्राणों का संचार कर रही है और उसकी सुकुमारता को बनाये रखे है। "लोक" का जीवन उसकी दिनचर्या उसके स्वयं के लिए न थे। उच्चवर्ग अपने आनंद विलासिता के प्रासाद लोक के रक्त स्वेद से निर्मित कर सींच रहा था। सामंतवादी व्यवस्था में "लोक" की दशा अत्यन्त बुरी रही है। उच्चवर्ग लोक की आस्थाओं विश्वासों, मान्यताओं का उपयोग स्वार्थ सिद्धि में कर रहा था।



---

1. उद्धार्य भजते केशे प्रमादात्कृष्ण उद्धृते।
   उद्धर्तारं महीपालः कर्तयामास नापितम्॥ 37
   भुञ्जानेन च पाषाणे दशनाग्रेण खण्डिते।
   कुलक्रमागतो वृद्धः सूपकारः घातितः॥ 38 —बृ. क. श्लो. 1.37 38
2. क. स. सा. 8.1.185
3. वही, 16.2.179 180
4. सपत्न्यो हि भवन्तीह प्रायः श्रीमति भर्तरि।
   दरिद्रो बिभृयादेकामपि कष्टं कुतो बहू॥ 208 —वही, 8.6.208
5. वही, 9.3.12 23
6. वही, 9.3.37 79

तृतीय अध्याय

आर्थिक जीवन

–जीविका के साधन

–तोल, माप एव मुद्रा

–वर्गभेद एव उनके अन्त सम्बन्ध

–प्राकृतिक आपदाओ का आर्थिक दृष्टि से
लोक-जीवन पर प्रभाव

–आर्थिक शोषण एव लोक-चेतना

1. जीविका के साधन

प्रत्येक व्यक्ति की प्राथमिक अनिवार्य आवश्यकता रोटी होती है। यदि रोटी या पेट भरने की आवश्यकता ही न होती तो मनुष्य न कर्म में प्रवृत्त होता और न ही उसके जीवन का कोई उद्देश्य होता। प्रारम्भ में तो व्यक्ति अपने जीवन को सुचारु रूप देने के लिए ही कर्म में प्रवृत्त हुआ और परिश्रम कर जीविकोपार्जन करने लगा। धीरे धीरे अर्थार्जन कर वह सुविधा भोगी बनता रहा। दिन प्रतिदिन उसकी आवश्यकताएँ विस्तृत आयाम लेती रही और उन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वह विभिन्न अनैतिक राह ग्रहण करता रहा। मनुष्य की यह प्रवृत्ति ही व्यक्ति व्यक्ति के मध्य दीवार बनी और वह धनी निर्धन शोषक-शोषित, नागरिक ग्रामीण के वर्गों में विभक्त हुआ। मनुष्य की लालच एवं असन्तोष की प्रवृत्ति ही उसे कमजोर मनुष्य को उत्पीडित करने को प्रेरित करती है। व्यक्ति अधिक से अधिक धन प्राप्त कर सुविधाभोगी बनना चाहता है एवं समाज में अपना उच्च स्थान स्थापित करना चाहता है। व्यक्ति की आर्थिक स्थिति पर ही उसका रहन सहन खान पान आदि निर्भर करता है।

आदिकाल से ही लोक जीवन में व्यक्ति परिश्रम कर जीविकोपार्जन करता रहा है। लोक-जीवन में जीविकोपार्जन के कई साधन प्रचलित रहे हैं। लोक जीवन में व्यापार कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त ऐसे कई व्यवसाय हैं जो परम्परा से पीढी दर पीढी प्रवहमान रहे हैं। ऐसे व्यवसायों से जीविकोपार्जन तो होता ही था साथ ही तत्कालीन लोक संस्कृति के विभिन्न पक्ष भी उजागर होते हैं।

संस्कृत लोककथा साहित्य में जहाँ एक तरफ वर्ण व्यवस्था की छवि दृष्टिगत होती है वहीं उसका छिन्न भिन्न रूप भी दिखाई देता है। वर्ण व्यवस्था के टूटने में आर्थिक कारण ही प्रमुख रहे हैं। उसमें ब्राह्मण एवं क्षत्रिय का स्थान क्रमशः सर्वोपरि था। वैश्य तीसरे स्थान पर थे। ब्राह्मण के पास प्रतिष्ठा थी क्षत्रिय के पास शक्ति एवं सत्ता थी तो वैश्य श्रीसम्पन्न थे। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि सारे ब्राह्मण सम्मानित एवं प्रतिष्ठित ही रहे हों। दीन अनाथ ब्राह्मणों के उल्लेख भी मिलते हैं। सारे क्षत्रिय भी सर्वशक्तिमान न थे। राजा सामन्त के अतिरिक्त सिपाही एवं प्रजा में क्षत्रिय थे। वैश्य श्रीसम्पन्न थे तो श्रीहीन भी थे। व्यापार के अतिरिक्त कृषि एवं पशुपालन भी उनके व्यवसाय रहे हैं। शूद्र तो अत्यन्त उत्पीडित निम्न एवं शोषित थे। समाज में जहाँ वर्ण व्यवस्था थी, वहीं जाति प्रथा का वर्चस्व भी था। चमार लुहार सुनार कुम्हार ज्योतिष राजपूत नाई, चाण्डाल भील, किरात, शबर माली, चारण भाड भाट दास दासी आदि ऐसी कई जातियाँ कुकुरमुत्तों की भाँति उग आई थीं। इन जातियों का अभिधान कर्मानुसार हुआ।

परन्तु ये सारी की सारी जातियाँ पूर्व पीढी से प्राप्त व्यवसाय से जीविका कमा रही थी। अत यह कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था के विश्रृंखलित होने मे आर्थिक पक्ष मुख्य कारण रहा।

"लोक" का अधिकाश भाग ग्रामों मे रहता है और आज भी ग्राम आर्थिक दृष्टि से सुसम्पन्न नही है। यद्यपि ग्रामों में मुख्य रूप से कृषि एव पशुपालन ही जीविकोपार्जन के साधन रहे हैं। परन्तु अवश्य ही ग्रामों में भी छोटे बडे व्यापारी थे जो या तो ग्रामों मे ही रहते थे या नगर से ग्रामों में व्यापार के लिए आया करते थे। वैसे तो 'लोक' सदैव अपने आप में सम्पूर्ण-सक्षम रहा है। जीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ स्वय उत्पन्न करता रहा है। खाने पीने से लेकर वस्त्र एव आवास की व्यवस्था वह स्वय करता और उत्पन्न करता और उसकी रखवाली करता था। पशु पालन से जहाँ एक तरफ दूध दही घी प्राप्त होते वही दूसरी ओर पशुओं के गोबर से खेतों में फसल का पौष्टिक खाद भी मिल जाता। कुछ अन्य ऐसी पारम्परिक व्यवसायी जातियाँ रही है जो समाज की अन्य आवश्यक्ताओं को पूरा करती थी। जुलाहा वस्त्र बुनता कुम्भकार मिट्टी के बरतन बनाता लुहार कृषि कर्म से सम्बन्धित एव अन्य लोहे का कार्य करता सुथार लकडी का, चर्मकार चमडे का कार्य करता, तो स्वर्णकार सोने चाँदी के आभूषण बनाता नाई क्षौर कर्म एव प्रसूति से सम्बन्धित कार्य सम्पन्न कराता पण्डित धार्मिक अनुष्ठान एव विवाह से सम्बन्धित कार्य करवाता था। सम्भव है भील जाति सदेशवाहक का कार्य करती रही हो। इस प्रकार "लोक" स्वय समस्त आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करने एव सारे कार्य सम्पन्न करने में सक्षम रहा।

प्रत्येक समाज मे राजा, सामत एव व्यापारी वर्ग सदैव रहे हैं। और प्राय इसी वर्ग से समाज की सस्कृति एव आर्थिक स्थिति का अकन किया जाता रहा है। वृक्ष की सम्पन्नता का अनुमान सदैव जमीन से ऊपर उठे भाग तने से लेकर टहनियों, पत्तों, फूल एव फलों को देखकर ही लगाया जाता रहा है। परन्तु वृक्ष की सम्पन्नता का मूल कारण अदृश्य व जडें ही होती हैं जो उसे जीवन देती हैं। राजा, सामत ने शक्ति से अधिकाश भूभाग पर अधिकार कर रखा था। लोक जो पैदा करता, उसका अधिकाश भाग ये रक्षा के नाम कर रूप में वसूल कर लेते थे। वस्तुत "लोक" ही जीवन की अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ प्रदान कर राजन्यवर्ग के जीवन की रक्षा करता रहा है। एक भी ऐसा प्रकृष्ट उदाहरण नही मिलता है, जिससे स्पष्ट होता हो कि इस वर्ग ने लोक की रक्षा हेतु कदम उठाया हो। बल्कि सदैव युद्ध का कारण राजा, सामत का स्वार्थ, अपने राज्य की सीमा का विस्तार कर अधिक से अधिक ऐश्वर्य प्राप्त करना या अपनी काम क्षुधा की तृप्ति हेतु किसी सुन्दरी को प्राप्त करना रहा है। प्रत्येक युद्ध मे लोक का ही सहार होता रहा है।

व्यापारी वर्ग अधिक से अधिक धन एठने में सलग्न रहा है। प्राय उसका उद्देश्य कुबेरपति बनना रहा है। प्रथम तो "लोक" के द्वारा पैदा की गई वस्तुओं का अधिकाश भाग राजन्य वर्ग को चला जाता, फिर ऊपर से व्यापारी कम मूल्य में वस्तुएँ खरीदते, तदनन्तर उसके पास शेष रह ही क्या जाता और उसमे से भी धार्मिक सामाजिक व्यवस्था

में ब्राह्मण दान एव अतिथि सत्कार मे उसके पास स्वय की जीविका के लिए भी पर्याप्त नही रहता। बिना किसी लाग लपेट के निशि दिवस स्वेद बहाकर वस्तुएँ पैदा करने वाले लोक को स्वय के श्रम का बहुत कम भाग मिलता था। इस स्थिति को कभी न्यायोचित नही कहा जा सकता है। हाँ यह कहकर अवश्य यथार्थ पर आवरण डाला जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी थी। पर यह भी नही भूलना चाहिए कि सामाजिक व्यवस्था स्वत उद्भूत नही होती है उसके मूल में कारण होते हैं और ये कारण सबल प्रतिष्ठित व्यक्तियों के पास होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में संस्कृत लोककथा साहित्यकालीन "लोक" के आर्थिक जीवन की क्या छवि हो सकती है? वैसे भी कथा साहित्य में लोक के आर्थिक जीवन से जुडे तथ्य बहुत कम मात्रा में प्राप्त होते हैं।

व्यापार–

लोक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के कर्म की सहभागिता आर्थिक पक्ष को प्रभावित करती है। व्यक्ति का कर्म स्वय की जीविका तो होता ही है साथ ही प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से अन्य व्यक्तियों की जीविका में अपेक्षित सहयोग भी करता है। संस्कृत लोककथा साहित्य कालीन "लोक जीवन" में यह विश्वास प्रचलित रहा कि धर्म से कमाई लक्ष्मी सतान परम्परा तक नष्ट नही होती है। पाप की कमाई पत्ते पर पडी ओस की बूँद के समान विनाशशील होती है। अनीतिपूर्वक अर्जित सम्पत्ति धर्म विरुद्ध है परन्तु लोक में चोर डाकू, धर्माडम्बरी, पाखण्डी ठग आदि अनीतिपूर्वक धनोपार्जन में प्रवृत्त रहे हैं। पृथ्वी पर जाल फरेब से जीने वाले धूर्त अपनी जिह्वा से जाल बुनते रहते जिनमें सरल हृदय मनुष्य मछलियों के समान फँसते रहे हैं।[1] विभिन्न रगों में रगे हुए काँच और स्फटिक के टुकडों को पीतल में जडकर बेचने वाले धूर्त भी थे। परन्तु लोक जीवन में ये सदैव निन्दित माने जाते थे।[2] समाज में जीविकोपार्जन के साधनों में व्यापार भी एक साधन रहा है। ऐश्वर्यसम्पन्न व्यापारियों का एक बहुत बडा वर्ग जहाज द्वारा द्वीपान्तर जाकर व्यापार करता था। वस्तुओं का आयात निर्यात करता था जिन्हें महावणिक्[3] या वणिक्पति[4] कहा जाता था। सामान्य श्रेणी के व्यापारी भी थे।[5] जो ग्रामों में जाकर व्यापार किया करते थे। यद्यपि वैश्य के लिए वाणिज्य ही प्रशस्त माना जाता था।[6] परन्तु यह जातिगत बन्धन नही था। अन्य वर्ग के लोग भी व्यापार में सलग्न थे। जहाँ शूद्र के द्वारा भी कपडे का व्यापार करने का उल्लेख है।[7] वही वैश्य के शस्त्र धारण करने का

---

1 अत्र मृषाशीलैर्जिह्वाजालानि तन्वते।
जालोपजीविनो धूर्ता धारायां धीवरा इव॥ क.स.सा. 5।2..

2 काचस्फटिकखण्डा हि नानारागोपरञ्जिताः।
ईदृशा इमे नैते मणयो न च काञ्चनम्॥ वही 5।1..

3 वही 12.24.8

4 वही 9.4.172

5 वही 9.4.172

6 "वैश्यपुत्रोऽसि तत्पुत्र वाणिज्यं कुरु साम्प्रतम्" वही 1 ... 33

7 वही 12.16.22 25

उल्लेख भी मिलता है ।[1] जहाँ धमव्याध के माँस बचने का उल्लेख है[2] वही सुन्दर नामक व्यक्ति के मूली बेचने का उल्लेख है ।[3] लकडी[4] मिट्टी के बर्तन[5] तथा चने बेचना भी जीविका के साधन रहे ह ।[6] इसी प्रकार सुमति नामक वणिक् घास और लकडी आदि लाकर नगरी मे बेचा करता था। एक दिन वह वन मे घास लकडी आदि के न मिलने पर मनदून लकडी की बनी श्रीगणेश जी की मूर्ति को बेचने का निश्चय करता है—"भूखा क्या पाप नही करता ? भूख मे पीडित-जन निष्करुण हो जाते हैं, जीवन के लिए पाप-कर्म करते ह ।[7] इस प्रकार व्यापार वर्ण-व्यवस्था एव जातिगत बन्धन स मुक्त था। सभी व्यापारी वैश्य एव ऐश्वर्य-सम्पन्न न थे। लोगों ने परिस्थितिवश जाति एव वर्ण व्यवस्था के बन्धन से ऊपर उठकर जीविकोपार्जन हेतु विभिन्न व्यवसाय अपनाय। वृहत्कथा की तीनों वाचनाओं में अनक कथाएँ दीपान्तर-व्यापार-यात्रा से सम्बन्धित हैं। यह भी माना जाता है कि लोक कथाओं का उत्पत्ति स्थल दीपान्तर-व्यापार की यात्रा के जहाज रहे हैं। सस्कृत-लोककथा-साहित्य म बडे बडे व्यापारियों एव राजकुमार-राजकुमारियों के प्रेम की कथाएँ अवश्य आइ हैं परन्तु कथा कहने वाले भारवाहक तथा जहाज कर्मियों एव लोक जीवन से जुडे अन्य पात्रों का प्रसगवश ही कहीं उल्लेख हुआ है ।[8] यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि "लोक" का एक समुदाय अवश्य जहाज पर माल उतारने, चढाने एव जहाज की परिचर्या के लिए रहा है जिसकी जीविका का साधन भी उससे प्राप्त पारिश्रमिक ही रहा।[9] यह तो असम्भव ही है कि व्यापारी जहाज द्वारा दीपान्तर जाते रहे हों और जहाज मे माल उतारने-चढाने वाले न रहे हो जहाज की परिचर्या करने वाले भी न रह हों। स्पष्ट है लोक की जीविका का एक साधन दीपान्तर-व्यापार के दौरान जहाज मे माल को उतारने चढाने मे प्राप्त पारिश्रमिक रहा है ।[10] सदैव व्यापार में भारवाह वर्ग का महती भूमिका रही परन्तु इसका उल्लेख कथा-साहित्य में नहीं हुआ है। यह भी सम्भव है उस समय म भी आज की भाँति इस वर्ग को परिश्रम के अनुपात में बहुत कम पारिश्रमिक प्राप्त होता रहा हो। व्यापारा वर्ग का उद्देश्य तो अधिक से अधिक धनार्जन करना हा रहा है।

---

1 अस्ति भावन नाम सत्याख्या नगरी भुवि
तस्या च शूरवाख्योऽभूतद्भूपतिः प्राज्यविक्रमः ॥

- क स सा. 12 11.5

2 व न 3 6 168 151

3 व न 3 6 168

4 व न 1 6 43

5 व न 4 1 134

6 वहा 1 6 41

7 बुभुक्षितः किं न करोति पाप क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ।
प्राणार्थमेत हि समाचरन्ति मन मता यन्न मत तदप्यम् ॥ - शुक, षष्टकथा पृ 43-46

8 क स सा. 12.19.51 52 बृ क म. 7.578

9 वही 12.19.51 52

10 वहा, 12.19.52

कृषि—

यह सुविदित है कि भारत कृषि प्रधान देश रहा है। अधिकांश लोग ग्रामों में "कृषि कर्म में संलग्न रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को खाद्यान्न कृषि कर्म से उपलब्ध होता है। "आर्थिक विकास की दृष्टि से कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत का विशाल जनसमुदाय कृषि कर्म से ही अपना भरण पोषण करता आ रहा है।"[1] यद्यपि संस्कृत लोककथा साहित्य में कृषि विषयक विस्तृत जानकारी समुपलब्ध नहीं होती है।[2] परन्तु जहाँ समाज है, जहाँ व्यापार होता है वहाँ अवश्य ही लोक जीवन की जीविका का मुख्य साधन कृषि ही रहा है। गेहूँ, चावल चने आदि खाद्यान्न के नामोल्लेख से कृषि कर्म का अनुमान करना मात्र कल्पना नहीं है। यदि कृषि न होती तो लोगों का जीवन कैसे चलता। संस्कृत लोककथा साहित्य कालीन लोक जीवन में कृषि जीविका का मुख्य साधन रहा है।[3] अभिजात्य वर्ग के लोगों की कथाओं के वर्णन के कारण सामान्य लोगों के इस व्यवसाय का विशद वर्णन सम्भव न हो सका।[4] व्यापार की भाँति कृषि कर्म करने का भी कोई वर्ण एवं जातीय आधार न था। सोमदत्त नामक ब्राह्मण जीविका का अन्य साधन न पाकर कृषि कर्म करने का निश्चय करता है। वह कृषि योग्य भूमि के लिए वन में जाता है और अच्छी फसल होने योग्य भूमि भी देखता है।[5] कृषि भूमि अर्थात् क्षेत्र (खेत) को हल से जोता जाता था। कृषि कर्म करने वाले को कार्षिक अर्थात् किसान कहा जाता था।[6] खेत की बुवाई बैलों द्वारा हल से की जाती थी।[7] फसल के पक जाने पर खेतों की चोर एवं पशु पक्षियों से रक्षा की जाती थी।[8] प्रसंगवश बीजवपन एवं उसके सींचे जाने का उल्लेख भी हुआ है।[9] सोमदेव के खेती करने एवं रात दिन खेत पर ही वृक्ष के नीचे रहने से, उसकी पत्नी प्रतिदिन उसे वहीं भोजन लाकर देती है, परन्तु दूसरे राजा द्वारा आक्रमण किये जाने एवं फसल के लूटे जाने से उसका सब कुछ लुट जाता है। यह घटना सिद्ध करती है कि राजाओं के आपसी युद्ध में भी सामान्यजन को अधिक कष्ट सहने पड़ते एवं उसकी ही हानि होती थी।[10] शुकसप्तति में भी खेत खलिहान एवं उनकी रखवाली का उल्लेख हुआ है।[11]

---

1 क.स.सा. एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 131

2 'Though India is an agriculture country we do not get many details regarding agricultural in the Kathasaritsagar

Cultural life of India as known from Somadeva p. 334

3 त्यक्त्वाग्रहारं मुक्तशो जगाम कृषिजीविकाम्। वटवृक्षं पृथुच्छायं पूज्यन्सतेन व्यधात्॥ 323
क्षेत्रकर्मविवर्धेन प्रवृद्ध सस्यसम्पदा हलभूतिरिति प्राप संज्ञां स कृषितत्परः॥ 324

बृहत्कथामंजरी 3 323 324

4 क.स.सा. एक सांस्कृ. अध्ययन, पृ. 131

5 क.स.सा. 3 6 23 25

6 गायन्त कविद्राव कार्षिक क्षेत्रपध्यगत॥ वही 6 7 317

7 वही 7.5 116 3 6 27

8 वही, 10 6.19 20 12.5.205 209 9 वही 6.2.12, 7.5 116

10 वही 3 6.27 30

11 शुकसप्तति, एकचत्वारिंशत्तमी कथा, श्लोक 8 पृ. 299

राजा एवं सामन्त द्वारा ब्राह्मणों को अग्रहार के रूप में भूमि दिए जाने के उल्लेख से स्पष्ट है कि अधिकांश भूमि पर राजा एवं सामन्त का अधिकार था।[1] जनसामान्य के पास अधिक भूमि न थी। जनसामान्य के पास जो भूमि थी और उससे जो पैदा होता था उसमें से कुछ भाग विभिन्न करों के रूप में राजा ले लेता था। कृषि के अभाव में भीषण दुर्भिक्ष में गौ जैसे पूज्य एवं पवित्र पशु को भी लोग मार कर खाने को वशीभूत हो जाते हैं।[2] वर्षाभाव के कारण दुर्भिक्ष में लोक-जीवन की स्थिति अत्यन्त भयावह एवं चिन्तनीय बन जाती थी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि लोक-जीवन में कृषि जीविका का मुख्य साधन था।

यह सिद्ध है कि जमीन के अधिकांश भाग पर राजा, सामन्त एवं ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग तथा प्रतिष्ठित ब्राह्मणों का अधिकार था। परन्तु यह वर्ग कृषि कर्म स्वयं न करता था। इस वर्ग के यहाँ कृषि कर्म करने हेतु भृत्य वर्ग या हलवाहे थे जिन्हें पारिश्रमिक के रूप में अनाज या निश्चित धन दिया जाता रहा होगा। पूँजीवाद से पूर्व सामन्तवाद में सामान्यजन अत्यधिक उत्पीडित रहा है। अधिकांश लोगों की जीविका का साधन कृषि था परन्तु "लोक" के विषय में कहा जा सकता है कि कृषि कर्म हेतु उसके पास पर्याप्त भूमि न थी। यदि कृषि योग्य भूमि रही भी होगी तो बहुत कम मात्रा में थी या भूमि पर्याप्त भी रही हो और उत्पादन भी पर्याप्त मात्रा में रहा हो। परन्तु या तो उस पर राजन्य-वर्ग का अधिकार रहा होगा या उत्पादन का अधिकांश भाग राजा सामन्त कर के रूप में ले लेता रहा होगा। यदि ऐसा न रहा होता तो लोक जीवन की अत्यन्त दयनीय दशा कदापि न होती। आवास, खान पान एवं वस्त्र की समुचित व्यवस्था तो वह अवश्य ही कर पाता। तत्कालीन कृषि कर्म व्यवस्था में जहाँ एक तरफ "लोक" बंधुआ या भारवाह मात्र था, वहीं राजा "लोकपाल" कहा जा रहा था।

पशुपालन—

लोक जीवन में पशुपालन भी एक प्रमुख व्यवसाय रहा है। पशुओं में गाय को पवित्र एवं श्रेष्ठ माना गया है। निर्धन व्यक्ति के लिए पशु ही धन था। पशु के प्रति घनिष्ठ स्नेह था। यहाँ तक कि एक निर्धन व्यक्ति के घर में एकमात्र बैल ही उसका धन रह गया था। धनहीन वह सारे कुटुम्ब और स्वयं के अनाहार रहने पर भी उस बैल को इसलिए नहीं बेच पाता है कि सर्वथा निर्धन होकर कैसे जी सकेगा।[3] ऐसे लोगों का उल्लेख भी मिलता है जो गायें पालकर अपनी जीविका चलाते हैं। अनावृष्टि के कारण अकाल पड़ जाने और घास दूब के जल जाने पर वे अपनी गायों के साथ अन्यत्र घास वाले वन में चले जाते थे।[4] सिंहासनद्वात्रिंशिका की प्रथम कथा में एक गड़रिये एवं चमार

---

1 क.स.सा. 12 15 3 12 20 4

2 इष्ट्वा देवान् पितृ भुक्त्वा तन्मांस विधिवच्च तत्।
जग्मुरादाय तच्छेषमुपाध्यायस्य चान्तिकम्॥ —वही 6 1 118

3 वही 10 10 99 109

4 उपेत्य प्रश्रयात्ते च तमुचुर्जातविस्मयम्। काशिपुर्यां वयं जाता विप्रा धेनूपजीविन॥
तेऽवग्रहप्लुष्टतृणात्तता देशादिदं वनम्। आगता स्मो बहुतृणं दुर्भिक्षे सह धेनुभि॥
—वही 12 3 41-42

के पशु चराने का उल्लेख है ।[1] ग्वाला एक जाति थी जो गो पालन से ही अपनी जीविकोपार्जन करती थी । ग्वालों की बस्ती का उल्लेख है जहाँ दधि मथन की ध्वनि हो रही थी जहाँ घरों के आँगन की भूमि हरे गोबर से लिपे होने से फैले हुए मान सरोवर की भाँति लग रही थी । गलियों में उद्दाम बछडे कूद रहे थे । जहाँ के ग्वाले भी गायों के समान सरल थे और व्यवहार कुशल गोपियाँ नटियों से भी बाजी मार रही थी ।[2]

पुनर्देय—

लोक जीवन में व्यापार, कृषि एव पशुपालन प्रमुख व्यवसाय थे । प्राय इन व्यवसायों पर सम्पन्न एव प्रभुत्व वर्ग का ही अधिकार था । परन्तु ऐश्वर्यसम्पन्न व्यापारी वर्ग राजा सामन्त एव जमीदार इतने सक्षम न थे कि सारा कार्य स्वय कर पाते, वस्तुत इन व्यवसायों के उत्पादन में लोक की महती भूमिका थी । इन व्यवसायों से जीविका पाने वाले "लोक" को श्रम के बदले बहुत कम पारिश्रमिक प्राप्त होता था । सम्पन्न व्यापारी के यहाँ भृत्य वर्ग ही सारा काम सम्भालता था तो जमीदार के यहाँ हलवाहा ही कृषि कार्य करता था पशुपालन हेतु भी सम्पन्न लोग भृत्यरूप में पशुपालक रखते थे ।[3] यदि गहराई से अध्ययन कर सत्य का उद्घाटन किया जाए तो पाते हैं कि आर्थिक सम्पन्नता का आधार या मूलभूत कारण "लोक" था । यह तो सत्य है कि इसके बदले में लोक जीविकोपार्जन कर रहा था । परन्तु श्रम के बदले में बहुत कम प्राप्त कर रहा था । ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित सामाजिक मर्यादा में वह पिसता जा रहा था । सामाजिक नियम ऐसे निर्धारित किये गये जिससे उसका विद्रोह स्वर प्रस्फुटित न हुआ । तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण का स्थान सम्मानजनक था । अत अपनी स्वार्थ लिप्सा की पूर्ति हेतु उन्होंने राजन्य वर्ग एव जमीदार या सम्पन्न पूँजीपति वर्ग के रूप में दो ऐसे पाटों का निर्माण किया जिसमें "लोक" पिसता जा रहा था । लोक जीवन में ऐसे छोटे व्यापारी एव छोटे कृषक थे जिनके पास न तो पर्याप्त धन था न ही अत्यधिक भूमि थी । साधनों पर तो उच्च प्रभुत्व वर्ग का ही आधिपत्य था । बल्कि लोक भी उनके जीवन एव विलासिता को जीवित रखने का साधन था । ऐसी परिस्थितियों में लोक के वश में तो मात्र यह था कि वे अपनी रोटी कमा सकते थे । लोक जीवन में पशुपालन एक ऐसा व्यवसाय रहा होगा कि घर घर में पशु पाले जाते रहे होंगे । पशु के लिए घास वनों से उपलब्ध हो जाती थी परन्तु एक ऐसा उदाहरण भी मिलता है जिसमें अपने पशु को शेर की खाल पहनाकर दूसरे के खेत में चरने को छोड़ दिया जाता है । इससे अनुमान होता है कि जगल पर भी राजा सामन्त का अधिकार रहा हो । वन उनके आखेट क्षेत्र रहे हों ।

---

1 सिंहासनद्वात्रिंशिका, पृ 6-7

2 बृहत्कथाश्लोकसग्रह–20 230-242 कथासरि –3 4 45

3 नष्टमस्य कुल पुत्र धनो भार्या मया तव
दृष्टा महिषशानेन त्वदीयेनैव सद्मना । कथास 12 । 37
गवादिरभ्यासुभभार्या कर्मकरी निजम् ।
तस्य कृत्वा गृहाध्यक्षे दैव कुर्वन्वश म वही 4 35

*** सहज—**

जहाँ व्यापार, कृषि एव पशुपालन प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में 'लोक" की जीविका के माधन थे, वहाँ कई एमे व्यवसाय भी थे जो परम्परा से पीढी-दर पीढी प्रवहमान थे। ऐसे व्यवसाय करने वाली विशिष्ट जातियाँ थी और उनका नामकरण कर्म अर्थात् व्यवसाय के आधार पर ही हुआ। ऐमी जातियों में नाई, चमार सुनार, कुम्हार, सुथार, लुहार आदि प्रमुख थी। इसी प्रकार मूर्ति बनाने वाला मूर्तिकार[1] चित्र बनाने वाला चित्रकार[2] माला बनाने वाला मालाकार[3] हाथीदाँत की कलाकृतियाँ बनाने वाला दन्तघाटक[4] कहा जाता था। "लोक" का यह एक बहुत बडा वर्ग विभिन्न व्यवसायो के द्वारा जीविकोपार्जन कर रहा था। नाई एक ऐसी जाति थी जो घर घर जाकर बाल, नाखून, दाढी आदि क्षौर कर्म किया करती थी।[5] बदले म अनाज या रोटी के रूप में जीविका प्राप्त करती थी। सम्भव है आज की भाँति उस समय में भी विवाह आदि विशिष्ट अवसरों पर नाई विभिन्न कार्य करता रहा हो। एक नाई सुवर्ण कङ्कण ग्रहण करके गम्भीर नामक ग्राम के कुहन नामक राजपूत की दोनों पत्नियों की पर पुरुष से सङ्गति करवाता है।[6] नाई अत्यन्त धूर्त एव चतुर होते थे।[7] माली माला बनाने एव उद्यान कार्य करत थे।[8] बढई लकडी का कार्य करके जीविका चला रहे थे।[9] मुनार सुवर्ण कम से,[10] लुहार लाह कर्म से चमार चर्म कर्म से, जीविका प्राप्त कर रहे थे। मछुआरा एक जाति थी जो समुद्र से मछलियाँ पकडकर एव उन्हें बेचकर अपना भरण पाषण कर रही थी।[11] जिसे जाति से "केवट" भी कहा जाता था।[12] एक अनपढ ज्यातिषी का उल्लेख मिलता है। वह जीविका क अभाव में स्त्री एव पुत्र के साथ दूसरे देश में जाकर बनावटी विश्वास से धन और यश की डीग हाँकता है। वह स्वय को भूत वर्तमान एव भविष्य तीनों कालो का जानकार बताता है तथ लोगों से कहता है—'सातवें दिन मरा पुत्र मर जायेगा।' मातवे दिन वह स्वय के पुत्र का गला घोंटकर मार डालता है। इस प्रकार विश्वस्त जनता ने उसे त्रिकालदर्शी मानकर धन स उसकी पूजा की और धन कमाकर अपने घर आ गया। कहने का तात्पर्य यह है कि

---

* वह धधा जो पुश्तैनी रूप से चला आ रहा है। द्रष्टव्य "अभिज्ञान-शाकुन्तलम्" में धीवर प्रसग में कालिदास द्वारा प्रयुक्त श्लोक—सहज किल___श्रोत्रिय ॥6 1

1 कससा 7.3 8

2 वही 9 9 124

3 वही 17 4 84

4 वही 12 8.82

5 शुक द्विषष्टितमीकथा, पृ 252 255 कससा 7.5 210 212, 6 6 146

6 शुक द्विषष्टितमीकथा पृ 252 255

7 कससा 6 6 136 137

8 वही 18 4 201 263 5 3 40-41

9 वही 10 6 104

10 वही 5 1 177

11 वही 12 2 139

12 सा क्रीडन्ती मधूद्याने रूपयौवनशालिना ।कैवर्तककुमारेण दृष्टा केनापि जातुचित् ॥ वही 16 2 113

जीविका के अभाव में आदमी छल कपट एवं चोरी जैसे कर्मों को करने के लिए बाध्य होता है। इस घटना से तत्कालीन लोक की अत्यन्त दयनीय दशा का ज्ञान होता है। जीविका के अभाव में व्यक्ति को अपने ही पुत्र का स्वयं के हाथों गला घोटना पड़ता है। एक तरफ जहाँ लोक जीवन में ज्योतिष विद्या के प्रति विश्वास एवं आस्था प्रकट होती है वहां दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि लोक में प्राप्त दान दक्षिणा उस ज्योतिषी की जीविका थी।[1]

लोक जीवन में व्यवसाय की विविधता दृष्टिगत होती है। संस्कृत लोककथा साहित्य में विभिन्न व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। कहीं कोई लकड़हारा जंगल से लकड़ी काटकर लाता है और उसे बेचकर अपने परिवार का पालन पोषण कर रहा है।[2] कहीं कोई चारणभाट अपने पुश्तैनी पेशे लोगों का गुण गान कर उससे प्राप्त धन पर अपना गुजारा कर रहा है।[3] कहीं कोई गवैया या बजाकर ना[4] कोई मूर्ति बनाकर जीविका पा रहा है।[5] नट नृत्य खेल आदि से जीविका कमा रहा था।[6] लोग अपने ग्राम देश में जीविका का साधन समुपलब्ध न होने पर उस दरिद्रग्राम से अन्य देश को जीविकोपार्जन हेतु चले जाते थे।[7] मन्दिर के पुजारी एवं उससे जुड़े लोगों की जीविका लोगों की धर्म में अटूट आस्था होने से उनके द्वारा दी जाने वाली दान दक्षिणा एवं चढ़ाये जाने वाले भोग थे।[8]

भारवाहक—

उत्पादन में श्रम का महत्त्व सर्वविदित है। संस्कृत लोककथा में श्रमिकों का उल्लेख हुआ है।[9] कथासरित्सागर में वसुधर नामक दरिद्र भारवाहक मजदूरी करके खाता पीता है। इसी प्रकार शुभदत्त (काष्ठभारक) लकड़ी ढोकर जीविकोपार्जन करता है।[10]

---

1 बभूव नाम गणकः कश्चिद्विज्ञानवर्जितः।
स भार्यापुत्रसहितः स्वदेशावृत्त्यभावतः ॥ 252 ॥
गत्वा देशान्तरं चैव मिथ्याविज्ञानमात्मनः।
कृतप्रत्ययेनार्थपूजां प्राप्तमदर्शयत् ॥ 253 ॥ क.स.सा. 10.5.252-253

2 अस्य भद्रघटोदन्तः सवृत्तो भारिकस्य यत्।
तथाहि कश्चिदासीत्पाटलिपुत्रके ॥ 25
शुभदत्त इति नाम्ना च प्रत्यहं काष्ठभारकम्।
वनादानीय विक्रीय पुष्णाति स्म कुटुम्बकम् ॥ 26 ॥ वही 10.1.25-26

3 सि.द्वा. (लो.सि.) पृ. 129-131 क.स.सा. 3.6.224, 6.8.2/2, 12.36.232

4 क.स.सा. 10.7.157-159

5 बृ.क. श्लो. 22.166-175

6 वही 2.28-33

वही 18.167-178

8 क.स.सा. 2.5.171, 9.3.04-07

9 बृ.क.म. 7.578

10 क.स.सा. 1.6.38-42

परिचर वर्ग—

एक बहुत बडे वग की जीविका का साधन उनका दास दासी एव भृत्य वर्ग होना था। राजा सामन्त एव ऐश्वय सम्पन्न वर्ग के यहाँ उनकी सेवा शुश्रुषा करने वाले विलासिता, उपभोग की सुविधा उपलब्ध करान वाले वर्ग की जीविका एक ऐसी चहार दीवारी थी, जहाँ वे रात दिन निरन्तर काम करत और पारिश्रमिक क रूप में रोटी और वस्त्र पाते थे।[1] राजा एव सामन्त के यहाँ रहने वाले भृत्य वर्ग का जीवन अत्यन्त ही पीडाकारक था। सस्कृत लाककथा साहित्य म वर्णसकर दास दासी[2] एव वशानुगत दास दासी[3] होने के उल्लेख उनके जीवन-रहस्य को तथा राजा सामन्त वर्ग की नैतिकता एव चरित्र को उजागर करत है। इस वग के आर्थिक शोषण के साथ शारीरिक शोषण को भी दर्शाते हैं।[4] भृत्य वर्ग के कञ्चुकी एव विदूषक की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। वय की दृष्टि से वृद्धावस्था म आराम की आवश्यकता होती ह। पर उन्हे सदैव स्वामी की सेवा में तत्पर रहना होता था।[5] उच्च प्रतिष्ठित वर्ग का व्यापार एव जीवन भृत्य वर्ग पर ही निर्भर था। किसी भी समाज मे एक अल्पसख्यक वग का शक्तिशाली एश्वर्य सम्पन्न एव प्रतिष्ठित हाना उस काल के समाज मे वर्गभेद एव शाषण का प्रतीक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर एव समदृष्टि से जीविका समुपलब्ध होनी तो वर्गभेद एव शोषण न होता।

विनिन्दित कर्मकृत्—

यह सत्य है कि सदैव लोक-जीवन म भिन्न-भिन्न हृदय एव मस्तिष्क के लोग रहे हैं। सस्कृत लाककथा साहित्य में भी कुछ ऐसे लोगों के उल्लेख मिलते हैं जो धूर्तता एव चालाकी से जीविकोपार्जन करते हैं।[6] दूसरों को ठगकर जीविका चलाने वाला कोई धूर्त बहुत महत्त्वाकाक्षी हाने क कारण एक बार असन्तुष्ट होकर सोचता है कि मेरी ऐसी धूर्तता से क्या लाभ जिसस अधिक से अधिक धन न कमाया जाए।[7] जुआ भी अर्थोपार्जन का साधन रहा है। गुजरात नामक दश के जुआरी अर्थोपार्जन के लिए जुआ कर्म में लगे हुए हैं।[8] भिक्षावृत्ति भी जीविका का साधन थी।[9] लोग भिक्षा माँगकर अपना पेट भरते थे। आपातकाल म परिस्थितिवश दो अनाथ ब्राह्मण बालकों के भिक्षा माँगकर अपना पेट भरने का उल्लेख है।[10] वीरवर के ब्राह्मण एव दीन भिक्षुओ को दान देने का उल्लेख है।[11] चोरी करना भी एक कला जैसा था। सेंध लगाकर प्रत्येक रात चोरी करने का

---

1 क स सा 9 5 1-6, बृ क म 15 159

2 बृ क श्लो 22 13

3 वही 7 63 66

4 कससा 7 9 216 9 2 2, बृ क श्लो 17 26 31

5 शिशुपालवध 5 7

6 कससा 12 8 93 95

7 धूर्तत्वेनेदृशा किं मे यत्नाहारादिमात्रकृत्।
प्राप्यते महती येन श्रीस्तादृङ् न करोमि किम् ॥ 112 ॥ —वही 10 10 111 112

8 वही 12 7 138 142 9 वही 9 3 12

10 वही 12 6 200 215 12 25 15 22 6 4 94 11 वही 9 3 94 97 10 9 29 30

उल्लेख मिलता है।[1] इसके अतिरिक्त किरात भील चाण्डाल विट डोम्ब आदि कुछ ऐसी जातियाँ थीं जो ग्राम से बाहर या ग्राम से दूर वन में कबीले के रूप में निवास करती थीं। उनकी आजीविका के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु उनके खान पान एवं रहन सहन के जो उल्लेख मिलते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भील के अतिरिक्त अन्य जातियाँ जगली जानवरों के आखेट से एवं व्यापारियों के समूह को लूटकर अपनी जीविका चलाती रही होंगी।[2]

2 तोल, माप एव मुद्रा

समाज में व्यापार एवं वस्तुओं के लेन देन में तोल माप एवं मुद्रा का प्रचलन सदैव रहा है। माप दो प्रकार के रहे हैं—तराजू से तोलकर एवं खाली पात्र में भरकर किसी वस्तु को मापा जाना। संस्कृत लोककथा साहित्य में माप तोल के परिमाण के उल्लेख मिलते हैं। सम्भवतः लोक जीवन में लोग आपस में खाली पात्र में भरकर वस्तुओं का लेन देन करते रहे होंगे और व्यावहारिक वस्तुओं को तराजू पर तोलकर लेन देन किया जाता रहा होगा। माप तोल का सबसे छोटा बाट था। जहाँ यह एक तोल के रूप में था वहीं कथासरित्सागर में सोने के सिक्के के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[3] मानक माप का एक रूप होता था। यह तराजू में तोलने का बाट भी था और मापने का पात्र भी।[4] कथासरित्सागर में इसे अंश अथवा विंश भी कहा गया है।[5] यह घृत आदि के तोल में प्रयुक्त होता था।[6] भार का कोई निश्चित प्रामाणिक परिमाण नहीं मिलता है परन्तु एक मनुष्य जितना बोझ ले जा सकता है उस अर्थ में ही भार शब्द व्यवहृत हुआ है। तोला भी परिमाण विशेष था जो सोना चाँदी आदि तोलने में प्रयुक्त होता था।[7] प्रस्थ भी परिमाण विशेष था। शुकसप्तति में तिल तोलने के लिए प्रस्थ का प्रयोग हुआ है।[8] दूरी नापने के लिए योजन का प्रयोग मिलता है। दो गव्यूति या चार क्रोश एक योजन के बराबर होता है। परन्तु लोक जीवन में क्रोश ही व्यवहृत रहा होगा।

वस्तु विनिमय के लिए किसी न किसी राजकीय मुद्रा का प्रचलन हर समय में रहा है। "वास्तविक मूल्य के मान के बराबर मुद्राएं बनाई जाती थीं। सोना चाँदी ताँबा आदि द्वारा निर्मित सिक्कों का मूल्य उनके भार के अनुसार होता था।"[10] संस्कृत लोककथा साहित्य में दो प्रकार की स्वर्ण मुद्रा अर्थात् सोने की मोहर तथा दीनार मुद्राओं का प्रचलन मुख्य रूप से मिलता है। सम्भवतः दीनार एवं स्वर्ण मुद्रा का एक ही अर्थ था या दीनार भी

1 के स सा [illegible]
2 बृक श्लो [illegible] क स सा [illegible]
3 पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ [illegible]
4 क स सा एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ [illegible]
5 क स सा [illegible]
6 वही [illegible]
7 वही [illegible]
8 बृक श्लो [illegible]
9 शुक पर्यालोचनात्मक पृ [illegible]
10 क स सा एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ [illegible]

स्वर्ण निर्मित ही होता था।[1] कथा-साहित्य मे स्वर्ण मुद्राओ का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है। हजार लाख से लेकर करोड तक की गिनती मे स्वर्ण मुद्राओं का विनिमय होता था।[2] दीनार निष्क का ही पर्यायवाची शब्द है।[3] कथा साहित्य में दीनार का प्रयोग अनेक बार हुआ है।[4] स्वर्ण एव दीनार के अतिरिक्त द्रम्म[5] अर्थात सोलह पण की विशिष्ट मुद्रा तथा पण[6] का उल्लेख भी कथा-साहित्य में हुआ है। लोक जीवन मे धन स्वर्णाभूषण चोरों से रक्षा के लिए अपने ही घरों में जमीन में दबा दिये जाते थे।[7]

प्रत्यक समाज के काल विशेष म सदैव एक मुद्रा विशेष का प्रचलन रहा है। ऐसा नही कि लोक जीवन मे कोई अलग मुद्रा प्रचलित रही हो। लोक जीवन में वस्तुओं का आपस में लेन देन का तरीका अवश्य भिन्न हो सकता है। वहाँ लेन-देन मे व्यापारिक प्रामाणिक प्रचलित परिमाण विशेष को प्रयोग में न लाकर किसी खाली पात्र को वस्तु स भरकर लेन देन करते रहे होंगे। आज भी लोक जीवन में यह परम्परा प्रचलित है।

3. वर्गभेद एव उनके अन्त सम्बन्ध

संस्कृत लोककथा साहित्यकालीन समाज म धन का विशिष्ट महत्त्व रहा है। " धन ही पुरुषो का यौवन है और धन का अभाव ही बुढ़ापा है। धन के अभाव मे मनुष्य क ओज तेज बल और रूप नष्ट हो जाता है तथा जीवन निर्वाह न कर सकने वाले स्वामी को सेवक पुष्पहीन वृक्ष को भ्रमर जलरहित सरोवर को हस चिरकाल तक उसका आश्रय पाकर भी छोड देते है।[8] धन ही व्यक्ति का सच्चा मित्र है—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवा।
यस्यार्था स पुमाँल्लोके यस्यार्था स च पण्डित ॥[9]

इस ससार म जो धनी है उनक साथ पर पुरुष भी स्वजन का सा व्यवहार करत है तथा जो धनहीन दरिद्र ह उनके साथ स्वजन भी तत्काल ही दुर्जन का सा व्यवहार

1 नातिमात्रपरिवारा दीनारशतपञ्चकम्।
प्रत्यह प्रार्थयामास राज्ञस्तस्मात्स वृत्तय ॥11
अल्प परिकरऽप्यस्मिरियद्भि स्वर्णरूपकै।
किमेष व्यसन पुष्णात्येष कथन सद्व्ययम् ॥ 13 क स सा 12 11 11 13
2 वही 12 11 11 13 10 7 157 159 2 16 33-45 10 10 124 1 3 22 1 4 93 12 10 48
3 "दीनारोऽपि निष्कोऽस्त्री। अमरकोश 3 3 14
4 क स सा 9 3 92 10 4 212 1 3 92 9 3 94 97
5 शुक द्वात्रिंशत्तमाकथा, पृ 150
6 आणाति स्माध्वग कश्चित्पणनाष्टावरूपकान् —क स सा 10 6 204 10 6 232 ??
7 वही 12 6 186 188
8 अर्थो हि यौवन पुसा तदभावश्च वार्धकम्।
नश्यत्योजो बल रूपमुत्साहश्चापि हायन ॥ 116
अवृत्ति केप्रभु भृत्या अपुष्प भ्रमरास्तरुम्।
अजल च सरो हसा मुञ्चन्त्यपि चिरार्पितम्। 118 —क स सा 10 5 116 118
9 शुक षष्टीकथा श्लोक 56

करता है।[1] समाज मे जहाँ मनुष्य गौण एव धन ही सर्वस्व रहा हो वहा 'लोक' की अत्यन्त ही दयनीय दशा रही है। वर्ण व्यवस्था कितनी ही सुदृढ क्यो न रही हो परन्तु जो व्यक्ति ऐश्वर्य सम्पन्न है उसका ही समाज मे वर्चस्व रहा तथा जो 'लोक' हीन है उसका स्थान गौण रहा।[2]

वर्गभेद—

आर्थिक दृष्टि से सस्कृत लोककथा के समाज को दो वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है—(1) ऐश्वर्य सम्पन्न एव (2) निर्धन। यह निर्धन वर्ग परम्परा से जीवन जीने वाला 'लोक' ही था जिसके "लोक" या निर्धन होने का आधार न वर्ण व्यवस्था रही और न ही जाति व्यवस्था। बल्कि नगर या ग्राम मे कही भी रहने वाला साक्षर या निरक्षर किसी भी जाति धर्म वर्ण लिङ्ग का व्यक्ति परिस्थितियो एव अभाव के कारण सम्पत्ति सम्मान एव शक्ति की दृष्टि से जीवन में उच्च मध्य सुशिक्षित एव सम्पन्न कहे जाने वाले वर्ग की दृष्टि मे उपेक्षित एव निम्न रहा एव उसके शोषण का शिकार होते हुए भी जीवन मे उस देश की पारम्परिक पुनीत सस्कृति की जीवन्त छवि रहा है।[3]

धनी निर्धन वर्गो मे अन्त सम्बन्ध तो धन के महत्त्व से स्पष्ट हो जाता है— कुलीना नित्य हि श्री पराङ्मुखी।[4] ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति के पास सब कुछ है और निर्धन के पास कुछ नही। यहाँ तक कि उस प्राथमिक अनिवार्य आवश्यकता 'जीविका' भी उपलब्ध नही है। कथा साहित्य मे सदैव कर्म मे सलग्न रहने वाला तो 'लोक' ही रहा है। ऐसा भी न था कि वह अनुत्पन्न एव फलविहीन कर्म कर रहा था। फिर जीवन को सघर्ष मे डालकर अनवरत सघर्षमय कर्म करने वाला 'लोक' निर्धन एव असहाय क्यो रहा? यदि यह कहे कि वह ऐश्वर्य सम्पन्न वर्ग के शोषण का शिकार बन चुका था तो हो सकता है यह बात बिना प्रमाण के गले न उतरे। सदैव कर्म मे सलग्न 'लोक' के हीन बने रहने का मूल कारण तत्कालीन समाज व्यवस्था उसकी मर्यादाएँ एव परम्पराएँ रही है। सस्कृत लोककथा साहित्य मे तत्कालीन समाज व्यवस्था के नाम [illegible] भैस वाली कहावत चरितार्थ दिखाई देती है।[5] समाज मे [illegible] व्यवस्था की विसगतियो —सम्मान शक्ति एव धन तीन लाठियाँ अपनी सत्ता स्थापित कर चुकी थी।[6] सर्वप्रथम तो अत्यधिक परिश्रम और कष्ट से इन तीन लाठियों की मार मे पिसता चला रहा था निर्धन वर्ग। उत्पादन भी अच्छा हो रहा था। परन्तु उस उसका अल्पाश ही मिल पा रहा था। इस प्रकार अत्यधिक श्रम करने वाला वर्ग उच्च वर्ग द्वारा निर्धारित सामाजिक मर्यादा मान्यता तथा विश्वास के जाल मे फँसकर एव चरमराकर रह गया और उच्च वर्ग इन निर्धारित मानदण्डो की आड मे अपना स्वार्थ लिप्सा की पूर्ति करता रहा।

---

1 [illegible]

[illegible] —[illegible]

2 [illegible]

3 [illegible]

4 [illegible]

शक्ति, सम्पत्ति, सम्मान जैसे सामाजिक मानदण्डों के आधार पर समाज के उच्च एवं निम्न वर्ग में अप्रत्यक्ष सम्बन्ध शोषक एवं शोषित ही रहा। जहाँ एक तरफ राजा सामन्त एवं शक्ति सम्पन्न सम्पूर्ण राजन्य वर्ग था तो दूसरी तरफ दास दासी एवं अन्य भृत्य वर्ग के सामान्य जन थे। जहाँ ऐश्वर्यसम्पन्न व्यापारी थे वहीं व्यापार में सहायक भृत्य भारवाहवर्ग एवं सामान्यजन थे। समाज में ब्राह्मण एवं कुछ अन्य प्रतिष्ठित तथा शिक्षित जन थे तो दीन हीन ब्राह्मण एवं समस्त प्रजा भी थी। एक ओर जमींदार थे तो दूसरी ओर सामान्य कृषक, हलवाहे भारवाहक ग्वाले आदि थे। जहाँ राज प्रासादों के अन्तःपुर की चहार दीवारी में निवसने वाली रानियाँ राजकुमारियाँ थी वहाँ दासी, देवदासी, वेश्या एवं लोकनारी थी।

अत्यधिक एवं अनवरत श्रम करने वाले लोक की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। दीन हीन अभावों में जीने वाला "लोक" उच्च वर्ग द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों को भाग्य एवं पूर्वजन्म के कार्यों का फल या ईश्वर की देन मानकर जीवनयापन कर रहा है।[1] इस बीच राजाओं सामन्तों एवं व्यापारियों के यहाँ धन सिमटकर एकत्र होता रहा है। सामन्तवादी समाज में निर्धन ऐश्वर्यवान्, शोषित शोषक वर्गों के सम्बन्धों में अत्यधिक दूरी का होना सत्य ही था। यद्यपि निर्धन श्रमिक के श्रम से अत्यधिक उत्पादन हो रहा था परन्तु उसकी स्थिति और बदतर होती जा रही थी। 'दूसरी ओर शासक सामन्तवर्ग, बनियों का सबसे बड़ा मित्र था, क्योंकि वह जानता था कि राज्य की उथल पुथल या क्रान्ति का विरोधी यदि कोई है तो बनिया वर्ग ही है।"[2] तथा प्रतिष्ठित ब्राह्मण वर्ग, धर्म ईश्वर भाग्य, पूर्वजन्मकर्मफल एवं परलोक का भय दिखलाकर लोक की हिम्मत को कमजोर कर रहा था। इस प्रकार प्रतिष्ठित शक्तिशाली एवं ऐश्वर्य सम्पन्न दीन हीन असहाय 'लोक' का शोषण करते रहे। परिणामस्वरूप दीन और दीन होता गया और ऐश्वर्यसम्पन्न और ऐश्वर्यसम्पन्न बनता चला गया। शोषक-वर्ग की अट्टालिकाएँ, प्रासाद विलासिता के साधनों सुख सुविधाओं से भरे पूरे थे तो निधनों के घर दरिद्रता के घर बनते चले जा रहे थे।[3] श्रीधर मिश्र ने यहाँ तक कहा है कि सामन्ती युग की स्त्रियाँ अपने आनन्द का महल गरीबों की लाश पर बनवाती थी अपनी फूलवारी उनके खून से सींचती थी।[4]

---

1 कसर्सा 12 34 144 17 4 145 151 12 13 46-47 13 1 194 195 12 34 323 328 12 29 12 14 10 9 232 233 सिद्दा पृ 124
2 मानव समाज पृ 133 134
3 पूरयति पूर्णमेषा तरङ्गिणामहति समुद्रमिव।
लब्धारब्धनस्य पुनर्लोचनमार्गेऽपि नायाति ॥ 9 3 32
त्व्यरागानसगात परिहासैश्च पेशल।
मरुभूत्याजवकृतै रमते स्म च तयु स ॥ 9 2 22
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा नीतवत्यावुभे च ते।
स्त्रियावन्तर्गिर्यास्त युवान राजमन्दिरम् ॥ 5 3 43
सोऽपि प्राप्तस्तदद्राक्षीन्माणिक्यस्तम्भभास्वरम्।
सौवर्णभित्ति सकेतकेतन सम्पदामिव ॥ 5 3 44 —कससा 9 3 111 123 5
4 सम्मेलनपत्रिका भाग 45 संख्या 4 लोकगीतों में जीवन का यथार्थचित्रण"

लोक जीवन में कितनी गरीबी कितनी भूख और कितनी विपदाएं थी। लेकिन स्वयं लोक यह नहीं समझ पा रहा था कि उसकी विपदा भूख और गरीबी का कारण क्या है और कैसे इनसे विमुक्ति सम्भव है। वह धन जमा करने वाले महाजन और दूसरों की मेहनत पर जीने वाले राजा सामन्त एवं ब्राह्मण की चाल के रहस्य को समझ न पा रहा था। जिस समाज का बहुसंख्यक वर्ग अभावों विपदाओं एवं दारिद्र्य में पूर्ण जीवनयापन कर रहा हो और संख्या में बहुत कम लोगों का वर्ग ऐश्वर्यसम्पन्न हो और वह सुखपूर्वक एवं विलासितापूर्ण जीवन जी रहा हो तो इसका कारण यही हो सकता है कि समाज के अधिकांश लोगों के श्रम का फल कतिपय लोग येन केन प्रकारेण स्वार्थ लिप्सा हेतु संचित करने में संलग्न है।

अन्त सम्बन्ध—

समाज में ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग का बोलबाला था। धनवान् व्यक्ति ही एक से अधिक पत्नियाँ रखने में समर्थ थे। सामान्यजन या दरिद्र व्यक्ति तो एक स्त्री का भरण पोषण भी कष्ट से कर पा रहे थे। बहुत सी स्त्रियों की तो बात ही क्या।[1] सामान्यजन तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह जाता कि राजाओं के यहाँ विवाह में असंख्य हाथी घोड़े रथ दास दासियाँ और धन रत्न आदि दिये जाते हैं। इतना ही नहीं ब्राह्मणों को अग्रहार एवं विभिन्न वस्तुओं का दान देना भी राजा सामन्त की सम्पन्नता का द्योतक करता है। राजप्रासादों में विभिन्न विलासिता की वस्तुएं रहन सहन खान पान तथा एक बहुत बड़े भृत्य वर्ग का पालन पोषण भी उनकी सम्पन्नता का प्रतीक ही है।[2] यह भी सत्य है कि कोई भी व्यक्ति सुरा सुन्दरी जैसे विलासितापूर्ण व्यसनों की ओर तभी अग्रसर होता है जब वह ऐश्वर्यसम्पन्न हो। सुरा सुन्दरी तो राजा सामन्त की दिनचर्या के प्रमुख अंग रहे हैं। भृत्य वर्ग उनकी सेवा में सदैव तत्पर रहता है।[3] धन को ही जीवन मानने वाले

---

1. सपत्न्यो हि भवन्तीह प्राय श्रीमतां भर्तरि लोके विभूयाश्च भार्या ... कथा ... कसमा ...
2. तत्राया पितृवेश्मसु ... विनालनाम्य स स्वीप्रया
   दत्तैर्लालि ... र्णग्रामस्वनित्तो ... अहेवाग
   नानारत्नसुपूर्णभार्याय रैस्तैश्च मख्यातौ
   लीलादर्शितलिजयात्यविभवश्चक्र प्रजाक्षौतुकम् —वही ५।१५
3. अह ... शे ... यत्र ... स्ति महत्वृश्यराभिष
   विष्णुस्वामीति नरामाद् द्विजो यज्ञा महाधर —वही १२।५
   वही 16 12 179 14 41 12 204
4. वही ५ २ 21 22 बृहत्कथा ... २ 25 33
5. इतस्तत ... ... न्वर्णसुवर्णय
   ... नृत्य ... गृह नृपस्य —कसमा ...
   ... ग ... मानैन्नगर
   ... ... एव ... —वही
   ... ... प्रशमभास्वरा
   सौवर्णाभिर्न ... —वही ... ।।
   वही ३ 4 46–47 14 2 61 ... 2 12 15 ...
   बृहत्कथा 12 26–31 कसमा ...

व्यक्ति तो सदैव व्यापार में सलग्न रहे हैं और व्यापार के द्वारा अधिक से अधिक धनार्जन करना ही उनके जीवन का उद्देश्य रहा है। वे व्यापार हेतु जहाजो मे दीपान्तर यात्रा करते हैं। उनके लिए धन ही सब कुछ है। धन के लालच में फँसकर एक व्यापारी अपनी पत्नी को एक रात क लिए देह व्यापार हेतु प्रेरित करता है।[1]

सामान्यजन के समय पर ऋण का भुगतान न करने की स्थिति में उसे कडी सजा भुगतनी पडती है। 'सिहासनद्वात्रिंशिका" में एक कथा इस सम्बन्ध में मिलती है जिसमें निश्चित अवधि मे ऋण न चुका पाने की स्थिति में एक व्यक्ति (ऋणधारी) के कोडे लगाने का उल्लेख है।[2] कथासरित्सागर में भारवाहक की कथा मे हिरण्यगुप्त और रत्नदत्त नामक वैश्य हैं और वे व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते है। यह कथा स्पष्ट करती है कि वैश्य एक ओर गरीबजन का शोषण कर लाभ भी उठाना चाहता है तो दूसरी ओर राजा की चाटुकारिता कर उसका भी कृपापात्र बना रहना चाहता है। इस कथा में राजा का उन्हें विश्वासघाती और दुष्ट कहना एक व्यापक अर्थ म वणिक् वर्ग के चरित्र को रेखाङ्कित करता है।[3] इस वणिक् वग क चरित्र को उजागर करने के लिए तो ताम्रलिप्ति के स्कन्धदास नामक व्यापारी का उदाहरण और प्रकृष्टतम है। इस वर्ग की कृतघ्नता और स्वार्थ की पराकाष्ठा और क्या हो सकती है कि स्कन्धदास का जहाज जब समुद्र के बीच में फँस जाता है आर उसके द्वारा रत्नों स समुद्र की पूजा करने पर भी जहाज नही हिलता है तो वह जहाज का छुडा देने वाल को अपनी सम्पत्ति का आधा भाग और अपनी कन्या को देन की बात कहता है। यह सुनकर एक धैर्यशाली विदूषक अपने जीवन को सकट में डालकर जहाज के कर्मचारियों द्वारा जाल और रस्सियो से बन्धा समुद्र में उतर जाता है तथा जहाज के नीचे पानी में गोता लगाकर विशालकाय सोये हुए पुरुष की जाघो, जिनमें फँसकर जहाज रुक गया था अपनी तलवार स काट देता है और जहाज चल पडता है। यह देखकर वह दुष्ट बनिया घोषित धन के लोभ म उसके शरीर से बधी रस्सियों को काट देता है आर वह उदय अपचरित्र के समान छुट हुए जहाज से महान् लाभ के समान समुद्र क पार पहुँच जाता है। यह कथा वणिक् वर्ग के क्रूर विश्वासघात एव धन के प्रति लालच स्वभाव को सिद्ध करती है। उसके लिए मनुष्य का जीवन तो कुछ भी नही है। यहाँ यह भी सिद्ध होता है विदूषक भी धन एव स्त्री के लालच से ही अपने जीवन को सकट मे डालकर समुद्र क पानी में गहरे तक गोता लगाता है।[4]

यह धनी वग इर्ष्या मे दूसरे को खाता-पीता एव अपने समान किसी दीन को सम्पन्न रूप में तो देख ही नही सकता है। वसुधर नामक भारवाहक को अचानक ही लेता देता

1 साऽथ पापोऽर्थलाभस्ता कीनाश पतिरब्रवीत्।
प्रिय वस्त्रसहस्राणि पञ्च वाजिशतानि च ॥ 85 ॥
एकया यदि लभ्यन्त रात्र्या दापस्तदत्र क ।
तद्गच्छ पार्श्व तस्याद्य प्रभात द्रुतमेष्यसि ॥ 86 ॥ कससा 7 9 85-86

2 सिंहासनद्वात्रिंशिका पृ 26 27

3 कससा 10 1 6 24

4 वही 3 4 291 312
"कृतघ्ना धनलोभान्धा नोपकारेक्षणक्षमा ।" 108

और खाना पीना देखकर रत्नदत्त नामक वैश्य राजा से इस बात की शिकायत करता है।[1] कुछ वणिक् ऐसे भी हैं जो दैनिक व्यापार अर्थात् दलाली किया करते हैं जिससे वस्तुएँ उचित मूल्य से अधिक महँगी हो जाती हैं। एक व्यापारी से माल खरीदकर उसी समय दूसरे को बेच देते और अपना धन लगाये बिना ही अधिक धन कमा लेते हैं।[2] यह वर्ग अत्यधिक सम्पन्न रहा है।[3] वीरवर एक सौ दीनार भोजन सामग्री पर एवं एक सौ दीनार वस्त्र अंगराग ताम्बूल आदि पर व्यय करता है।[4] व्यापारियों से माल पर चुंगी ली जाती है। यहाँ तक कि उस समय तस्करी भी होती थी।[5] व्यापारियों के चुंगी कर से बचने के लिए अन्य जंगली मार्ग से यात्रा करने का उल्लेख हुआ है।[6]

निर्धन असहाय एवं निम्न समझे जाने वाले वर्ग की अत्यन्त दयनीय स्थिति रही है। यद्यपि यह वर्ग बहुसंख्यक एवं परिश्रमी है परन्तु उसे अपनी जीविका भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं है। इस वर्ग में छोटे कृषक भारवाहक हलवाहे दास दासी पारम्परिक व्यवसायी एवं भृत्यवर्ग है। संस्कृत लोककथा साहित्य में यह पूरा का पूरा वर्ग ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग के जीवन एवं उसकी सुकुमारता को बनाये रखने का साधन है। राजा सामन्त के यहाँ के भृत्य वर्ग का जीवन तो और भी कष्टप्रद है। प्रतिपल उनकी सेवा में तत्पर रहता है। अन्तःपुर में रानियों एवं राजकुमारियों की सेवा में दासियाँ नियुक्त रहतीं।[7] यहाँ तक कि दासियाँ तो लेन देन की वस्तु थी। विवाह आदि में दहेज के रूप में भी दी जाती थी।[8] दासियों को आर्थिक शोषण के अतिरिक्त शारीरिक शोषण की यंत्रणा भी सहनी पड़ती है। परिणाम स्वरूप राजा द्वारा दासियों से उत्पन्न संतान वर्णसंकर दास दासी कहा जाता रहा। यह प्रथा अट्ठारहवीं उन्नीसवीं सदी तक भी प्रचलन में रही है। इन्हें बाद में गोले गोली कहा जाता रहा था।[9]

राजा सामन्त के यहाँ काम करने वाले भृत्य वर्ग की जीविका स्वामी के घर से प्राप्त पर्याप्त रही है। सुसम्पन्न स्वामी के हर्म्य की भाँति इनके गृह में सारी सुविधाएँ एवं

---

1. [illegible]
   [illegible]
   —[illegible] 10 [illegible]
2. [illegible] 23।58।12
3. [illegible] 12।10।45
4. [illegible]
   [illegible]
   —[illegible] 12।11।16।17
   [illegible]
   —[illegible] 3।35
   [illegible]
   [illegible] 5।17
8. [illegible]
   [illegible]
9. [illegible]

विलासिता की वस्तुएँ तो दूर की बात, आवश्यक वस्तुएँ भी नही हैं। एक सेवक के गृह में पानी का मटका, झाडू आर चारपाई मात्र हाने का उल्लेख है। फिर भी वह सेवक और उसकी पत्नी कलह रहित अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हैं आर स्वामी के यहाँ स प्राप्त पक्वान्न मे से देवता, पितर तथा अतिथि को दन के बाद बचे हुए अन्न से अपना पेट भरते हें।[1] लोकपाल कह जान वाले राजा की निम्नता इससे बढकर ता और क्या हो सकती है कि वह अपने प्राणों की रक्षा के लिए ब्रह्मराक्षस के भक्षण के लिए अपने बदले वीर एव अद्भुत आकृति वाले सात वर्षीय बालक को सौ गाँव एव साने तथा रत्नों से निर्मित मूर्ति देकर खरीदना चाहता हे। लोकपाल राजा के सुसम्पन्न होने का ही परिणाम है कि वह अपने प्राणा की रक्षा के लिए जा चाहे कर सकता है। राजा और ब्राह्मण पुत्र की कथा तत्कालीन आर्थिक शोषण एव वर्गभेद को दर्शाती है। राजा सुसम्पन्न है उसे किसी का अभाव नही हे। वह बालक अत्यन्त दीन परिवार से है। अत राजा के लिए यह सुअवसर है कि उसकी इस मजबूरी का लाभ उठाये। माता पिता भी अपनी दीनता से अत्यन्त पीडित हैं। राजा की सुसम्पन्नता एव बालक के परिवार की दरिद्रता का ही परिणाम है कि राजा उस बालक को अपने प्राणा की रक्षा के लिए खरीद पाता है।[2]

निर्धन व्यक्तियों का जीवन अत्यन्त अभावों से युक्त है। अत्यन्त दरिद्रावस्था मे रहने के लिए बाडे का उल्लेख मिलता है। दरिद्रो का समाज में गौण स्थान है। दरिद्रों का जीवन अत्यन्त नरकमय है। एस व्यक्तियो के पास जीविका का कोई स्रोत नही है। शीत आतप वर्षा मे उनके लिए आवास की भी समुचित व्यवस्था नही है। एक ऐसे दरिद्र की झोंपडी का उल्लेख है जिसके आगन मे कूडे कचरे का ढेर लगा है। उसमें खस की पुरानी झाझर चटाई का घेरा लगा है और छप्पर के असख्य छिद्रों से धूप और चान्दनी भीतर आती है। सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि शीत एव वर्षा में क्या स्थिति रही होगी। ऐसी स्थिति में क्या यह कहा जा सकता है कि शीत से बचने के लिए उनके पास पर्याप्त वस्त्र रहे होगे एव वर्षा से बचने के लिए क्या दर दर की ठोकरें न खाते फिरे होंगे ?[3] राजा लक्षदत्त और भिक्षुक लब्धदत्त की कथा में राजा लक्षदत्त के द्वार पर कार्पटिक का वर्षों तक भीख माँगकर जीवन यापन करना तत्कालीन समाज व्यवस्था में अवसरों की असमानता को तो इगित करता ही है साथ ही वर्ण-व्यवस्था के सत्य का उदघाटन भी करता है। कार्पटिक वीर है, निपुण आखेटक है कुशल योद्धा है तथा विद्वान् भी है, फिर भी वह भिक्षा माँगने को विवश है। सामन्तवादी और पूँजीवादी व्यवस्था का यह एक लक्षण भी है। कार्पटिक द्वारा पढी गई आर्या मे भी इसी व्यवस्था की ओर सकेत है, जहाँ धनिक और धनवान् होता जाता है और गरीब और गरीब।[4] परिस्थितिवश व्यक्ति के दरिद्र हो जाने पर सम्बन्धियों के यहाँ जान में भी वह सकोच करता है। उनका मानना था कि दरिद्र व्यक्ति के लिए मर जाना श्रेयस्कर है किन्तु अपने सम्बन्धियों के आगे दीनता-प्रदर्शित उचित नही।[5]

1 क.स.सा. 6 1 90 97
2 वही 12 27 90 130
3 बृ.क श्लो 18 143-157
4 क.स.सा. 9.3 10 73
5 वही 3.5 19 23 - "वर हि मानिना मृत्युर्न दैन्य स्वजनाग्रत।" 3 ^ 22

इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से कमजोर दयनीय वर्ग को ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग विभिन्न उपायों से शोषण कर अपने स्वार्थ की सिद्धि कर रहा था। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सेवक का तो यह कर्त्तव्य ही था कि प्राण देकर भी स्वामी की रक्षा करे और ये स्वामी राजा सामन्त मदमत्त हाथी की तरह निरंकुश हैं। वे इतने विषय लोलुप हैं कि धर्म एवं मर्यादा की सीमा भी तोड़ देते हैं। ऐसे निरंकुश चित्त वाले राजाओं का विवेक अभिषेक के जल में उसी प्रकार बह जाता है जैसे बाढ़ के पानी में सब कुछ बह जाता है। वैभव की आँधी में चौंधियाई हुई उनकी आँखें उचित मार्ग नहीं देख पाती हैं।[1] ये राजा सामन्त या ऐश्वर्यवान् उच्च वर्ग निर्धन व्यक्तियों के जीवन के समस्त श्रम के फल पर अपना अधिकार करना चाहता है। यूँ तो प्रत्यक्ष रूप में निर्धन व्यक्ति उच्च वर्ग की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण न रहे परन्तु जहाँ उसकी स्वार्थ लिप्सा जुड़ी होती उस अवसर को भाग्य पुनर्जन्म ईश्वर आदि विश्वासों से जोड़कर अपने अभिलषित को पाने में सफल हो जाता है।[2] राजकुमार अवन्तिवर्द्धन चाण्डालों की बस्ती में रत्नलता नामक मातंग की कन्या के सौन्दर्य पर आसक्त होकर उसे प्राप्त करने में ही जीवन की सफलता मानता है। यह कन्या नीच जाति की होने के कारण अच्छे लोगों के उपभोग के योग्य नहीं है। इस सामाजिक मर्यादा का समाधान यह कह कर करता है कि यह कन्या मातंग की लड़की नहीं है बल्कि निस्सन्देह कोई दिव्य कन्या है क्योंकि उत्पादन [illegible] का अलौकिक रूप नहीं हो सकता है और यह रूपवती कन्या मेरी स्त्री नहीं होगी तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है। यहाँ पर उच्च वर्ग की चालाकी स्पष्ट हो जाती है। यह भी ज्ञात होता है कि उच्च वर्ग के व्यक्ति स्त्री लम्पट सामाजिक मर्यादा का किस प्रकार उल्लंघन कर अपने इच्छित को प्राप्त करते हैं।[3] सामाजिक मर्यादाएँ मान्यताएँ निर्धन अप्रतिष्ठित वर्ग के लिए ही थी।

1 —— । प्राणैरपि हि भृत्यानां स्वामिसंरक्षणं व्रतम् ॥ ५३ ॥
राजानस्तु मदान्धाश्च गजा इव निरङ्कुशाः
[illegible] धर्ममर्यादाश्रृङ्खला विषयान्मुखाः ॥ ५४ ॥
तेषां [illegible] अभिषेकाम्बुभिः समम्
[illegible] याति [illegible] इवाखिलम् ॥ ५५ ॥
[illegible] इव [illegible] चामरमारुतैः ।
[illegible] ॥ ५६ ॥
[illegible] च मूर्च्छा [illegible] निवर्त्यते ।
[illegible] दृष्ट्यापि च नेक्षते ॥ 57 ॥ कथासरित्सागर 12.24.53-57
2 वही [illegible] 12.12.146, 16.2.178, 181 [illegible]
3 अस्मिन्नेव [illegible] कोऽपि चण्डालवाटके
[illegible] सा नाम्ना सुरतमञ्जरी ॥ ५० ॥
[illegible] तस्या मनोरमम् ।
[illegible] वपुः ॥ ५१ ॥
[illegible] कुमारस्तान [illegible]
[illegible] सा दिव्या कापि निश्चयम् ॥ ५२ ॥
[illegible] सा [illegible]
[illegible] ॥ ५३ ॥ [illegible] 12.14.51-53

यह वर्ग तो इतना सरल था कि किसी मर्यादा का उल्लघन करने में भी पाप समझता है। सम्पन्न उच्च वर्ग निर्धारित, सामाजिक मर्यादाओं की व्याख्या इच्छित रूप मे तथा अवसरानुरूप करता है।

सस्कृत लोककथा साहित्य के लोक-जीवन में निर्धन-कृषक परिवारों की बहुलता है। ऐसे परिवार भी हैं जिनके पास जीविका के लिए पर्याप्त साधन नही हैं। दुर्भिक्ष पडने पर या अन्य किसी कारण से फसल के नष्ट होने पर गृहस्थियों की अत्यन्त कष्टप्रद स्थिति हो जाती है। अधिकाश उपजाऊ जमीन पर जमीदारों, राजा, सामन्त एव ऐश्वर्यसम्पन्न लोगो का आधिपत्य है। परिस्थितिवश उन्हें किसी सम्पन्न व्यक्ति के यहाँ भृत्य बनना पडता है मजदूरी करनी पडती है या हलवाहा बन किसी जमीदार या बडे कृषक के यहाँ कृषि कर्म करना पडता है। इनके पास न जमीन है एव न कोई और ही जीविका पाने का स्रोत है। उसके लिए जीने के सारे मार्ग एक अल्पसख्यक वर्ग विशेष द्वारा बन्द कर दिए गए हैं या उन पर स्वामित्व बना लिया गया है। ऐसी दशा मे यह बहुसख्यक निर्धन-दरिद्र वर्ग भूमि से नही जी रहा है, कृषि से अपना पेट नही पाल रहा है बल्कि उजरत पर काम करके जी रहा है या यह कहना अधिक उचित एव सत्य होगा कि वह जी नही रहा है, बल्कि तन और प्राण को बनाये रखने का प्रयास कर रहा है। इस वर्ग को उसी स्थिति मे बनाये रखने के लिए पूर्वजन्म के कर्म का फल, भाग्य ईश्वर, धर्म एव "स्वामी की सेवा ही स्वर्ग के द्वार है" आदि आस्था मान्यताओं एव विश्वासों के जाल में फॉसकर अपने पारिश्रमिक से भी वचित रखा जा रहा है।

दरिद्रावस्था मे भूमि से भी कोई लाभ नही। जिसके पास पैसा नही और क्षेत्र से पैसे मिलने की तो बात ही क्या खाना भी पूरा नही पडता। यदि क्षेत्र में बुवाई भी की और ऊपर से प्राकृतिक आपदा आ टूटी या किसी पडोसी राजा ने आक्रमण कर दिया तो उस स्थिति म और भी आर्थिक दृष्टि से वह टूट जाता है। प्राय दरिद्रावस्था में वे विदेश को मजदूरी करने चले जाते हैं। बिना अर्थ के जीवन शून्य रहा है। न कोई बधु बाधव और न ही कोई सम्बन्धी। एक दृष्टि से अर्थ ही जीवन का अर्थ बन गया। भोजन, वस्त्र, गृहस्थी एव कर चुकाने के लिए अर्थ अत्यावश्यक है। ऐसी स्थिति में भूमि एव राजा सामान्यजन के लिए नही थे। भूमि पर सम्पन्न प्रतिष्ठित लोगो का अधिकार है। राजा तो राजा के लिए रहे हैं। वे अत्यन्त सम्पन्न प्रतिष्ठित एव शक्तिशाली है और लोकहित को भूलकर विलासिता के पक मे आकठ डूब चुके हैं। यह वर्ग उसकी विलासिता एव सुकुमारता को अपने रक्त स्वेद से सीचता रहा।

कौन राजा सामन्त के यहाँ उनकी सेवा में तत्पर रहे हैं ? कौन अन्तपुर की रानियों, राजकुमारियों की सेवा सुश्रूषा में लगे रहे हैं ? कौन जमीदार के यहाँ खेतो में काम करते रहे हैं ? कौन व्यापारिक जहाजों से माल उतारने चढाने का काम करते रहे हैं ? कोन उन जहाजों की परिचर्या करते हैं ? कौन वणिकों के यहाँ सेवक रहे हैं ? कौन काष्ठ, चर्म, स्वर्ण, वस्त्र बुनने एव उद्यान सीचने का काम करते रहे हैं ? कौन वर्णसकर एव वशानुगत दास हुए ? कौन पशु चराते ? कौन जीविका की तलाश में विदेशों मे भटकते रहे है ? कौन डोम्ब, भील, चाण्डाल, चारण, भाट आदि रहे हैं ? क्यों इन्हें ग्राम नगर में रहने का-अधिकार नही रहा ? क्यों ये आखेटक बने ? समाज का यह बहुसख्यक वर्ग क्यों अपने

लिए नहीं जीता रहा ? यह सत्य है कि व्यक्ति को आवश्यकता एवं परिस्थितियाँ वशीभूत बनाती हैं। परन्तु यहाँ पर परिस्थितियाँ नहीं बल्कि सामाजिक मर्यादा मान्यता एवं आस्था के ही कारण यह वर्ग सम्पन्न जनों के बन्धनों में पड़ा एवं उनका ऋणी बना। एक बार ऋण में फँसने के बाद निर्धन दरिद्र व्यक्ति शायद ही उससे उबर पाते, क्योंकि उनके पास सम्पन्न लोगों की भाँति जीविका या आय के कोई स्थाई स्रोत नहीं हैं।

इस प्रकार ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग निर्धन दरिद्र वर्ग के श्रम से और धनवान बनने एवं उसकी पीठ पर सवार होकर सामाजिक मर्यादा ईश्वर धर्म भाग्य पूर्वजन्म आदि के नाम उसे मनचाही दिशा में हाँक रहा था। यह तो सुविदित है कि सदैव सामाजिक मर्यादा एवं नीति का निर्माण सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित वर्ग के द्वारा किया जाता रहा है और जहाँ तक किसी नीति या मर्यादा के निर्माण एवं उसके व्यावहारिक जीवन में नियमन का सवाल है ये दोनों अलग अलग बातें हैं। कथा साहित्य में सामाजिक मर्यादा के व्यावहारिक जीवन में नियमन की दृष्टि से देखा जाए तो "लोक" अर्थात् दीन हीन एवं पारम्परिक प्रवाह में जीवन जीने वाला वर्ग श्रेष्ठ ठहरता है और उसे ही उच्च वर्ग का नाम देना चाहिए। सत्य भी यही है कि आचरण व्यवहार एवं सामाजिक मर्यादा के पालन की दृष्टि से निम्न कहा जाने वाला दीन हीन वर्ग ही उच्च ठहरता है और उच्च कहा जाने वाला सम्पन्न प्रतिष्ठित एवं शक्तिशाली वर्ग चरित्रहीनता का आगार एवं समस्त सामाजिक बुराइयों का कारण रहा है। वस्तुतः "लोक" ही प्रतिष्ठित एवं उच्च कहे जाने के योग्य है। नीति मान्यताओं एवं सामाजिक आचार संहिता का सर्जन करने वाले से निम्नस्तर जीवन में उसे व्यवहृत रूप देने वाला ही श्रेष्ठतर एवं उच्चतर कहलाने का अधिकारी होता है।

4 प्राकृतिक-आपदाओं का आर्थिक दृष्टि से लोक-जीवन पर प्रभाव

प्रकृति से तात्पर्य पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश से है। इनके संतुलन एवं असंतुलन से उत्पन्न विभिन्न रूप ही प्रकृति के आश्चर्य हैं। प्रकृति संतुलन से ही मनुष्य जीवन है। प्रकृति के आश्चर्य ही हैं कि रात होती है दिन होता है उषा संध्या होती प्रातःकाल सायंकाल होता है ऋतुएँ होती हैं नदी समुद्र पहाड़ चंद्र सूर्य एवं नक्षत्र होते हैं। अतिवृष्टि अनावृष्टि शीत आतप आँधी तूफान आदि सभी प्रकृति के ही रूप हैं। जल तेज वायु के असंतुलन से ही बाढ़ आती है दुर्भिक्ष पड़ता है आँधियाँ चलती हैं भूकम्प आते हैं। तेज शीत आतप असह्य हो जाते हैं। प्रकृति किसी के नियन्त्रण में नहीं है। यदि मनुष्य ने उस पर विजय पाने की कोशिश की तो उसे मुँह की खानी पड़ी।

"लोक" का अपना जीवन है। वह प्रकृति की गोद में ही जन्म लेता है। प्रकृति ही उसका पालन पोषण करती है। वही उसे जीवन देती है और वही उसकी चिर सहचरी है। प्रकृति ही उसे कर्म में प्रवृत्त करती है। उसे संगीत सुनाती है और उसी के आँगन में हँसता खेलता बड़ा होता है वह। एक दिन उसी की अंक में चिर निद्रा में विलीन हो जाता है। चकाचौंध पूर्ण चमक दमक देने वाली भौतिक सभ्यता से दूर प्रकृति के आँगन में

रहने के कारण ही "लोक-जीवन" को कृत्रिमता नही छू पाई है। इसीलिए वर सरल सरस हृदय है। आस्था और विश्वास ही उसके जीवन के सम्वल है। प्रकृति के तत्त्वों की समरूपता एव सतुलन से ही इस दृश्यमान जगत् की सत्ता है। प्रकृति ही ईश्वर है। प्रकृति में विभिन्न आश्चर्य ही उसके देव है। वैदिककाल के ऋषियो ने भी प्राकृतिक आश्चर्य को ही देवता मानकर, उनकी पूजा अर्चना एव प्रार्थना की है।

प्रकृति का असतुलन ही प्राकृतिक आपदा है। सस्कृत लोककथा-साहित्य में प्राकृतिक आपदा के रूपों में अनावृष्टि अतिवृष्टि, समुद्री तूफान आदि के उल्लेख मिलते हैं। यह भी एक आश्चर्य है कि प्रकृति अपन कोप का भाजन भी उसी की गोद में वसने वाले "लोक" को ही बनाती है। दुर्भिक्ष, वर्षा शीत, आतप, बाढ से पीडित वे ही तो होते हैं जो नीलाकाश की खुली छत के तले रहते हैं, जिनके पास न पर्याप्त खाने को होता है और न ही पहनने को। जो सर्वसम्पन्न हैं, प्रासाद-अट्टालिकाओं में रहते हैं, जिन्हें समस्त आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध हैं उन्हें तो प्राकृतिक-प्रकोप स्पर्श तक न कर पाता है। प्राकृतिक-आपदाओं म "लोक" ही सदैव पीडित होता रहा है।[1]

अनावृष्टि—

जिनकी जीविका ही कृषि, पशुपालन एव दिन दिहाडी आदि प्रकृति पर निर्भर हो और यदि वर्षा के अभाव में दुर्भिक्ष पड जाए या अत्यधिक वर्षा एव तेज हवा से भयकर बाढ आ जाए, तूफान चलने लगे तो भला वे कैसे जीवित रह सकते हैं क्योंकि न तो उनके पास अनाज के भण्डार होते हैं और न ही जीविका का कोइ अन्य स्रोत ही होता है। वर्षा न होने एव दुर्भिक्ष पडने पर जगल की रेत सूर्य की किरणों से जल उठती थी अर्थात् जगल रेगिस्तान बन जाते थे। वृक्ष सूख जाते थे, कहीं-कहीं सूखे और इक्के दुक्के वृक्ष ही दिखाइ पडते थे। दूर दूर तक पीने का जल तक न मिलता था। खेतों की फसल झुलस जाती थी। ऐसी दुरावस्था में रक्षक ही उग्र भक्षक बन जाते थे। लोकपाल भी सन्मार्ग को त्यागकर अनीति पूर्वक प्रजा का धन लूटने लग थ। दुर्भिक्ष और ऊपर स राजा द्वारा किये जाने वाल अत्याचार से दुखित लोग गाँव नगर छाडने को विवश हो जाते थे। यद्यपि लोक-जीवन में यह माना जाता रहा था कि "दुर्भिक्ष के समय घर से भागना महापाप है।" परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी बन जाती थी कि वे ग्राम नगर छोडकर कहीं अन्यत्र चले जाते थे।[2] यदि कोई राजा दयालु होता और उसके ऐसे समय में प्रजा

1 पश्य पश्य वयस्योऽय दत्र कार्पटिकस्तव।
चर्मखण्डैकवसनो जटाल कृशधूसर ॥ 2
सिन्धुरारद्विरात्र शान वाप्यातरऽपि वा।
न न्नतस्त स्तगत्य त्रिपथगति प्रपतत्स ॥ 3 कससा 9 3 2 3
वही 9.3 13-14 12 11 29 35 15 2 132
एव च न्त्रिस नीत्वा कृतप्रादोषिकाशन।
आवस शयनावास मालाधूपाधिवासितम् ॥ 26 —वृ क. श्लो. 17 26
2 अनावृष्टिहते काले प्रातरो ब्राह्मणास्वय।
भार्यास्तिस्र परित्यज्य पुरा जग्मुर्दिगन्तरम् ॥ वृ क म. 1 2.38
वही 11 11, क स सा. 9 6 12-28 18 4 65-66 13 1 21 22

को अपने यहाँ से धन देने को तत्पर होने पर शासन तंत्र तो ऐसा था कि मंत्री स्व लाभ के कारण उसे ऐसा करने से रोक देते थे।[1]

यह तो सत्य है कि राजन्य वर्ग और पूँजीपति वर्ग सत्त्व हो निरंकुश रहे हैं। ऐसे भयंकर दुर्भिक्ष के समय भी उनकी संवेदना मर जाती और वे स्व लाभ का संवरण नहीं कर पाते हैं। दुर्भिक्ष की संकटापन्न स्थिति में लोकपाल निर्दय होकर लोगों की सहायता करने की जगह उनसे और धन ऐंठने में लग जाता था। व्यापारी वर्ग अपनी वस्तुओं का मूल्य बढ़ा देता था। लकड़ी के एक व्यापारी के तेज वर्षा के कारण जंगल में लकड़ी न आना बन्द हो जाने पर उसे अधिक मूल्य में बेचने का उल्लेख है।[2] ऐसी परिस्थितियों में लोक जीवन में आपसी सहयोग एवं स्नेह बढ़ जाता है। एक ग्राम का गोविन्द स्वामी नामक व्यक्ति अपनी पत्नी से कहता है— दुर्भिक्ष के कारण यह देश नष्ट हो रहा है। अतः मैं अपने सामने अपने मित्रों और बन्धु बाँधवों की दुर्दशा नहीं देख सकता। हमारे घर में जितना भी अन्न है उसे किसे कितना देना है यह निश्चय करके मित्रों एवं बन्धुओं में बाँट दें। तब यहाँ से किसी दूसरे देश को चलें।" सहायता एवं संवेदनशीलता की पराकाष्ठा है कि वह अपने मित्रों एवं बन्धु बाँधवों के कष्ट को देख पाने में असमर्थ है और घर के समस्त अन्न को उनमें बाँटकर उस स्थान से पत्नी पुत्र के साथ दूसरे देश को चला जाता है। यद्यपि राजा सामन्त एवं व्यापारी ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं। परन्तु वे आपातकाल में किसी की मदद करने के बजाय उसकी दयनीयावस्था का लाभ उठाते हैं। दुर्भिक्ष और संकटापन्न स्थितियों में दास दासी एवं भृत्य वर्ग को स्वामी के घर से प्राप्त होने वाला अन्न (भोजन) भी अत्यल्प मात्रा में मिलने लग जाता है। परन्तु वे अपना धर्म अपनी संस्कृति को नहीं भूलते हैं। इस भीषण प्राण संकट के समय में भी भूख प्यास से व्याकुल किसी अतिथि के आ जाने पर उसका स्वागत करने और अपने भाग का भोजन उसे दे देते। भले उनके प्राण उनका साथ ही क्यों न छोड़ दें।[1]

---

1 [illegible]
[illegible] मंत्री [illegible]
[illegible] ॥
२ [illegible]
[illegible] ॥
[illegible] दुर्भिक्ष [illegible]
[illegible] ॥
[illegible] ॥ [illegible]
३ [illegible]
[illegible] ॥
[illegible] ॥
[illegible] ॥
[illegible] ॥
[illegible] ॥
[illegible] ॥ —[illegible]

दुर्भिक्ष के समय स्थिति इतनी भयकर हो जाती है कि अपनी क्षुधा-तृप्ति हेतु पूज्य एव पुनीत पशु गाय को भी मारकर उसके माँस को खा जाने का उल्लेख है। दुर्भिक्ष पड़ने पर एक अध्यापक अपने सात शिष्यों को अपने श्वसुर के यहाँ एक गाय माँगने को भेजता है। श्वसुर के यहाँ से गाय लेकर लौटते समय मार्ग में तीव्र क्षुधा की वेदना के कारण गाय को मारकर उसके माँस से क्षुधा-शान्त करते हैं। प्राणों के भीषण सकट मे स्थिति यह बन गई कि गुरुजी का गृह दूर था, शिष्य गम्भीर विपत्ति से विवश थे, अन्न सर्वत दुर्लभ था, अकेली गाय के लिए भी मनुष्यों के जगल में घास पानी न था। अत गाय के भी मर जाने से गुरजी की आज्ञा का पालन सम्भव न था। अत वे सोचते हैं कि गाय के माँस से अपने प्राणों को बचाकर, बचे हुए माँस से गुरजी की भी प्राण-रक्षा की जाए। वे वैसा ही करके शेष माँस को लेकर गुरुजी के पास जाते हैं। कुछ दिनों पश्चात् अकाल के कारण ही वे सातों शिष्य मर जाते हैं।[1] ऐसी भयकर स्थितियों में दुर्भिक्ष से लोग असमय मृत्यु के शिकार बन रहे थे। ऐसी घटनाओं से लोक-जीवन की अत्यन्त दुदर्शा का ज्ञान होता ही है साथ ही तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था के सत्य-रूप का उद्घाटन भी होता है। राजा लोक-कल्याणकारी कदापि न रहे होंगे जिनके राज्य एव शासनकाल में व्यक्ति गाय का माँस खाने को विवश हो जाए, रोटी के लिए ग्राम नगर छोडकर दूसरे देश को चले जाए या खाद्यान्न एव पेय न मिलने से असमय मृत्यु के ग्रास बन जाए।

अनावृष्टि से उत्पन्न विकट परिस्थितियों में घास, दूब तक के जल जाने पर गो पालक अपनी गायों के साथ घास वाले अन्य प्रदेश को चले जाते हैं।[2] दुर्भिक्ष पडने पर यदि राजा (लोकपाल) लोगों की सहायता करता तो ये एक देश से दूसरे देश को कदापि न जाते। कौन अपनी जन्मभूमि को छोडना चाहता है। कथा-साहित्य में चाहे राजा, सामन्त एव एश्वर्यसम्पन्न लोगों के गुणों का गान किया गया हो, उन्हें उच्च-श्रेष्ठ एव दानी पराक्रमी कहा गया हो, परन्तु भीषण दुर्भिक्ष काल में अपनी प्रजा एव सेवक-भृत्य-वर्ग की मदद न करने वाले को स्वार्थी निरकुश, स्वच्छन्द विलासी, अकर्मण्य एव कर्त्तव्यविमुख तथा शोषक ही कहना चाहिए।[3] दुर्भिक्ष में लोक-जीवन की अत्यन्त दयनीय दशा रही। उसके परित तमस् का साम्राज्य स्थापित हो गया और कहीं कोई आशा की किरण न थी, जिसे आज के "सर्वहारा' की सज्ञा दी जा सकती है।

अतिवृष्टि—

कथासाहित्य में अतिवृष्टि का भी उल्लेख हुआ है।[4] भीषण-दुर्भिक्षकाल में लोक-जीवन की जो स्थिति रही उससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अतिवृष्टि से

1 क स मा. 6 1 110 116, बृ क.म. 5.55-60

2 उपेत्य प्रश्नयात च तमूचुर्जातविस्मयम् ।काशिपुर्यां वय जाता विप्रा धेनूपजाविन. ॥ 41
तेऽवग्रहप्लुष्टतृणात्ततो देशादिद वयम् ।आगता स्मो बहुतृण दुर्भिक्षे सह धेनुभि ॥ 42
क.स.सा. 12.3 41-42

3 वहा 13 1 21 22 18 4 65-66 10 4 169, 12.14.8 9

4 वही 1 6 46

भयंकर बाढ़ आती रही होगी। गाँव बस्तियाँ जलमग्न हो गये होंगे। कोई भी सहायता करने वाला न रहा होगा। ऐसे में कृषि का चौपट हो जाना पशु धन का नाश हो जाना आश्चर्य का विषय न था। आज विज्ञान की चरम उन्नति के बाद भी "लोक" की यही स्थिति है। अतिवृष्टि अनावृष्टि की स्थिति में भाग्य ही भगवान् होता है उसका। जिनके पास न घर था न वस्त्र और न ही जीविका थी निर्धन दरिद्र थे असहाय थे भिक्षुक थे उनका क्या होता रहा होगा ? उनके विषय में कथा साहित्य मौन है। तत्कालीन व्यापारियों के समुद्री जहाज से व्यापार हेतु दीपान्तर जाने का उल्लेख है।[1] समुद्री तूफान का उल्लेख भी हुआ है। जहाज समुद्र के झंझावात में फँस जाते और नष्ट हो जाते थे। कथासाहित्य में व्यापारी एवं उसके माल के डूब जाने के विषय में तो कहा गया है परन्तु क्या जहाज में अकेला व्यापारी ही यात्रा करता था। उसमें अन्य कोई न रहा होगा ? इस विषय में यह कहा जा सकता है कि जहाज की परिचर्या करने वाले वर्ग एवं व्यापारी के भृत्य वर्ग के साथ और भी कई यात्री रहे होंगे वे भी समुद्री तूफान में जहाज के साथ डूब जाते थे। दीपान्तर व्यापार यात्रा में व्यापारी का तो धन लाभ था एवं अन्य जितने भी लोग रहे होंगे वे तो जीविका पाने के लिए ही व्यापारी के भृत्य बने एवं जहाज की परिचर्या करने वाले बने थे। यह भी स्पष्ट होता है कि व्यापारी की मृत्यु के पश्चात् उसके परिवार के सदस्यों की आर्थिक स्थिति तो सुदृढ़ हो रही होगी परन्तु उन अन्य लोगों के माता पिता संतान पत्नी एवं भाई बहिन का क्या हुआ होगा ? कौन था उस समय उनके घर वालों को आपात सहायता राशि देने वाला और न ही उस सहायता राशि से यह क्षतिपूर्ति सम्भव थी।

निष्कर्ष रूप में प्रकृति के आँगन में निवास करने वाला क्रीड़ा करने वाला सरल सरस हृदय "लोक" ही उसके प्रकोप का भाजन बनता रहा है। प्राकृतिक संकटापन्न स्थिति में वह असहाय बन चुका है। लोक जीवन में जिसके पास तो भी धन अन्न था आराम से बाँटकर खा पी रहे थे। परन्तु लोकपाल सामन्त एवं अन्य धनी व्यक्ति उसकी संकटापन्न स्थिति में स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे।

5 आर्थिक शोषण एवं लोक-चेतना

संस्कृत लोककथा साहित्यकालीन समाज दो वर्गों में विभाजित हो चुका था। प्रथम वर्ग ऐश्वर्य सम्पन्न एवं अभावों से रिक्त तथा द्वितीय वर्ग शोषित एवं अभावों से युक्त था। प्रथम अर्थसमृद्ध वर्ग के सुसम्पन्न एवं वैभवपूर्ण होने का कारण द्वितीय वर्ग ही था। सुसम्पन्न वर्ग द्वितीय वर्ग के श्रम का उपयोग अपने हित में कर रहा था। तत्कालीन ऐश्वर्यसम्पन्न शक्तिवान एवं प्रतिष्ठित लोगों के वर्ग द्वारा निर्धारित सामाजिक मर्यादा के सत्य रूप को पीढ़ी दर पीढ़ी वर्तमान परम्परा में जीने वाला "लोक" सहा समझ पा रहा था। ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग स्वयं द्वारा निर्धारित सामाजिक मर्यादा की व्याख्या स्वार्थपूर्ण

1 क स सा 12 34 264

परिस्थितियों के अनुरूप कर रहा था।[1] कहने मात्र को समाज मे वर्ण व्यवस्था रह गयी थी। वर्ण व्यवस्था के आधार पर "कर्म' का स्थान 'जन्म' ले रहा था। इस व्यवस्था के विश्रृखलित होने का मुख्य कारण शक्तिशाली ऐश्वर्यसम्पन्न एव प्रतिष्ठित लोगो की यह चालाकी ही थी कि जन्मना शूद्र शूद्र ही बना रहे और गुण कर्म के अभाव में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य शूद्र न बने।

आर्थिक शोषण—

समाज ने एक चक्की का रूप ले लिया जिसके शक्ति एव सम्पत्ति दो ऐसे पाट बन चुके, जिसमें निर्धन, दरिद्र असहाय वर्ग परम्परा, सामाजिक मर्यादा, धार्मिक मान्यताओं एव ईश्वर के चक्कर म पिसता जा रहा था।[2] आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न वर्ग येन केन प्रकारेण धन ऐठने मे लगा रहा। यह वर्ग तो सदैव इतना कजूस रहा है कि उसके लिए आदमी का जीवन गौण एव धन ही सर्वस्व था। धन ही उसके प्राण है। धन प्राप्ति के लिए वह कुछ भी कर सकता है।[3]

प्राय सस्कृत विद्वान यह मानते रहे हैं कि "शोषण" शब्द एव इससे सम्बन्धित विचारधारा तो अत्याधुनिक है। सस्कृत साहित्य परम्परा में "शोषण" जैसी बात या विचारधारा नही मिलती है। परन्तु शोषण तो जीवनाधार के रूप मे एक प्राकृतिक नियम रहा है। हर जीव अपना पेट भरने के लिए अपने से कमजोर जीव का भक्षण करता है। 'शोषण' की प्रक्रिया उस दिन से आरम्भ हो गयी थी जिस दिन इस पृथ्वी पर जीव पैदा हुआ। अवश्य ही उसे भूख लगी होगी उसके जीवन का अस्तित्व सकट में पड़ा होगा और उसने अपने से कमजोर जीव को खाकर क्षुधा शात की होगी। आज भी समुद्र में छोटे मत्स्य को बड़े मत्स्य खाते हैं मादा श्वान एव सर्प अपने ही बच्चो को जन्म देते ही क्षुधा वश खा जाते हैं। पौधे पर सुन्दर गुलाब पुष्प के खिलने का कारण उसकी जड़ों द्वारा किया गया विभिन्न अवयवो का शोषण ही है।[4] इसे हम एक अनवरत वैज्ञानिक प्राकृतिक प्रक्रिया कह देते हैं परन्तु जीव को पैदा होते ही, जब अपने जीवन अस्तित्व के सकट का ज्ञान हुआ तो वह शोषण म प्रवृत हुआ। पर उस दिन शोषण का वीभत्स रूप न था। वह आदमी की आवश्यकता थी, ऐसा करने को विवश था क्योंकि—"बुभुक्षित कि न करोति पापम्।" परन्तु शनै शनै मानव ने विकास किया और वह सभ्य बना तो उसने इसी प्राकृतिक शोषण प्रक्रिया को अपने स्वार्थ एव लिप्सा से जोड दिया और स्वजाति के रक्त स्वेद से उसकी दाढ लग गई और वह उन्ही से अपने जीवन एव विलासिता को सीचने लगा। सभवत इसीलिए "ईशावास्योपनिषद्" में बहुत पहले ही

1 क स सा. 16 2 140 142 16 2 80 83 9 3 5 7

2 शुक पञ्चाशततमीकथा पृ 204 श्लोक 237 एकोनपञ्चाशततमीकथा पृ 203 क. स. सा. 12 11 42 131 7 8 28 9 3 112 180 10 4 11 बृ क श्लो 15 157 20 143 146

3 "कृतघ्ना धनलोभान्धा नोपकारेक्षणक्षमा ॥ क स सा. 3 4 309

4 "अबे सुनबे गुलाब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट"—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला"

कहा जा चुका है—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।[1] यदि यह प्राकृतिक शोषण की प्रक्रिया जंगली पशु पक्षियों के साथ मनुष्य में भी रही तो मनुष्य के सभ्य होने का क्या अर्थ हुआ ?

मनुष्य समूह बनाकर रहने लगा उसमें सह अस्तित्व की भावना पैदा हुई हिंसकत्व से अहिंसकत्व की ओर अग्रसर हुआ वर्ण व्यवस्था का गठन हुआ सामाजिक मर्यादा बनी और वह सभ्य कहलाने लगा। परन्तु इसके साथ ही समाज में कुछ ऐसे स्वार्थी लोगों का वर्ग भी बना जो समाज सह अस्तित्व अहिंसा व्यवस्था आदि इन सबको भुलाकर तथा समाज की बागडोर अपने हाथ में लेकर असहाय एवं आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोगों का शोषण करने लगा।[2] परिणामस्वरूप समाज में एक दृष्टि से शक्ति सम्पन्नता एवं प्रतिष्ठा नाम के तीन हिंसक जानवर पैदा हुए।[3] समाज में यह वर्ग श्रेष्ठ कहलाने लगा। सत्य तो यह है कि इस वर्ग का मनुष्य मनुष्य न रह गया बल्कि हिंसक जंगली पशु से भी निम्न बन गया। दूसरा बहुसंख्यक वर्ग समाज सह अस्तित्व सहयोग अहिंसा एवं सामाजिक मर्यादा आदि के पारम्परिक प्रवाह में जीता रहा।

शोषण शब्द की शुष् + ल्युट् व्युत्पत्ति से उसका अर्थ शुष्क करना कृश करना हो हुआ।[4] कथासरित्सागर में भी "शोषण" शब्द का उल्लेख हुआ है।[5] तत्कालीन समाज में भी ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग हीन वर्ग का येन केन प्रकारेण शोषण करता रहा। यद्यपि समाज में वर्ण व्यवस्था का स्थान जाति व्यवस्था लेती रही। राजा लक्ष्मण के द्वार पर दरिद्र कार्पटिक का वर्षों तक भीख माँगकर जीवन यापन करना तत्कालीन समाज व्यवस्था में आर्थिक की असमानता को ही घोषित करता है। कार्पटिक के वीर निपुण आखेटक कुशल योद्धा तथा विद्वान होने पर भी उसका भीख माँगने को विवश होना सामन्तवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था का ही लक्षण है।[6] इस व्यवस्था में रिश्वत एवं जमाखोरी का भी वर्चस्व रहा।[7] रक्षक ही भक्षक बन चुके थे। दुर्बल निर्धन व्यक्ति का पालन एवं उसकी रक्षा करने के लिए कोई न रहा। यहाँ तक कि दरिद्रावस्था में माता पिता भी धन लोभ से अपनी सन्तान को धनी वर्ग को बेच देने को लालायित हो जाते हैं। इससे बढ़कर शोषण की पराकाष्ठा क्या हो सकती है कि एक लोकपाल कहा जाने वाला गुणसम्पन्न राजा अपने प्राणों की रक्षा एवं ब्रह्मराक्षस के भक्षण के लिए एक सात वर्षीय निर्धन ब्राह्मण बालक को सौ गाँव एवं सोने तथा रत्नों से निर्मित मूर्ति देकर खरीदता है।[8]

राजा सेवक वर्ग को समय पर पारिश्रमिक (जीविका) न देते थे। किसी अन्य देश से आए प्रसंग नामक सेवक को चित्रपुर नगर के राजा की सेवा करते हुए पाँच वर्ष व्यतीत

1 ईशावास्योपनिषद्।
2 क. स. सा. 12.3.63
3 वही 12.5.15
4 संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे पृ. 1013
5 किं वाऽन्यस्मि वृथात्मा... दुर्गो ... —क. स. सा. ।
6 वही 12.10.73
7 वही 2.6.5
8 वही 12.27.133

हो जाते हैं, किन्तु राजा उसे उत्सव, त्यौहार आदि के समय पर भी कुछ नही देता है, और यहाँ तक कि प्रशासन तंत्र में दुष्ट अधिकारियों के कारण इस विषय में उसे स्वामी से निवेदन करने का अवसर भी नही मिलता है।[1] यह घटना तत्कालीन राजकीय प्रशासनिक स्वरूप पर पडे आवरण को हटाकर सत्य का उद्घाटन करती है। राजा की निष्क्रियता ही है कि उसे अपने सेवकों की भी तनिक चिन्ता नहीं है। प्रशासन-तंत्र अत्यन्त ही दोषपूर्ण एव जटिल है। प्रसग नामक सेवक राजा से इसलिए निवेदन न कर पाया होगा क्योंकि वह निर्धन है, परदेशी है और उसके पास अधिकारियों को पुण्य-फल देने को कुछ भी नही है। अत उसे स्वामी से मिलने का अवसर न दिया गया। सेवक के यथासमय पूर्व निर्धारित वेतन माँगने पर उसे पैरों से ठोकरें मारने का उल्लेख है।[2] दास-दासी एव भृत्य-वर्ग तो सुसम्पन्न वर्ग के शोषण के लिए ही हैं। हर प्रकार से उसका शोषण करते हैं।[3] वणिक् वर्ग और राजन्य वर्ग दोनों ही शोषण कर रहे थे परन्तु दोनों के शोषण में अन्तर यह था कि राजा-सामत अपनी सुकुमारता को बनाए रखने एव विलासितापूर्ण जीवन जीने के लिए तथा वणिक्-वर्ग अधिक से अधिक धन प्राप्त करने के लिए विभिन्न हथकण्डों का प्रयोग कर रहा था। वणिक् वर्ग एक ओर व्यापार में अधिक लाभ कमा रहा था एव दूसरी ओर धन-ऋण देकर ब्याज भी कमा रहा था।[4] समय पर ऋण न चुकाने की स्थिति में कोडा की मार का उल्लेख मिलता है। इसके लिए वणिक वर्ग ने सगठित होकर एक पचायत का गठन भी कर लिया है और पचायत ही निर्धारित अवधि में ऋण न चुकाने वाले के लिए दण्ड का निर्धारण करती है। एक स्त्री भिक्षुक से कह रही है—"तुम क्या मदद करोगे। फिर भी बताती हूँ। आज महाजन का अन्तिम दिन है। उसका ऋण हम नहीं दे पाए। आज वह मेरे पति को कोडो से मारेगा। ऋण न चुका पाने का यही दण्ड पचायत ने दिया है।[5] जहाँ यह कथा 'लोक' की अत्यन्त ही दयनीय दशा को दर्शाती है, वही यह भी सिद्ध करती है कि "लोक जीवन" मे ऐसा कोई सगठन न था कि आपत्ति में ऐसे दण्ड विधान का विरोध कर सके। राजन्य वर्ग, वणिक् वर्ग एव अन्य प्रतिष्ठित लोगों के सगठित होने के सकेत मिलते हैं। कथासरित्सागर की भारवाहक कथा में व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले हिरण्यगुप्त एव रत्नदत्त का व्यवहार स्पष्ट करता है कि वणिक एक ओर गरीबजन का शोषण कर लाभ भी उठाना चाहता है तो दूसरी ओर राजा की चाटुकारिता कर उसका कृपा-पात्र भी रहना चाहता है।[6]

---

1 क स. सा. 9.5 13 20

2 वही 9.5 1-6

3 वही 10 1.51 53 7.8 28

सुवशस्यावलतस्य शशाङ्कस्यव लाञ्छनम्।
कृच्छ्रेषु व्यर्थता यत्र भूपतेर्भर्तुराज्ञया॥ —शुक एकोनपञ्चाशत्तमीकथा, श्लोक 235
आज्ञा तु प्रथम दत्ता कर्तव्यैवानुजीविना।
आज्ञामपत्तिमात्रेण भृत्याद्भर्त्ता हि भिद्यते॥ —बृ क श्लो. 15 157

4 क स. सा. 10.5 301

5 सिंहासनद्वात्रिंशिका, पृ 26 27

6 क स. सा. 10 1 6 24

ऐश्वर्यवान्, शक्तिशाली एव प्रतिष्ठित वर्ग के लोगो ने नारी का शोषण करने में भी कोई कसर न छोडी। एक राहगीर खेत की रखवाली कर रही एक सुन्दर बालिका को ताम्बूल देकर एक साडी के बदले सभोग करने को कहता है। उस बालिका के वैसा ही करने के अनन्तर उससे साडी वापस माँगी तो वह घर की ओर चल पडी है और वह भी अनाज की पाँच बालियाँ लेकर उसके पीछे लग गया। गाँव के मुख्य लोगों से जोर जोर से कहने लगा—इस बालिका ने अनाज की बालियों के कारण मेरा वस्त्र छीन लिया। यह सुनकर ग्रामवासियों ने उसे वस्त्र दिला दिया और वह लज्जा से कुछ न कह सकी।[1] सम्भव है सभोग करने में उस बालिका की विवशता लालच या अन्य कोई कारण रहा हो परन्तु उस बालिका को सभोग करने के बदले कुछ भी न मिला। साडी भी युक्तिपूर्वक उस राहगीर ने पुन प्राप्त कर ली और लोक निन्दा या लज्जावश वह कुछ भी न बोल पाई। पति के विदेश में होने की स्थिति मे अकेली नारी की स्थिति अत्यन्त ही चिन्ताजनक रही है। राजकीय जन उसे परेशान करते हैं और भूखे भेडिये सदृश उस पर टूट पडते हैं। वणिक् वर्ग दयनीय स्थिति में उसे आडे हाथों लेकर उसकी विवशता का लाभ उठाना चाहता है। पति के द्वारा रखे हुए धन को माँगने पर उपकोशा को एक वणिक् एकान्त में आकर कहता है—"भजस्व मा तनो भर्तृस्थापित त ददामि तत्।"[2] वणिक् तो इतने तेज चालाक हैं कि धन प्राप्ति के लिए परिस्थितियो को देखकर वे कुछ भी कर सकते हैं। एक ग्राहक के अपनी गेहूँ की गठरी को गेहूँ क्रेता के पास वहीं छोडकर चले जाने पर वह गेहूँ हटाकर गठरी में धूल बाँध देता है।[3]

संस्कृत लोककथा साहित्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था में स्त्रैण नारी अत्यधिक उत्पीडित रही है। उस समय के राजा की कामुकता को पुरुषार्थ भोडेपन को सरसता मूर्खता को विदग्धता माना जाता रहा है।[4] समाज में शक्ति एव सम्पत्ति ही प्रधान तत्व थे। भले ही "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" कहा जाता रहा हो परन्तु नारी सदैव ही पुरुषाश्रित रही है। शोषित एव कुण्ठित नारी ने जब भी स्वतन्त्रता की चाह की तो सघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं।[5] राज प्रासाद से लेकर जर्जर गृहों में निपटी झोपडी में निवास करने वाली नारी का शोषण हुआ है। पुरस्कार लालसा अर्थ प्रलोभन एव नायिका ने नारी को वासना के कीचड एव शोषण की दाढ में धकेला है। वह वेश्यावृत्ति करने को विवश हुई।[6] प्राचीन समय से चली आ रही दास प्रथा युग में पूर्ववत् विद्यमान है।

---

1. शुक सप्ततिशतकथा पृ 154 155
2. क स सा 14 28 53
3. शुक दुर्गशाख्यायिका पृ 15।
4. क स सा 6 8 13 1।
5. वही 7 / 11 / 12। 12 4 33 35 9 72
 नमस्याम कुत पुत्र नरी भार्या सखा तत
 दृष्ट प्रलिप्तानत सपेवैश्म गगना॥ वही 12 1 37
6. विशाल मागधन्येन भुक्त्वा तस्य वध पुर।
 भार्या भर्तृप निर्लज्ज स यदा विमद मना। क स सा 7 9 95 6 8 2/2 यु क सन्धे 17 26-31
 शुक पर्वशतकथा पृ 154 158 पञ्चतन्त्रकथा पृ 155 1 80

अन्य वस्तुओ की भाँति मनुष्य का भी क्रय-विक्रय होता रहा है। पशु की भाँति मनुष्य का भी मूल्य आका जाता रहा।[1] खरीदने वाला व्यक्ति उनके श्रम का अधिकारी है। राजाआ के यहाँ तो इस प्रकार के दास दासियों का एक वडा समूह ही रहा है। राजाओ के चरित्र के विषय म तो क्या कहा जाए, उन्हें नारीत्व नही, क्रीडा एव यौन तृप्ति के लिए नित-नव यौवना चाहिए। पुरुष ने नारी को चहार दीवारी म वद रखकर केवल भोग की वस्तु की भाँति व्यवहृत किया है। मनुष्य ने तो नारी का शोषण किया ही परन्तु स्वय नारी ने भी नारी का शोषण किया है। सघर्ष एव युद्ध के मुख्य कारणों में नारी भी एक कारण रही है। राजा एव सामत धर्म व मर्यादा को भुलाकर वासना के पक मे आकठ डूब चुके हैं।[2]

"प्रत्येक युग मे दो परस्पर विरोधी वर्ग रहे हैं और उनके पारस्परिक सघर्ष से ही उस युग के इतिहास का निर्माण हुआ है।"[3] सस्कृत लोककथा के समाज में दास-प्रथा प्रचलित रही है। स्वामी और भृत्य या दास के दो वर्ग बन चुके हैं। श्रम-विभाजन यह हुआ कि दास एव भृत्य काम करने के लिए, शोषण किये जाने के लिए और स्वामी शासन एव शोषण करने के लिए है।[4] समाज मे आर्थिक प्रगति हुई परन्तु वह मात्र ऊपरी वर्ग में और जिसका अर्थ निर्धन का और निर्धन होना है। इसी कारण समाज मे शिल्प-व्यवसाय बढे। इसी के साथ समाज में दूसरा श्रम विभाजन हुआ जिसमें कृषि से शिल्प बनाने को विवश हुए। कुम्भकार, लोहार, काष्ठकार रजक, नाई, स्वर्णकार, चर्मकार आदि जातियाँ इसी श्रम विभाग से अलग हुई।[5] एक अन्य महत् श्रम विभाजन उत्पादनकर्ता एव उपभोगकर्ता के मध्य तीसरे वणिक्-वर्ग का प्रादुर्भाव भी इसी समय देखने को मिलता है। इस श्रम विभाजन में प्रथम ऊपरी वर्ग का जीवन अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में खर्च नही होता था उसके लिए तो दास, कर्मकरों, कृषक आदि का दूसरा वर्ग था।

सामत-युग ही ने यह प्रथा चलाई कि भद्रजन का अपने हाथ से कर्म करना शोभा नही देता है। अत जीवन की आवश्यकताओं की चिन्ता से दूर कितने ही लोग साहित्य, कला, दर्शन के विकास में अपने समय और श्रम को चुकाने लगे। कुछ ऐसे लोग भी रहे जो श्रम से बचने के लिए राजन्य वर्ग की चाटुकारिता में लग, अपना धर्माडम्बर कर जनसामान्य को ठगने में प्रवृत्त हुए। स्वय भूखे या नारकीय यातनाओं को सहने वाले

1 तत्र तैरव सहित पथि प्राप्यैव ताजिकै।
नात्वापरस्मै मूल्येन दत्तोऽभूत्ताजिकाय स। —क स सा 7 3 36
2 वही 6 8 17 18 10 1 151 153 6 8 262 9 2 21 22
3 हिन्दी के एतिहासिक उपन्यासों में वर्ग सघर्ष, पृ 45
4 अनियुक्तोऽपि च ब्रूयाद्यदीच्छेत्स्वामिनो हितम्।
तद्विहायन्यथाबुद्धि मद्विज्ञप्तिमिमा शृणु॥ क स सा 10 4 111
"अकुर्वन्वचन भृत्यैरनुगम्य. पर प्रभु।" वही 7 8 28 9 3 112 180
बृ क श्लो 20 143 146 15 157, शुक एकोनपञ्चाशत्तमीकथा पृ 203
5 क स सा 7 3 8 9 1 124 5 2 174 17 4 84 17 3 22 9 2 56

बहुसंख्यक वर्ग द्वारा उत्पादित धन का उपभोग करते हुए ही श्रम मुक्त व्यक्तियों ने साहित्य कला और दर्शन के सर्जन की स्व कृतियों में प्रायः उन्हें भुलाया और सामंतों तथा प्रभुओं को प्रसन्न एवं अमर करने की ओर ही सबसे अधिक ध्यान दिया।[1] सम्भवतः इसी का परिणाम है कि संस्कृत लोककथा साहित्य में भी इस वर्ग को प्रसंगवश ही स्थान मिला है। सामंतवादी प्रवृत्तियों के विकास के साथ ही समाज में दरिद्रता का प्रभाव बढ़ता गया और प्रभु वर्ग चालाकी से उसे दान पुण्य से ढकने का प्रयास भी करता रहा।[2] यहाँ तक कि इस वर्ग ने यह दावा करने की धृष्टता भी की कि शोषित उत्पीड़ित वर्ग का शोषण मात्र उसी शोषित वर्ग के एकमात्र हित के लिए किया जाता है और यदि शोषित वर्ग इसे नहीं समझता और विद्रोही बनता है तो वह अपने हितकारी शोषक के प्रति अति निम्न श्रेणी की कृतघ्नता है।[3]

इस प्रकार कृषि पशुपालन एवं विभिन्न पारम्परिक व्यवसायों के अतिरिक्त धातु धन के साथ मुद्रा पूँजी और सूद के व्यवसाय का आरम्भ हुआ। उत्पादक व्यक्तियों के बीच वणिक् एवं बिचौलिये वर्ग के रूप में उभरा भूमि पर विशेष लोगों का स्वामित्व होने के साथ ही धर्म की श्यामवर्णी चादर भी फैली। इन सबके कारण "लोक" की आर्थिक स्थिति बदतर होती गई। इनसे जुड़े लोगों ने एक ऐसा जाल बिछा दिया कि व्यक्ति जिस तरफ भी बढ़ता उसे शोषण की जटिल प्रक्रिया से गुजरना पड़ता था। इस जाल पर धर्म ईश्वर भाग्य पूर्वजन्म आदि की तख्तियाँ टंगी थीं जिससे व्यक्ति उसका विरोध भी न कर सकता था। तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था के विषय में तो यही कहा जा सकता है कि सभी अवस्थाओं में वह पीड़ित एवं शोषित को दबाए रखने वाले एक यंत्र के अतिरिक्त कुछ न थी। उसने अपने धन एवं शक्ति से राजनैतिक शक्ति को वंश परम्परा का रूप दिया। वर्ण जाति वंश लिङ्ग के समान होने से समानता न रही बंधुत्व न रहा। समानता एवं बंधुत्व के आधार अमीर शासक शोषक एवं निर्धन शासित एवं शोषित बने। सत्य है "अगर पानी जमीन से आसमान में चला जाए और वहाँ से वापस हो न आये तो धरती की क्या हालत होगी ? अगर राजा प्रजा से राजस्व (महसूल) ले और प्रजा के लाभ में उसे प्रयुक्त न करे तो बड़ी से बड़ी उद्योगी प्रजा भी कंगाल बन जाए तो क्या आश्चर्य ?"[4] यही स्थिति तत्कालीन "लोक" की बन गई थी। जनसामान्य कंगाल क्षीणकाय होता जा रहा था और राजा सामंत वणिक् वर्ग सम्पन्न एवं विशालकाय बनता चला जा रहा था।

लोक-चेतना—

संस्कृत लोककथा साहित्य कालीन समाज में शोषक को उच्च एवं शोषित को निम्न कहा जा रहा था। उच्च एवं निम्न कहे जाने के आधार शक्ति सम्पत्ति एवं सम्मान थे।

1 मानव-समाज, पृ. 104
2 क. स. सा. 9.3.5 7
3 शुक, एकोनसप्ततितमकथा, पृ 203 ; बृ. क. श्लो. 20.143-146
4 लोक-जीवन, काका कालेलकर, पृ. 260

नैतिक एव सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से निम्न वर्ग ही उच्च वर्ग रहा है। नैतिकता एव सामाजिक मर्यादा का उल्लघन कर कोई व्यक्ति शक्ति प्राप्त कर ले, धनवान बन जाए या धर्माडम्बर कर प्रतिष्ठित बन जाए तो उसे उच्च कहना अनुचित ही होगा। उस समय सत्यनिष्ठ, ईमानदार, सहिष्णु एव सास्कृतिक मर्यादा के अनुरूप जीने वाले "लोक" को निम्न कहा जा रहा था। जिसे उच्च कहा जा रहा था वह निम्न, स्वार्थी एव सवेदनशून्य था। तत्कालीन समाज-व्यवस्था, सामाजिक-मर्यादा एव नीति का निर्धारण करने वाला वह था जिसे उच्च कहा जा रहा था और वह स्वार्थवश निम्न कहे जाने वालों की स्थिति का आर्थिक लाभ उठाने के तरीकों एव उन्हें कमजोर बनाने की युक्तियों को मध्य-रखकर मर्यादा एव नीति का निर्माण कर रहा था।[1] शोषित वर्ग पारम्परिक रुढियों में जकड चुका था। वह अपनी बुरी स्थिति का कारण जानकर उसके विरोध में कुछ करने की सोचता उससे पूर्व ही "यह तो तुम्हारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल हैं", "तुम्हारे भाग्य में यही लिखा था", "ईश्वर की देन है" आदि कहकर सत्य के ऊपर आवरण डालकर उसे कमजोर बनाया जा रहा था।[2] "अभिलखो से ज्ञात होता है प्रारम्भिक मध्ययुगीन भारत में कुछ विचारवान हिन्दुओं ने भारतीय धर्म क विलासमय पक्ष के विरुद्ध आदोलन किया था। परन्तु तत्कालीन राजा और सामत जो अनकों एसे मदिरों के महान् सरक्षक थे ने अदम्य उत्साह एव रुचि के साथ उस विद्रोह का दमन किया।"[3]

अनवरत श्रम मे सलग्न रहने वाले लाक' के पास इतना समय भी न था कि वह अपने भले-बुरे के कारण को जान सके उस विषय मे चिन्तन कर सके। तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था ने उसके चिन्तन को एक ही दिशा दी—"स्वामी की सेवा ही श्रेष्ठ धर्म है ओर उससे ही स्वर्ग की प्राप्ति मभव है।[4] इन सभी कारणों की जडे गहरी होने की स्थिति में भी "लोक का विद्रोह स्वर यत्र तत्र मुखर हुआ है और उसने "स्वामी' कहे जाने वाले शोपक से अपने अधिकारा की मॉग की है। उसके विद्रोह चतना के स्वर के कारणों में उच्च कहे जाने वाला की राज्य लिप्सा, अर्थ सग्रह, अवैध यौन सम्बन्ध, जातिवाद उच्च-निम्न की भावना एव श्रम-शाषण आदि प्रमुख रहे हैं। "लोक" को यह ज्ञान हो चुका था कि कोए आर चूहे अर्थात् भक्षक आर भक्ष्य (शोपक-शोपित) म मित्रता

---

1 अकुर्वन्वचन भृत्यैरनुगम्य पर प्रभु ॥ क स सा 7 8 28
तर्हि ब्रूहि द्रुत देवि यन्ि श्रेण भवत्प्रपो ।
प्राणैर्मे पुत्रभरैर्वा तज्जन्म सफ्ल मम ॥ वही 9.3 131
अनियुक्तोऽपि च ब्रूयाद्गीच्छेत्स्वामिना हितम् ।
तद्विहायान्यथाबुद्धि मद्विज्ञप्तिमिमा श्रृणु ॥ वही 10 4 111
वही 12 11 42 131
अस्माभि सेवकै कार्यमिद युष्मासु भर्तृषु ।
आलिङ्गा तु भर्तृणा भृत्यै परिभवो महान् ॥ —बृ क श्ला 20 145
2 क स सा 9 3.5 7
3 क स सा तथा भा स पृ 192
4 शुक एकोनपञ्चाशत्तमीकथा, पृ 203 श्लोक 235 क स सा 7 8 28 10 4 111
बृ क श्ला 20 145

असभव है।[1] चेतना की पराकाष्ठा तो यहाँ तक दखने को मिलती है—"जो कोई जैसा करे उसके साथ वैसा ही करो—"कोई उपकार करता है, तुम भी प्रत्युपकार करो, हिंसा करता है तो तुम प्रतिहिंसा करो। तुमने पख नोच डाले मैंने सिर रामहीन कर दिया।[2]

राजन्य एव सुसम्पन्न, प्रतिष्ठित वर्ग की दृष्टि मे नारी एक विलास की वस्तु मात्र है। हर कोई उसे भोगना चाहता है। परन्तु उसकी बुद्धिमता सचेतनता एव विद्रोह की प्रबल प्रतिमूर्ति उपकोशा है। पति के विदेश में होने पर विरह की दशा में उपकोशा को राजपुरोहित नगरपाल तथा युवराज का मत्री ये तीनों राजकीय जन परेशान करते है भूखे भडिये के समान अवसर ढूँढकर अकेले में उस पर टूट पडते हैं। वनिया हिरण्यगुप्त भी उसकी स्थिति देखकर आडे हाथों लेता है और पति के द्वारा रखे गये धन का कोई साक्षी न होने से—"भजस्व मा ततो भर्तृस्थापित ते ददामि तत्" कहकर उसका उपभोग करना चाहता है। परन्तु उपकोशा बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से उन तीनों राजकीय लोगों को क्रमश रात्रि के प्रथम तीन प्रहर में अपने घर बुलाकर युक्तिपूर्वक एक बडे सदूक में बद कर देती है और रात्रि के अन्तिम चतुर्थ प्रहर में आमत्रित वणिक् से पति के द्वारा रखे गये धन को देने के लिए कहती है वह मना करता है। स्नान के बहाने अलकतरे का लेप कर प्रातकाल होते ही दासियाँ उससे कहती है—"अब जाओ रात समाप्त हो गई।" वह जाने से आनाकानी करता है। दासियाँ गलहस्त देकर उसे घर से निकाल देती है। उपकोशा के राजा से शिकायत करने पर भी वह वणिक् कहता है—"महाराज । मेरे पास इसका कुछ भी धन नहीं है। तदनन्तर उपकोशा सदूक में बद राजकीय जनों को गृह देवता के रूप में साक्षी बनाकर उस वणिक् से पति के द्वारा रखे गये धन को प्राप्त करने में सफल होती है और राजा के आग्रह पर सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन करती है। इस प्रकार उपकोशा बुद्धिमत्ता से अपने सतीत्व की रक्षा तो करती ही है साथ ही पति के द्वारा रखे गये धन को भी प्राप्त करने में सफल होती है और राजकीय लोगों को सबक सिखाती है।[3]

स्वामी के समय पर वेतन न देने तथा माँगने पर सेवक को पैरों की ठोकर मिलती है तो उसके विरोध में राजा के सिंहासन द्वार पर अनशन करने के लिए बैठ जाता है और चेतावनी भी देता है—"यदि आप मेरा विचार न करेंगे तो अग्नि प्रवेश करूँगा।"[4] यहाँ

1 "उपकारिणि ... वा मैत्री पथ्यपथ्यकयोरिति —क स सा 10.5.74
2 कृते प्रतिकृत कुर्या हिंसिते प्रतिहिंसितम्।
त्वया लुञ्चिताः पक्षा मया लुञ्चित शिर ॥ शुक ... श्लोक 183
3 क स सा । 4.29-44
4 आर्थाधिकाम्यु ... दातारः प्रतिवत्सरम्।
पञ्चाशत् ... न दर्शित मे ॥ 4
... ।
... ॥ 5
... ।
... ॥ 6
—क स सा 6.4-6

राजा की निष्क्रियता एवं स्वामी की शोषण प्रवृत्ति स्पष्ट होती है कि सेवक को जीविका के अभाव में आत्म-दाह करने को मजबूर होना पड़ा है।

"बृहत्कथाश्लोकसंग्रह" की एक कथा में बच्चे नीम के पेड के नीचे खेल रहे हैं। एक बच्चा राजा बना है एवं दूसरे बच्चे मंत्री आदि बने हैं। तभी एक बालक जो प्रतिहार बना है, भूखा होने के कारण राजा के भाग के रखे हुए कुल्माषपिण्ड को भी छीनकर खा जाता है। यह घटना बच्चों की चेतना को उजागर करती है एवं यह भी सीख देती है कि भूख लगने पर छीनकर भी खा लेना चाहिए। मजे की बात तो यह है कि वह राजा के भाग का ही कुल्माष पिण्ड छीनकर क्यों खाता है ? इसलिए कि राजा सम्पन्न होता है और उसका कर्त्तव्य भी है कि उसके राज्य में कोई भूखा नहीं होना चाहिए, परन्तु यदि राजा ही निष्क्रिय हो जाए तो उससे छीनकर खा लेना चाहिए।[1] निर्धन का सीधा सम्बन्ध पेट से होता है और उसके लिए ही व्यक्ति श्रम करता है एवं विवश होकर चोरी करता है। शोषण के प्रतिकार का आधार आर्थिक ही रहा है राजा महासेन द्वारा बिना कारण अपमानित गुणशर्मा उज्जयिनी को छोड देता है। वह तीर्थों का भ्रमण कर एवं देह का त्याग करके ही सुख प्राप्त करना चाहता है। अग्निदत्त नामक ब्राह्मण से उसकी भेंट होती है। वह देह-त्याग को आत्मघात बताकर उसे समझाता है और गुणशर्मा से अपनी सुन्दर कन्या से विवाह करने को कहता है। "मैंने तुम्हारी बात मान ली। सुन्दरी जैसी पत्नी को कौन छोड सकता है किन्तु असफल अवस्था में मैं तुम्हारी कन्या से विवाह न करूँगा। तब तक सयन स्थिति में रहकर किसी देवता की आराधना करता हूँ जिससे उस कृतघ्न राजा का बदला ले सकूँ।[2] यहाँ पर उसके हृदय में अपमान की ज्वाला धधक रही है। वह सुन्दरी कन्या के प्राप्त होने पर भी पहले कृतघ्न राजा से अपने अपमान का बदला लेना चाहता है।

"सिंहासनद्वात्रिंशिका" में एक चंद्रभान नामक ग्वाल-बाल अपने राजा को ललकारता है—उल्लू का पट्ठा है राजा। गधा है। उसको न्याय करना नहीं आता है। महामूर्ख है। प्रजा के साथ बड़ा अन्याय करता है, उसे पकडकर हमारे दरबार में हाजिर करो।" इससे राजा का अकुशल, निष्क्रिय, अन्यायी एवं अत्याचारी होना सिद्ध होता है। एक ग्वाल बाल राजा के विषय में यह सोचता है। भले ही उसे टीले का प्रभाव कहा जाए या उसके साथ कोई अन्य कारण ही क्यों न जोड दिया जाए। परन्तु सत्य का उद्घाटन तो हो ही जाता है।[3] "सिंहासनद्वात्रिंशिका" की प्रत्येक कथा पुत्तलिका के माध्यम से जहाँ एक ओर तत्कालीन सामंतवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था के वीभत्स रूप का उद्घाटन करती हैं वहीं उनमें सडी गली व्यवस्था के प्रति विद्रोह का चेतन स्वर भी मुखरित हुआ है।

गलती कोई करता है और सजा सामान्यजन को भोगनी पड़ती है। दमनक राजा के लिए कहता है—"विषधर साँपों का क्रोध बेचारे निर्विष डेडहों पर ही निकलता है।"[4]

---

1 बृ. क. श्लो. 18 151 157

2 क स. सा. 8 6.225 232

3 सिंहा. पृ 7

4 "डुण्डुभेषु प्रहरथ क्रुधा यूयमहीन्प्रति।" —क स. सा. 2.6 74

एक विदूषक समुद्र में फँसे वणिक् के जहाज को छुड़ाकर शर्त में उसकी कन्या एवं आधा धन जीतता है, परन्तु वह वणिक् धन लोभ में चालाकी पूर्वक विदूषक को समुद्र में डुबोने का प्रयास करता है। विदूषक समुद्र तट पर पहुँचकर उस धूर्त वणिक् को पकड़ता है। उसके सारे धन का अपहरण कर, उसकी बेटी को भी प्राप्त करता है। विदूषक मानता है कि धन ही कंजूसों का दूसरा प्राण होता है। अतः धन रूप उसके प्राणों का हरण करता है।[1] शक्तिशाली, सम्पन्न वर्ग के प्रति विद्रोह स्वर की पराकाष्ठा प्रतीक रूप में निर्बल दरिद्र असहाय एवं छोटे व्यक्ति के अपने स्वामी का संहार कर सम्पूर्ण "लोक" को उसके अत्याचार एवं शोषण से मुक्ति दिलाता है। सिंह और शशक की कथा को इसी प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है। एक कृशकाय शशक अपने बुद्धि बल से शक्तिशाली स्वामी सिंह को मृत्यु का ग्रास बनाकर सभी वन्य प्राणियों को शोषण एवं भय से मुक्त जीवन प्रदान करता है। यह चेतना विद्रोह की पराकाष्ठा है।[2] यह तो सत्य ही है कि प्रजा-पीड़न रूपी उष्णता से जो अग्नि उत्पन्न होती है वह राजा कुल सम्पत्ति और प्राणों को बिना भस्म किये शांत नहीं होती है।[3] अत्याचार के अधिक बढ़ते चले जाने पर विद्रोह स्वर ऐसा प्रस्फुटित होता है कि शोषक वर्ग नष्ट हो जाता है या वह उचित राह पर आ जाता है।



चतुर्थ अध्याय

राजनैतिक-जीवन

—शासन व्यवस्था

—राजनैतिक शोषण

—साम, दान, भेद एव दण्ड

—वशानुगत परम्परा

—युद्ध एव सेना

—लोक जीवन मे राजनैतिक चेतना

—राजनीति एव लोक परस्परता

———

1 शासन-व्यवस्था

लोक जीवन में राजा, सामन्त एवं सम्पूर्ण शासन तंत्र की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत करती कथाएँ प्रचलित रही हैं जो राजा, सामन्त, मंत्री, दास दासी, प्रजा आदि के अधिकार एवं कर्तव्यों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान कराती हैं। भारतीय धर्म शास्त्रीय ग्रंथों में भी इन सबके अधिकार एवं कर्तव्यों के विषय में विस्तृत वर्णन हुआ है। परन्तु यह सब ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के द्वारा निर्धारित सैद्धान्तिक पक्ष मात्र है। विभिन्न नीतियों एवं मर्यादाओं के निर्धारण में भाग न लेने वाला "लोक" उनका जीवन व्यवहार में पालन करता रहा है। सम्पूर्ण लोककथाओं की विषय वस्तु प्रायः राजा, सामन्त व राजकुमार का चरित या अन्य कोई राजनैतिक पक्ष ही है। किसी भी राज्य के राजा का क्या करना चाहिए, राज्य किसके लिए है, राजा किसके लिए है ? इन सब बातों के विषय में प्राचीन धर्म ग्रन्थों में एवं कथा साहित्य में विस्तृत व्याख्या मिलती है। परन्तु यहाँ पर राजनैतिक जीवन का विस्तृत विवेचन करने की अपेक्षा लोक जीवन में राजा का क्या स्थान है, राजा एवं लोक में अन्तर्सम्बन्ध क्या है, राजा लोक के लिए है या लोक राजा के लिए आदि बिन्दुओं को दृष्टि में विचार करना ही अधिक प्रासंगिक एवं समाधान होगा। कथासाहित्य में राजनैतिक पक्ष को लेकर कई अध्ययन हो चुके हैं। अतः इस अध्याय में यह स्पष्ट करना ध्येय है कि "लोक" के साथ राजा, सामन्त या सम्पूर्ण शासन तंत्र के क्या सम्बन्ध रहे हैं। राजा, राज्य प्रजा के लिए है या प्रजा राजा एवं राज्य के लिए है अथवा दोनों एक दूसरे के लिए हैं।

राजा—

प्रजा की रक्षा एवं पालन राजा का मुख्य धर्म कहा गया है। "वेद में क्षत्रियों के लिए राजन्य शब्द का प्रयोग मिलता है। क्षत्रियों का वर्ग एक प्रकार से राजाओं या शासकों का समूह (राजन्य) होता है। पराक्रम और रक्षा के द्वारा प्रत्येक क्षत्रिय राजधर्म का ही पालन करता है और राजन्य पद का अधिकारी बन जाता है। अतः व्यापक और सामान्य अर्थ में क्षत्रिय एवं राजा एक दूसरे के पर्याय के समान हैं। परन्तु विशेष अर्थ में दोनों में कुछ भेद है। राजा क्षत्रियों के सम्पूर्ण वर्ग का प्रतिनिधि होता है। सामान्य क्षत्रियों की अपेक्षा राजा के विशिष्ट गुण एवं धर्म होते हैं। शासन, न्याय, दण्ड, युद्ध एवं प्रजापालन आदि राजा के मुख्य धर्म हैं।"[1]

युवराज या राजा को चाहिए कि वह संयम रूपी इन्द्रिय रूपी घोड़ों पर चढ़कर तथा काम, क्रोध, लोभ आदि भीतरी शत्रुओं को जीतकर अन्य बाह्य शत्रुओं को जीतने

1 [illegible]

के पहले अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त करे।[1] राजा को आत्मविजयी, उचित दण्ड देने वाला और राजनीति आदि में विशेषज्ञ होना चाहिए। एसा होने पर प्रजा के प्रेम से वह राजा लक्ष्मी का निवास स्थान बन जाता है।[2] आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके वह जनपद, देश आदि की उन्नति करने वाले मन्त्रियों तथा अथर्ववेद को जानने वाले चतुर एव तपस्वी पुरोहित की नियुक्ति करे। तदनन्तर राजा को भय में, क्रोध में, लोभ में और धर्म में उन लोगो की कपट परीक्षा करके तथा उनके हृदयों को भली भाँति जानकर उन्हें योग्य कार्यों म नियुक्त करना चाहिए।[3] उसे यह परीक्षा भी करनी चाहिए कि उनकी बातें आन्तरिक स्नेह से प्रेरित हैं या स्वार्थ अथवा द्वेष से। पारस्परिक वार्तालाप से यह परीक्षा सम्भव है। सत्य बात पर प्रसन्न होना और असत्य बात पर दण्ड देना चाहिए। उनके चरित्रा का पता भी अलग अलग गुप्तचरों द्वारा लगाना चाहिए।

इस प्रकार आँखें खोले रहकर सर्तकता से राज्य के कार्यों को देखते हुए विरोधियों को उखाडकर कोष और सेना का बल सग्रह करके अपनी जड सुदृढ कर लेनी चाहिए।[4] आलस्य और प्रमाद रहित होकर जो राजा अपने और पराये देश की चिन्ता करता है, वह सदा विजयी रहता है और किसी से जीता नही जा सकता है। मूर्ख, कामान्ध और लोभी राजा झूठे और अनुचित मार्ग प्रदर्शित करने वाले धूर्तों और दलालों द्वारा गड्ढे में गिरा कर नष्ट कर दिये जाते हैं। स्वार्थियों मे घिरे हुए मूर्ख राजा के पास बुद्धिमान और श्रेष्ठ व्यक्ति उसी प्रकार नही जा सकते हैं जिस प्रकार निपुण किसान द्वारा लगाई गई बाड को पार कर धान के खेत तक नही पहुँचा जा सकता है।[5] एक कुशल राजा के लिए विभिन्न बातों का निर्देश किया गया है। राजा के लिए यह भी कहा गया है कि दुःख भोगती प्रजा की उपेक्षा करना राजा के लिए अनुचित है तथा रक्षा का कार्य करता हुआ भी राजा प्रजा के पाप के षष्ठाश का भागी होता है, किन्तु पृथ्वी की रक्षा से विरक्त राजा तो प्रजा के पूरे पाप का भागी होता है। अतएव पाप के विनाश, पुण्य के सचय और सुख के अनुभव की इच्छा रखने वाले राजा के लिए उचित है कि वह अपनी प्रजा को कृतार्थ करे।[6]

लोक जीवन में राजा को लेकर कई विश्वास प्रचलित रहे हैं। राजा आस्था एव विश्वास का केन्द्र है। "बिना राजा के राज्य की परिकल्पना नही की जा सकती है। एक क्षण के लिए भी राजा विहीन राष्ट्र नही रह सकता है।"[7] कोई भी प्रजा राजा से विहीन नही होती है। देवताओं ने राजा शब्द की सृष्टि इस भय से की है कि जैसे बडी मछलियाँ

---

1 आरुह्य नृपति पूर्वमिन्द्रियाश्वान्वशीकृतान्।
कामक्रोधादिकाञ्जित्वा रिपूनाभ्यन्तराश्च तान्॥ 191
जयेदात्मानमेवादौ विजयायान्यविद्विषाम्।
अजितात्मा हि विवशी वशीकुर्यात्कथ परम्॥ 192 —क स सा 6 8 191 192

2 वही 6 8 204 205

3 वही 6 8 193 194

4 क स सा 6 8 195 196

5 वही 6 8 201 203

6 बृ क श्लो 2 2 6

7 क स सा एक सास्कृ अध्ययन पृ 101

छोटी मछलियों को खा जाती हैं उसी तरह राजा के न रहने पर बलवान लोग दुर्बलों का जीवन दुर्वह कर देते हैं।[1] अत राजा ही राज्य का मूलमन्त्र है और उसके लिए कहा है कि प्रजा को सुखी सम्पन्न बनाना ही उसका कर्तव्य है। राजा को नीति शास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए। उसे बिना विचारे कोई काम नही करना चाहिए। किसी भी बात के सच झूठ होने का गुप्तचरों के द्वारा लोक जीवन से पता लगाना चाहिए कि प्रजा में उस बात की क्या चर्चा है।[2] राजा को अपने हित के लिए वृद्धों के विचार एव उनके अनुभव ध्यान से सुनने चाहिए।[3] और उसे दर्प नही करना चाहिए। दर्प से ही राज्यश्री का नाश हो जाता है।[4]

सस्कृत लोककथा साहित्य के अधिकाश राजा "लोक" की आस्था एव विश्वास के अनुरूप न रहे। वे तो विलासिता, अकर्मण्यता एव चरित्र हीनता के केन्द्र बन चुके हैं। "लोक" तत्कालीन राजाओं की विलासिता अकर्मण्यता, निरकुशता, स्वच्छदता, स्वार्थपरता, लोलुपता आदि से अनभिज्ञ न होते हुए भी राजा को सर्वोपरि क्यों मान रहा था। उसमें राजा के प्रति विद्रोह की भावना क्यों न जाग्रत हुई। इसके मूल कारणों में प्रजा में राजा के दण्ड का आतक रहा हो या यह लोक विश्वास रहा हो जिसे एक राजनैतिक स्वार्थ भी कहा जा सकता है कि राजा प्रभु (देव) के समान है उसके विरुद्ध एक शब्द भी बोलना ईश्वर के विरोध में जाना है या लोक का अधिकाश समय जीविका कमाने में ही व्यतीत हो जाता रहा होगा। लोककथा साहित्य में लोक विश्वास वाला कारण सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है। अपने स्वामी राजा के लिए सामान्यजन सवक्वत् स्वय अपनी या पुत्र या पत्नी की भी बलि देने को तैयार हो जाते हैं। "लोक" राजा की विलासी प्रवृत्ति को सहज रूप में देखता था। "लोक" कई राजाओं के विलासितापूर्ण जीवन को देखने के बाद यह मानने लगा कि विलासिता राजाओं की जीवन चर्या का अग होती है। राजा के नवीन सुन्दरी कन्या के प्राप्त करने पर "लोक जीवन" में हर्षोल्लास पूर्वक उत्सव मनाया जाता है। स्त्री पुरुष नवीन वस्त्र धारण कर नृत्य करते हैं, गीत गाते हैं और राजा के आत्माभिमान राज्य सीमा विस्तार एव नवकन्या को प्राप्त करने के लिए किसी अन्य राजा के साथ युद्ध होने पर समर्पित भाव से लडते हैं। कथा साहित्य की प्रत्येक कथा की आत्मा कहती है कि राजा प्रजा के लिए नहीं प्रजा राजा की रक्षा के लिए, उसके आत्म सम्मान को बचाने के लिए एव उसके जीवन की सुकुमारता को बनाये रखने के लिए तथा विलासिता के साधन समुपलब्ध कराने के लिए है। यह भी सम्भव है कि ये सारी कथाएँ लोक चेतना की अभिव्यक्ति अथवा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में राजा के अनैतिक कार्यों के प्रति "लोक" का दबा हुआ विद्रोह का स्वर ही हो।

---

1 नम्यत्यराजक [illegible] कोऽपि प्रजास्वते।
राजशब्द मुहे मृगा [illegible] क स सा 12.35/3
2 क स सा 12.9.172.175
3 वृद्धानां हि राजा [illegible] मत।
[illegible] क स 16.51?
4 वही 19.201

कुछ ऐसे लोकप्रिय राजाओं के उल्लेख भी हुए हैं जो अपने सुख की परवाह किये बिना अपनी प्रजा के सुख दुख का ख्याल रखते हैं। ऐसे राजाओं में एक विक्रमादित्य है। "सिंहासनद्वात्रिंशिका' का राजा विक्रमादित्य प्रजा के लिए है। प्राय वेश बदलकर वह प्रजा के बीच जा पहुँचता था। गाँव गाँव घूमता था। लोगों के दुख दूर करता था। प्रजा उसका मान करती थी। राज्य के अधिकारी उससे डरते थे।[1] राजा विक्रमादित्य अत्यन्त न्याय प्रिय एव प्रजा पालक था। आज भी लोक जीवन में उसका न्याय "नीर क्षीर विवक" अर्थात् दूध का दूध और पानी का पानी वाला कहा जाता है। कथा साहित्य में विक्रमादित्य जैसे राजाओं के उल्लेख बहुत कम हुए है।

"कथासरित्सागर" में नागराज एव गरुड की कथा सिद्ध करती है कि ऐसे राजा भी रहे हैं जो प्रजा के जीवन की रक्षा करने में असमर्थ होने पर प्रजा के जीवन को दाव पर लगाकर शत्रु राजा से समझौता कर लेता है और राज्य सत्ता के लालच से स्वय को मुक्त नही कर पाता है।[2]

मन्त्री-परिषद्—

सस्कृत लोककथा साहित्य कालीन शासन व्यवस्था मात्र उन लोगों के लिए है जो शासन तन्त्र म विभिन्न पदो पर आसीन हैं। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था राजा के इर्द गिर्द घूमती है। राजा के अतिरिक्त मन्त्रियों की निश्चित सख्या का कोई उल्लेख नही हुआ है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र य राज्य के सप्ताङ्ग बताय गय हैं। राष्ट्र की सुख समृद्धि हो, यही राजा का पुनीत कर्त्तव्य है। मन्त्री परिषद् के सहयोग से उसे स्वराष्ट्र की व्यवस्था करनी चाहिए।[3] प्रशासन का कार्य करने वाला में प्रतीहार, नर्म सचिव, विनोद मन्त्री अमात्य, पुरोहित, सेनापति, दूत, द्वारपाल, लखहार, अन्तःपुरचेटी, द्वारपालिका, नगराध्यक्ष, नगरपुररक्षी, रक्षक, सिपाही आदि रहे हैं। मन्त्री पुरोहित एव युवराज ही राष्ट्राधिकारी हैं। मन्त्रियों मे राजा के मनोविनोद के लिए नमसचिव नियुक्त है।[4] जिसे विनोद मन्त्री भी कहा गया है।[5] राजा के मनोविनोद के लिए प्रसगानुकूल कथा कहने वाले भी हैं, जिन्हें कथक कहा गया है।[6] दूतों का प्रधान चाराधिकारी कहा जाता है।[7] राजा की सुरक्षा के लिए अगरक्षक[8] एव परिचर्या के लिए राजसेवक नियुक्त हैं।[9] इनके अतिरिक्त द्वारपाल कञ्चुकी आदि भी रहे हैं तथा अन्तःपुर में कुछ स्त्रियाँ द्वारपालिका[10] चेटी[11] दासी[12] आदि नियुक्त की गई हैं।

---

1 सि.द्वा. पृ 26 27
2 क स सा. 4 2 205 206
3 क स सा. एक सास्कृ अध्ययन पृ 109
4 क स सा. 5.5 38
5 वही 6 8 116
6 वही 1 1 2
7 वही 12 36 79
8 वही 7 3 16
9 वही 16 2 124
10 वही 7 1 3
11 वही 14 2 131
12 वही 13 1 53

कर्मचारियों में नगराध्यक्ष प्रमुख है ।[1] जिसे दण्डाधिप[2], नगर रक्षक[3], नगर शासक[4], पुररक्षी[5] आदि कहा गया है । स्त्रियाँ भी पुररक्षिका के रूप में नियुक्त की जाती रही हैं ।[6] इनके अधीनस्थ राजपुरुष[7] अर्थात् सिपाही भी रहे हैं । इतर नगरपाल[8] सारथी क्षत्ता[9] आदि सेवक भी हैं । इस प्रकार राज्य की शासन व्यवस्था में विभिन्न पदाधिकारियों के उल्लेख हुए हैं ।

मन्त्री के लिए कहा गया है कि "बिना सूर्य के आकाश क्या है बिना जल के सरोवर क्या है ? बिना मन्त्री के राज्य क्या है और बिना सत्य के वचन क्या है ? अर्थात् बिना मन्त्री के राज्य अधूरा है या नहीं है ।[10] मन्त्री के कार्यों में मुख्य कार्य राजा को परामर्श देना रहा है । एक अकेला राजा या अन्य कोई व्यक्ति किसी विषय पर एक दृष्टि से ही विचार कर सकता है । राजा को विभिन्न कार्यों में निर्णय लेने से पूर्व तीक्ष्णबुद्धि वाले मन्त्रियों से परामर्श कर लेना चाहिए। लोकवार्ता में भी यही मान्यता रही है कि राजा का धर्म तो यही है कि वह प्रजा के धन की रक्षा करे। धन रक्षण का मूल है परामर्श और परामर्श मन्त्रियों से ही मिलता है ।[11] मन्त्री का कर्तव्य भी यही है कि राजकार्य की समुचित चिन्ता करे। राजा की हाँ में हाँ मिलाना तो केवल नौकरी मात्र है ।[12] मन्त्री वह है जो राजा को सही परामर्श प्रदान करे। सच्चे मन्त्री की पहचान यही है कि वह राजा की हाँ में हाँ न मिलाए बल्कि उसकी गलत बात का विरोध करे। यदि राजा अनीति की राह पर चल रहा है तो मन्त्री का कर्तव्य है कि वह उसे इससे अवगत कराये। अधिकांश राजाओं की सफलता मन्त्रियों के अधीन होती है उनके लिए मन्त्रियों की बुद्धि ही कार्य साधन होती है ।[13]

मन्त्रिगण राजा के साथ राजनैतिक विषयों पर लम्बे समय तक चर्चा करते । उनकी दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म होती है और वे फूँक फूँक कर पाँव रखते हैं । समस्या को

1 [illegible]
2 वही । [illegible]
3 वही [illegible]
4 वही । [illegible]
5 वही [illegible]
6 वही [illegible]
7 वही [illegible]
8 वही [illegible]
9 वही [illegible]
10 [illegible] बिना सर ।
[illegible] बिना राज्य [illegible] । वही [illegible]
11 [illegible]
[illegible]
[illegible] वही [illegible]
12 [illegible]
[illegible] वही [illegible]
13 वही [illegible]

समाधान ढूँढे बिना वे आगे नहीं बढते हैं। अत शासन-व्यवस्था में अमात्य का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है और वे ही राजाओं की अपेक्षा अधिक भूमिका निभाते हैं। मन्त्री बुद्धि कौशल मे सम्पन्न नीतिज्ञ प्रत्युत्पन्नमति एव चतुर होते हैं। यौगन्धरायण अपने बुद्धि कौशल एव सूक्ष्म तीक्ष्ण दृष्टि से उदयन को प्रद्योत के कारागृह से मुक्त कराता है, उसकी उन्नति के लिए ही वासवदत्ता को छिपाकर तथा उसके निवास स्थान में आग लगाकर "वासवदत्ता जल गई" की घोषणा करवा देता है। आवन्तिकावेश में वासवदत्ता को पद्मावती के पास ही न्यास रूप मे रखता है और वह स्वय सन्यासी के वेश में रहकर सारी घटनाओं पर दृष्टि रखता है। उदयन का पद्मावती से विवाह होने एव आरुणि से पुन राज्य के प्राप्त होने पर सत्य का उद्घाटन करता है।[1]

राजा तो रात-दिन सुरा सुन्दरी एव आखेट तथा द्यूत-क्रीडा में व्यस्त रहते हैं। राज्य की देखभाल एव राजा के समस्त कार्यों का सम्पादन यौगन्धरायण जैसे मन्त्री ही करते हैं। परन्तु यह बात भी स्वीकार करनी होगी कि यौगन्धरायण जैसे मन्त्री बहुत कम होते हैं। राजाओं के राज्य का कार्यभार मन्त्रियों पर डाल देने के उल्लेख मिलते हैं।[2] सिद्ध है कि सम्पूर्ण प्रशासन-तन्त्र लोक, प्रजा के लिए नहीं है। समस्त कार्य राजा एव राज्य की सुरक्षा को दृष्टि में रखकर किये जाते हैं। मन्त्री यौगन्धरायण की सम्पूर्ण योजना भी राजा एव राज्य सत्ता के इर्द गिर्द घूमती है। प्रशासन-तन्त्र के लिए राज्य की सुरक्षा प्रथम है और राज्य से तात्पर्य राजा ही है। तथा राज्य के कल्याण का अभिप्राय है राजा का कल्याण।

मन्त्री स्वामी के कल्याण के लिए तत्पर रहते हैं। मन्त्रियों को इस बात का ज्ञान है कि सारे कार्य पराक्रम से सिद्ध नहीं होते हैं। बुद्धि से भी कार्य की सिद्धि सम्भव है।[3] एक मन्त्री अपने स्वामी से कहता है—"देव क्या पराक्रम से ही सिद्धि मिलती है, बुद्धि से नहीं ? आप चिन्ता न करें। मैं अपनी बुद्धि से ही आपका काम पूरा कर दूँगा।"[4] एक राजा के दस मन्त्री हैं। वे सभी युवा पराक्रमी एव बुद्धिमान हैं तथा अपने स्वामी का हित चाहने वाले हैं।[5] सुदृढ स्पष्टवादी और सतर्क यौगन्धरायण जैसे मन्त्री बहुत ही कम हैं जो राजा के मुँह पर उसके अतिव्यसनी होने की बात कह सकने का साहस कर सकते हैं। यौगन्धरायण उदयन को कहता है—महाराज ससार में तुम्हारे अतिव्यसनी होने की प्रसिद्धि लता के समान फैली है, उसी लता के ये कडुए और कसैले फल हैं। प्रद्योत तुम्हें प्रेमी-हृदय समझकर अपनी सुन्दर कन्या के प्रलोभन में फँसाकर और बदी बनाकर जामाता बनाना चाहता है। इसलिए महाराज। अब तुम हाथियों के शिकार का यह बुरा व्यसन छोड दो। जिस प्रकार गड्ढों में हाथी फँसाये जाते हैं, उसी प्रकार व्यसनी राजा शत्रुओं

1 क स सा, लावाणकलम्बक 3
2 वही 9 2 264 12 14 70
3 वही 2 4 36 37
4 वही 12 2 52
5 वही 12 2 18 20

द्वारा व्यसनों के गड्ढों में फँसाये जाते हैं।[1] यौगन्धरायण की इस उक्ति से सिद्ध होता है कि प्रजा के कल्याण के लिए नहीं अपितु स्वय के अति व्यसनी होने या अन्य स्वार्थ के कारण ही राजा एक दूसरे के शत्रु हुए।

तत्कालीन शासन व्यवस्था या राजनीति में होने वाली विभिन्न क्रियाएँ राजा को दृष्टि में रखकर ही हुई हैं। राजनीति के राजा के लिए अर्थात् एक व्यक्ति या छोटे से समूह विशेष के लिए होने से इसे राजनीति कहना उचित न होगा अपितु इसे राजा तन्त्र या मन तन्त्र कहना चाहिए। जहाँ नीति होती है वहाँ पर सर्व कल्याण होता है लेकिन तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था से सामान्यजन को कोई लाभ नहीं हो रहा था।

यद्यपि अनेकानेक मन्त्रियों ने अपनी प्रतिभा से असम्भव को भी सम्भव कर दिखाया है। परन्तु वह लोक हित में नहीं अपितु स्वामी के हित में किया है। कथा साहित्य में स्वार्थी, चाटुकार एव अकर्मण्य मन्त्रियों के उल्लेख हुए हैं। उनके दुर्गुणों के कारण राजा एव राज्य को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी है। मन्त्री राजा को उल्टा सीधा समझाकर अपना उल्लू सीधा करने लगे थे।[2] स्वार्थवश मन्त्री अपने ही स्वामी को शत्रु राजा से दण्ड तक दिलवा देते थे।[3] मन्त्रियों पर अत्यधिक विश्वास करने वाले एव अपनी बुद्धि से विचार न करने वाले राजा मन्त्रियों के दुष्कृत्यों को न जान पाते थे।[4] मन्त्रियों पर अत्यधिक विश्वास के कारण राजा योग्य सेवक को नहीं पहचान पाते थे। मन्त्रिगण अपनी कुटिल बुद्धि से राजा को वश में करके उसे चूसा करते थे। राजा यदि किसी योग्य सेवक को कुछ देना भी चाहता तो मन्त्रिगण उसे एक तिनका भी नहीं देने देते और अपने निजी चापलूस नौकरों को वे स्वय भी देते और राजा से भी दिलाते हैं।[5] मायावटु नामक राजा की रानी मजुमती एक प्रतीहार पर अनुरक्त है और वह प्रतीहार रानी के कहने पर राजा को मार डालने की बात करता है।[6]

तत्कालीन राजनीति में उत्कोच का लेन देन भी आरम्भ हो चुका था। विभिन्न पदाधिकारी किसी भी कार्य को करने के लिए घूस लेते हैं। विभिन्न द्वारों पर स्थित द्वारपाल भी घूस लेने से नहीं चूकते हैं। सामान्य व्यक्ति राजा से आसानी से नहीं मिल सकता था। वह द्वार पर स्थित द्वारपालों को घूस देकर ही राजा तक पहुँच पाने में सफल हो सकता था।[7] "कथासरित्सागर के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन पुरोहित अपनी मर्यादा छोड़ चुके थे। समय के साथ साथ जिस प्रकार राजाओं मन्त्रियों में कर्तव्य हीनता आई उसी प्रकार पुरोहित जो राष्ट्र्पथ के नेता थे अपने आचरण से गिर

1 क स सा 2.3 22 25
2 वही 6 8.204 208
3 वही 3 1 12
4 वही 12.3 10-16
5 वही, 6 8.206-208
6 वही, 12 4.33 38
7 "[illegible] ।   —वही 19.5 192

चुके थे। कामी, लोभी पुरोहितों की सख्या ही अधिक देखने को मिलती है।"[1] कथासरित्सागर में शिव और माधव दो वचक लोभी राजपुरोहित को अच्छी तरह से ठगते हैं। अर्थ के लोभ में वह राजपुरोहित अपनी कन्या उन्हें दे देता है। वह घूसखोर भी है। माधव को घूस प्राप्ति की आशा से ही नौकरी दिलाना स्वीकार करता है।[2] इसी प्रकार एक अन्य पुरोहित नगराधिकारी एव मन्त्री के साथ पतिवियुक्ता उपकोशा का पीछा करता है और वह पतिव्रता बडी चतुराई से इन लोलुपों से अपनी रक्षा कर पाने में सफल होती है।[3]

2 राजनैतिक शोषण

समूचा शासन तन्त्र ही पथ भ्रष्ट हो चुका था। प्रजा का पालन एव प्रजा की रक्षा करने वाला शासक वर्ग ही उसका भक्षक बन चुका था। राजनतिक दृष्टि से तत्कालीन समाज को शासक एव शासित दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। शासक वर्ग में राजा एव उसके मन्त्रि मण्डल के विभिन्न पदाधिकार एव शासित-वर्ग में प्रजा के अतिरिक्त दास दासी भृत्यवर्ग, सैनिक आदि हैं। प्रजा में ऐश्वयवान्, शक्तिशाली एव प्रतिष्ठित लोग राजा से मिले हुए थे अत उन्हें कोई समस्या न थी। "लोक" शोषण के आर्थिक एव राजनैतिक पाटों के बीच पिस रहा था। आश्चर्य का विषय तो यह है कि फिर भी "लोक" पारम्परिक सम्कृति की जीवन्त शैली में जी रहा था। उसकी आस्था, उसके विश्वास उसकी मान्यताएँ बदले नहीं थे। राजा के विषय में यह जो कहा जा रहा था कि जैसे बडी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती है, उसी प्रकार राजा के न रहने पर बलवान लोग दुर्बलों का जीवन दुर्वह कर देते हैं।[4] राजा स्वय ही वह सबसे बडी मछली था जिसके पास बल था एश्वर्य था। अत भयवश समाज में उसकी प्रतिष्ठा भी थी और वह छोटी मछलियों को शनै शनै खा रहा था। सारी छोटी मछलियाँ उसकी आज्ञा का पालन कर रही थीं। यद्यपि इस बडी मछली के छोटी मछलियो के प्रति कर्त्तव्य एव दायित्व थे। परन्तु मत्त-मस्त वह सब कुछ भूलकर विलासिता के पक में डूबती जा रही थी। वह अपने लोभ क्रोध पर काबू नहीं कर पा रही थी।

3 साम, दान, भेद एव दण्ड

राजनीति मे अपने कार्य की सिद्धि के लिए छल कपट एव विभिन्न अटकलों का सहारा लिया जाता है। राजनीति एव राजनेता को अविश्वास एव सन्देह की दृष्टि से देखा

1 क स सा एक सास्कृ अध्ययन, पृ 107
2 क स सा 5 1 116-121
3 वही 1 4 29 30
4 वही 12 35 63

जाता है। राजनीति में सत्ता प्राप्त करना ही मुख्य उद्देश्य रहा है। सत्ता पर अधिकार पाने एवं प्रजा को विश्वास में लेने के लिए विभिन्न नाटक किये जाते हैं, षडयन्त्र रचे जाते हैं। "प्राचीन राजनीतिशास्त्र के अनुसार साम, दान, भेद और दण्ड चार उपायों के आधार पर राजा को अपने राज्य का विस्तार एवं प्रजा का प्रभुत्व स्थापित करना चाहिए।"[1] कथा साहित्य में इन उपायों का विस्तृत वर्णन हुआ है। कथासरित्सागर में राजा मृगाकदत्त कर्मसेन की पुत्री को प्राप्त करने की अभिलाषा में घेरा डाले पडा है। परन्तु उसका मन्त्री मातगराज समझाता है कि विजिगीषु राजा को कार्याकार्य में भेद जानना चाहिए। जो कार्य उपाय से भी असाध्य हो उसे छोड देना चाहिए। साम दान, भेद और दण्ड ये चार प्रकार के उपाय हैं। वह स्पष्ट करते हुए कहता है कि लोभ रहित कर्मसेन दान से वश में आने वाला नहीं है। इससे असन्तुष्ट भी दिखाई नहीं देता है अत भेद का प्रयोग भी असम्भव है। दुर्गस्थ अधिक बलशाली होने से दण्ड का प्रयोग भी सम्भव नहीं, अत साम प्रयोग ही उचित है।[2]

शत्रु के बलवान एवं युद्ध में अजेय होने पर उससे सधि करके अवसर मिलने पर उसे मारना चाहिए।[3] उग्र आत्माभिमानी, निर्लोभ, अनुरक्त अनुचरों वाले और महाबलवान् राजा को साम दान भेद, दण्ड आदि नीतियों से वश में करना असम्भव होता है। अत ऐसे राजा को शान्ति से ही वश में किया जा सकता है।[4] इस प्रकार प्रभाव उत्साह और मन्त्र इन तीनों शक्तियों से युक्त होकर अपने और शत्रु के बलाबल को भली भाँति समझकर दूसरे देशों को जीतने की इच्छा करनी चाहिए। इसके अनन्तर अत्यन्त विश्वासी नीति आदि शास्त्रों को जानने वाले प्रतिभाशाली मन्त्रियों से मन्त्रणा करनी चाहिए। उनके निर्णयों को अपनी बुद्धि द्वारा कार्यान्वित करके राज्य के सभी ही अंगो को शुद्ध करके साम दान आदि उपायों से योग और क्षेम की साधना करनी चाहिए और सधि विग्रह आदि छह गुणो का प्रयोग करना चाहिए।[5] राजनीति में कार्य छल कपट पूर्ण साम दान भेद दण्ड सधि आदि से सिद्ध किये जाते हैं। राजनीति कभी भी नीति (कर्तव्य अकर्तव्य) की राह नहीं सिखाती है वह तो छल कपट आदि से स्वार्थ सिद्धि करना सिखाती है।

---

1 क स सा एक शास्त्र अध्ययन पृ 111

2 क स सा 12.35 121 127

3 अथ प्रवीरो बलिना सम न जय्य स बली रणे।
संधिं कृत्वा तु हन्तव्य सम्प्राप्ते समये पुन ॥ वही 10/14

4 मनोद्धतो महानलोभी रक्तभृत्यो महाबल ।
असाध्योऽपि स सम्यक् साम्ना शान्तिकसाध्य ॥ —वही 23 16

5 वही, 6 8 198 200

4. वशानुगत परम्परा

संस्कृत लोककथा-साहित्य में राजाओं के वशानुगत होने की प्रथा रही है। राजा का पुत्र ही राजा होगा। योग्य और अयोग्य, गुण एव कर्म के आधार पर नही, अपितु राजा का सबसे बडा पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है। राजा विधिवत् भावी राजा को मागलिक कृत्यों द्वारा युवराज घोषित करता है। कथासरित्सागर में राजा शतानीक ने उदयन को युवराज पद पर अभिषिक्त किया।[1] उदयन ने अपने उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र नरवाहनदत्त का युवराज पद पर अभिषेक किया।[2] अनेक राजाओं के पुत्रों को राज्य सौंपकर वन चले जाने के उल्लेख हुए हैं।[3] राजा यह कार्य भी मन्त्रियों से सलाह लेकर करता था।[4]

कथा-साहित्य में राजाओं के ही वशानुगत होने का उल्लेख नहीं है अपितु मन्त्रियों के भी वशानुगत होने का वर्णन हुआ है। मन्त्री का पुत्र मन्त्री होता है। नरवाहनदत्त का यौवराज्य पद पर अभिषेक करने के बाद वत्सराज उदयन ने युवराज के बालमित्र अपने मन्त्रियों के पुत्रों को बुलाकर उन्हें युवराज के मन्त्रियों का पद दे दिया।[5] यौगन्धरायण के पुत्र मरुभूति को मुख्यमन्त्री, रुमण्वान् के पुत्र हरिशिख को प्रधान सेनापति, वसन्तक के पुत्र तपन्तक को विनोद मन्त्री और इत्यक के पुत्र गोमुख को प्रधान द्वारपाल एव पिंगलिका के पुत्र तथा पुरोहित के भतीजे वैश्वानर एव शान्तिसोम को पुरोहित नियुक्त किया।

इस वशानुगत परम्परा में राजकुमार एव मन्त्रीपुत्र के क्रमश राजा एव मन्त्री होने की प्रथा रही है। समाज में जहाँ एक तरफ वर्ण व्यवस्था के प्रचलित होने का उल्लेख है, वही राज-पुत्र के ही राजा होने का उल्लेख है। वर्ण व्यवस्था के मूल आधार गुण कर्म रहे हैं न कि वश-जाति परम्परा। वशानुगत उत्तराधिकारी होने का यह प्रचलन उचित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक राजा का पुत्र गुणवान्, ज्ञानवान एव राजा के योग्य ही हो। और यह भी अनुचित ही है कि मन्त्री का पुत्र ही मन्त्री हो। किसी राज-पुत्र एव मन्त्री पुत्र के क्रमश राजा मन्त्री के अयोग्य होने की स्थिति में वश-परम्परा से उनका राजा-मन्त्री बनना लोक हित में नही था। शासक वर्ग ने सत्ता को पैतृक सम्पत्ति बनाये रखने के लिए वश परम्परा का निर्धारण किया।

---

1 क स सा 2 2 212
2 वही 6 8 107 127
3 वही 12.2 83-86, 12.4 179 180
4 वही 12.23 10
5 वही 6 8 107 116

5 युद्ध एव सेना

जब जब भी युद्ध हुए हैं तो मानव जाति का सहार हुआ है। युद्ध भूमि मे सैनिक लडता है न कि राजा। युद्ध में सैनिक एव सामान्यजन मारे जाते हैं। यह ठीक है कि "बल के बिना राज्य की रक्षा एव प्रशासन में स्थिरता नही लाई जा सकती।"[1] परन्तु राज्य के बल का यदि एक राजा अपने स्वाभिमान, प्रतिष्ठा एव ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए युद्ध के रूप में दुरुपयोग करे तो उचित नही कहा जा सकता। कथा साहित्य में युद्ध के मुख्य रूप से तीन कारण रहे हैं—1 साम्राज्य विस्तार की कामना, 2 अभिलषित स्त्री की प्राप्ति का आग्रह एव 3 आत्म सम्मान की रक्षा। राजा एकच्छत्र राज्यलाभ की इच्छा से प्रेरित होकर आपस में लडते हैं। नरवाहनदत्त ने चक्रवर्तित्व की प्राप्ति के लिए विद्याधरों के साथ घोर युद्ध किया।[2] सुन्दर कन्या में आसक्त होकर उसकी प्राप्ति के लिए अन्य उपायों के निष्फल होने पर राजा सैन्य बल के प्रयोग से कन्या का अपहरण करने का प्रयास करते हैं। उनका मानना है कि शूर लोग स्त्री के कारण होने वाले अपमान को सहन नही करते हैं।[3] आत्म सम्मान की रक्षा के लिए राजाओं में युद्ध हुए हैं। राजा देवदत्त आत्म सम्मान के लिए युद्ध कर राज्य प्राप्त करता है।[4] युद्ध ही उस समय एक सराहनीय मार्ग था और प्रत्येक राजा एव सामत यह समझता था कि भोग विलास एव सम्मान तभी तक सुरक्षित है जब तक उसकी तलवार में ताकत है, अत युद्ध में अपने शौर्य का प्रदर्शन कर स्वय को सबसे बडी मछली सिद्ध करना चाहते थे।

"सेना के मूलत दो भाग हैं जिन्हें "स्वगमा" एव "अन्यगमा" कहा गया है। स्वगमा के अन्तर्गत पदाति सेना तथा अन्यगमा के अन्तर्गत रथ, अश्व गज आदि वाहनों पर चलने वाली सेना मानी जाती है।"[5] सस्कृत लोककथा साहित्य में पदाति रथ गज एव अश्व चतुरगिनी सेना का महत्त्व वर्णित है।[6] एक एक राजा के पास एक करोड पैदल सैनिक तीस हजार हाथी तीन लाख घोडे होने के उल्लेख हैं। युद्ध होने पर सेना के सहार में हाथियों, घोडों एव सैनिकों के ढेर लग जाते हैं।[7] युद्ध में सेना विभिन्न शस्त्रास्त्रों का उपयोग करती है। "कथासरित्सागर कालीन भारत के शस्त्रास्त्रों में प्राचीन एव तद्युगीन शस्त्रों का सम्मिश्रण मिलता है। धनुष बाण तलवार चक्र गदा आदि प्राचीन शस्त्रास्त्र तो थे ही भल्ली अर्द्ध चद्राकार बाण खजर आदि उस युग के शस्त्रों का भी वर्णन है।"[8]

---

1 क स सा एक सास्कृ अध्ययन पृ 107

2 क स सा 2.4.35

3 युद्धे च ता त्याज्य रतिमिच्छमुग्र।
न गृह विरहन्ते हि स्त्रीनिमित्त पराभवम् ॥ —वही 9 2.360

4 वही 1.4.7

5 क स सा एक सास्कृ अध्ययन पृ 117 118

6 क स सा 1.4.76

7 वही 9.4.216-224 12.35.108 109 8.3.36-42 7.4.12 13

8 क स सा एक सास्कृ अध्ययन पृ 120

कथा-साहित्य मे तीन प्रकार के युद्ध के उल्लेख हुए हैं । प्रथम, जिसमें राजा अपनी अपनी सेनाओं के साथ युद्ध लडता है । द्वितीय, जब दोनों पक्षों के सैनिकों के विनाश के कारण उनकी अल्पसख्या रह जाती, तब द्वन्द्व युद्ध होता था । द्वन्द्व युद्ध में एक शस्त्रधारी के साथ एक ही शस्त्रधारी लडता है । तृतीय, दोनों के अस्त्र टूट जाने पर हार-जीत के अनिर्णीत होने की स्थिति में बाहु-युद्ध होता है । बाहु-युद्ध में शस्त्र त्यागकर अपने अपने शारीरिक बल से एक दूसरे को परास्त करने का प्रयास करते हैं ।[1] कथासरित्सागर में श्रुतशर्मा एव सूर्यप्रभ के बीच द्वन्द्व युद्ध एव तदनन्तर बाहु-युद्ध होने का उल्लेख है । इसी तरह मुक्ताफल एव विद्युद्ध्वज के बीच द्वन्द्व-युद्ध होता है ।[2] इसे मल्ल युद्ध भी कहा जाता है ।

आक्रमण किये जाने वाले राज्य की सामरिक तैयारी की जानकारी गुप्तचरों के द्वारा प्राप्त की जाती है । कुशल राजा, शत्रु राजाओं के अमात्यादि अधिकारी वर्ग को प्रलोभन देकर मिलाने का प्रयास करते हैं ।[3] अपनी सैन्य शक्ति बढाने के लिए मित्र राजाओं से सैनिक सहायता ली जाती है । युद्धकालीन राजनीति सामान्य राजनीति से भिन्न होती है । सामदान आदि के अतिरिक्त भी कूटनीतियों का प्रयोग करके विजय प्राप्त करना चाहते हैं ।[4] कथा-साहित्य में कूटनीति के प्रयोग का जाल बिछा हुआ है । राजा उदयन को पकडने के लिए चडमहासेन बनावटी हाथी का प्रयोग करता है और उसमें बैठे सैनिकों द्वारा उदयन पकड लिया जाता है । इसका प्रत्युत्तर यौगन्धरायण भी अपनी सूक्ष्म एव तीक्ष्ण बुद्धिपूर्वक कूटनीति के प्रयोग से ही देता है । यौगन्धरायण और वसन्तक कापालिक का वेश धारण कर बिना युद्ध के ही उदयन को वासवदत्ता के साथ छुडा लाते हैं । आक्रमण के प्रतिरोध के लिए मार्ग में विविध प्रकार के विनाश के जाल बिछा दिये जाते थे । यात्रा में आने वाली सडकों पर, पेडों लताओं, कुओं, तालाबों, घास-फूस आदि में विष-द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था । विष कन्या का प्रयोग भी किया जाता था ।[5]

राजा प्रजा के हित अहित को भूलकर राजनैतिक स्वार्थों के वशीभूत होकर छल कपटपूर्ण नीति का अयथार्थ नाटकीय अभिनय कर रहे थे । इन सबके उपरान्त भी "राजा प्रजा के लिए है" कहा जा रहा था । युद्ध के प्रमुख कारण प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में राजा की विलासिता एव स्वार्थ मे जुडे रहे हैं । युद्ध में सैनिक लड रहे थे, चाहे वे पदाति हों, चाहे अश्व सेना या चाहे गज सेना हो परन्तु सारे सैनिक थे प्रजा ही । सेना चाहे स्वय उस राजा की हो या शत्रु की हो । युद्ध में सदैव निर्दोष एव सामान्य जन मारे जाते हैं ।

---

1 क स सा 8 7 8 16

2 वही 17 3 69

3 वही 12 35 124-125

4 वही 2 4 2 20

5 अथास्य ब्रह्मदत्तस्य मन्त्री योगकरण्डक ।
चकार वत्सराजस्य व्याजानागच्छत पथि ॥ 80
अदूषयत्प्रतिपथ विषादिद्रव्ययुक्तिभि ।
वृक्षान्कुसुमवल्लीश्च तोयानि च तृणानि च ॥ 81
विदधे विषकन्याश्च सैन्ये पण्यविलासिनी ।
प्राहिणोत्पुरुषांश्चैव निशासुच्छद्मघातिन ॥ 82 —वही 3.5.80-82

सैनिकों को उत्साहित करने के लिए अनवरत नगाडे बजते हैं। यह भी विश्वास था कि रण में मृत व्यक्ति स्वर्ग का भागी होता है।[1] राजा सामत या अन्य पदाधिकारियों की सुरक्षा की तो कडी व्यवस्था रही है। युद्धोपरान्त विजय का मुकुट राजा के सिर होता है। विजित राज्य से प्राप्त ऐश्वर्य, कर सुन्दरियाँ एव अन्य सुविधाएँ राजा के लिए हैं। युद्धोपरान्त प्रजा की स्थिति सुदृढ होने की अपेक्षा बदतर हो जाती है। युद्ध से प्रजा को कुछ भी नही मिलता है। प्रजा तो बहुत कुछ खोती है। किसी का पुत्र, किसी का पिता किसी का पति, किसी का भाई सैनिक युद्ध में मारा जाता है। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि राजा स्वय अपनी सुरक्षा करने में असमर्थ रहे हैं। युद्ध प्रजा की रक्षा एव कल्याण के लिए नही अपितु स्वय के लिए लड रहे हैं। युद्ध स्वत अनिवार्य नहीं है अपितु राजा की दुष्प्रवृत्तियाँ, अकर्मण्यता एव विलासितापूर्ण स्थितियाँ ही युद्ध को अवश्यम्भावी बना देती हैं। किसी राजा के दुर्बल होने के कारणों में भी स्वय उसकी बढती विलासितापूर्ण प्रवृत्तियाँ अकर्मण्यता एव नैतिक पतन प्रमुख रहे हैं। यह तो सर्वमान्य है कि समुद्र में बडी मछली, छोटी मछली पर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहती है उसे खाना चाहती है। वैसे ही शक्तिशाली राजा ऐसे दुर्बल चरित्रहीन एव अकर्मण्य राजा पर आक्रमण कर देते हैं।

यह निश्चित है कि युद्ध के दुष्परिणामों का सर्वाधिक प्रभाव लोक जीवन पर पडा होगा। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो गयी होगी। समाज का पूँजीपति एव व्यापारी वर्ग ऐसी वस्तुओं का सग्रह कर काला बाजारी करता रहा होगा। उच्चवर्गीय समाज पर युद्ध के परिणाम का कोई विशेष असर नही पडा होगा। सर्वसम्पन्न ऐसे वर्ग के लिए सब कुछ सुलभ रहा होगा। वह ऐसे समय में भी निर्दय बनकर जन सामान्य की मजबूरी का लाभ उठाने से नही चूका होगा। विशाल सेना के प्रयाण एव युद्ध मे कृषि को अत्यधिक क्षति पहुँची होगी। किन्तु इन बातों का सम्बन्धित कथा साहित्य में उल्लेख विरल रूप से ही किया गया है। कथासरित्सागर में बताया गया है कि सामदत्त की खेती दूसरे राजा के राष्ट्र पर चढाई करने मे ध्वस्त हो जाती है।[2]

6. लोक-जीवन मे राजनैतिक चेतना

सस्कृत लोककथा साहित्य में राजनीति का अधःपतन हो चुका है। राजनीति छल कपट एव प्रपच का पर्याय बन चुकी है। "राष्ट्रीयता की भावना सकुचित होकर अपने अपने राज्यों तक ही सीमित हो गयी थी। राजाओं का नैतिक अधःपतन हो गया था। वे परम्परागत आदर्शों से च्युत होकर विलासी जीवन बिता रहे थे।"[3] राजप्रसाद एव राजप्रासाद वासनागृह बन चुके थे। स्वार्थ लालच ऐश्वर्य की पूर्ति जिसमे हो वही राजाओं के लिए न्याय था। युद्धों में विजय प्राप्त करने वाले राजा सामत की प्रसिद्धि ही नहीं बढती बल्कि

1 क स सा 85 4 5
2 काले तत्र च पक्वेषु तस्य सस्येष्वशेषतः।
सा भूमिः परराष्ट्रेण दैवाच्चैव व्यलुप्यत॥ —क स सा 36 29
3 क स सा एक सास्कृ अध्ययन पृ 96

न्याय था। युद्धों में विजय प्राप्त करने वाले राजा, सामत की प्रसिद्धि ही नहीं बढती बल्कि उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति एव शासन-अधिकार को बढाने का अवसर भी मिलता है। राजा, सामत अपने जीवन भर के लिए या सतान के लिए शासन-दण्ड को हाथ में लेकर वश परम्परा में राजतत्र स्थापित करने मे सफल रहे थे। "भारत में हर्षोत्तर-काल में बारहवी शताब्दी ई तक के युद्ध मूलत राजवशों के व्यक्तिगत झगडे थे, जो राष्ट्रीयता के क्षेत्र में घातक सिद्ध हुए थे।[1] तत्कालीन राजाओं के "उसे भी जीतकर मैं राज्य करूगा।" यह मनोवृत्ति एव चक्रवर्ती बनने का मोह उनके न तृप्त होने वाले लोभ के अच्छे उदाहरण हैं। चाहे किसी राजा के साथ शत्रुता भी न हो, वहाँ की प्रजा ने कोई अहित भी नहीं किया हो किन्तु यदि उस राज्य में धन, सोना एव सुन्दर स्त्रियाँ हैं तो शत्रुता के लिए पर्याप्त है। कथासरित्सागर की एक कथा में जीमूतवाहन का कथन "वासुकि का नागराज होना कितना सारहीन है, जो स्वय अपने ही हाथों से अपनी प्रजा को शत्रु का आमिष बना रहा है।" सिद्ध है कि राजा स्वार्थ एव शत्रु के वशीभूत होकर अपनी ही प्रजा को असमय मौत के मुँह में धकेल रहे थे।[2]

राज्य में बलात्कार, हत्या, चोरी, डाके एव ठगी-बाजी की प्रवृत्तियाँ बढ रही थी। राजा प्रजा की रक्षा करने से विमुख होकर स्व में लिप्त हो गये थे।[3] प्रजा से विभिन्न कर वसूल करके उसे सतप्त कर रहे थे।[4] राजाओं के विलासी, अकर्मण्य एव चरित्रहीन होने पर एव उनके द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों के बढने पर भी प्रजा में प्रबल विद्रोह या चेतना का स्पष्ट स्वर नही सुनाई दे रहा था। परन्तु यत्र तत्र अस्फुट स्वर सुनाई देता है। जीमूतवाहन नागराज वासुकि के लिए कहता है "क्यों नही उसने सबसे पहले अपने को ही गरुड के लिए प्रदान किया। प्रत्युत इसके विपरीत ही नपुसक के समान उसने अपने कुल का ही नाश स्वीकार कर लिया।[5] इस वाक्य से जीमूतवाहन कहना चाहता है कि राजा को सर्वप्रथम स्वय को ही गरूड को प्रदान करना चाहिए था। वह राजा को नपुसक भी कहता है। यह चेतना का प्रबल स्वर है। राजा एव प्रजा के अधिकार और कर्तव्य के विषय में कहा गया है कि कर्तव्य का पालन करते हुए अधिकारों की माँग करनी चाहिए। अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए भी अपन अधिकार से वचित होकर उन्हें प्राप्त करने के लिए माँग नहा करता तो उसे धिक्कार है। कहा गया है "उन राजाओं को धिक्कार है जो अपने सवकों का सुख दुख नही जानते और उनक उस परिजन को भी धिक्कार है जो अपने सवकों का सुख-दुख नही जानते और उनके उस परिजन को भी धिक्कार है जो उनकी वैसी स्थिति राजा को नही बतलाते हैं।[6] सिंहासनद्वात्रिंशिका

1 क स सा तथा भा स पृ 5
2 अहो किमपि निःसत्त्व राजत्व बत वासुके।
यत्स्वहस्तेन नीयन्ते रिपोरामिषता प्रजाः॥ —क स सा 4 2 211
3 वही 12 5 113 116
4 वही 13 1 202
5 किं न प्रथममात्मैव तेन दत्तो गुरुत्मते।
क्लीबेनाभ्यर्थिता केय स्वकुलक्षयसाक्षिता॥ वही 4 2 212
6 धिङ्नृपान्क्लिष्टधर्मान्क्लिष्ट ये भृत्येष न जानते।
धिक्क त परिवार यो न ज्ञापयति तास्तथा॥ वही 12 14 25

में एक महामंत्री की पत्नी का घर का कुछ भी ख्याल न रखने पर और राज काज में व्यस्त रहने पर उससे कहती है—"राजकाज है ही क्या राजा की चापलूसी करने के सिवाय। राजा की बात मानकर हाँ में हाँ मिलाना ही पडता है। राजा का क्या ठिकाना, कब क्या कर बैठे। वह तो कभी किसी का नही होता। राजा गद्दी पाने के लिए सगे भाई की हत्या कर देते हैं। वे क्या नही कर सकते हैं।[1]

वंश परम्परा में राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है। राजकुलों की इस रीति को गलत बताया गया है। नियम से राजा उसे ही बनना चाहिए जिसमें राजा के गुण हों और यह भी आवश्यक नही है कि योग्य व्यक्ति राजकुल से ही हो। व्यक्ति का कुल से नही कर्म से सम्मान होना चाहिए।[2] कथासरित्सागर की एक कथा तो राजा के अत्याचार के प्रति सशक्त विद्रोह है। अल्प बल वाला एक शशक अपने बुद्धि बल से शक्तिशाली राजा सिंह को मारकर समस्त वन्य प्राणियों को मौत के मुँह से मुक्त कराता है। यह कथा प्रतीक रूप है। तात्पर्य यह है कि शक्तिशाली अत्याचारी राजा का अल्प बल वाला व्यक्ति या प्रजा जन भी अपने बुद्धि बल से सहार कर सकता है। यह भी सकेत है कि अत्याचारी अभिमानी राजा का नाश अवश्यम्भावी है। शारीरिक बल से बुद्धि बल श्रेष्ठ है।

7. राजनीति एव लोक परस्परता

समाज राष्ट्र की सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था राजनीति पर निर्भर करती है। जैसी राजनीति होगी वैसा ही समाज होगा। "राजनीति" शब्द स्पष्ट विशिष्ट अर्थ लिये हुए है और इसमें "नीति" शब्द अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। नीति विहीन "राज" (प्रशासन) वाला समाज दिशा विहीन होगा उसमें प्रवाह नही होगा उसकी आत्मा नही होगी उसका जीवन नहीं होगा। आधुनिक युग में "राजनीति" शब्द छल कपट दाँव पेंच प्रपच इत्यादि के बुरे अर्थ में रूढ हो गया है। प्राचीनकाल की राजनीति की धर्मशास्त्रीय प्रथा में विस्तृत चर्चा हुई है। इसमें विशेष रूप से राजा मत्री एव अन्य पदाधिकारियों के कर्तव्य अधिकारों राजा प्रजा के अन्तःसम्बन्ध एव पारस्परिक दायित्व राज्य की शासन व्यवस्था न्याय व्यवस्था समाज सुरक्षा सैन्य बल दण्ड प्रणाली आदि की एव जीवन में उनके व्यावहारिक प्रयोग की विवेचना मिलती है। राजनीति का सैद्धान्तिक पक्ष तो प्रचलन में रहा परन्तु धीरे धीरे उसके व्यावहारिक पक्ष का ह्रास होता गया। राजनीति राजसत्ता हथियाने का हथियार बनी और वह वर्ग विशेष की पैतृक सम्पत्ति बनती चली गई। अन्तत वर्ग विशेष की स्वार्थ सिद्धि का साधन बन गई।

शोध विषय की दृष्टि से लोक जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही राजनीतिक पक्ष को रखना उचित होगा। तत्कालीन लोक जीवन में राजनीति के व्यावहारिक पक्ष के उद्घाटन से ही उसका यथार्थ ज्ञान सम्भव होगा क्योंकि नीति नियमों का निर्धारण करना एक कोरा सैद्धान्तिक

---

1 मित्र पृ 123

2 वही पृ 1[illegible]

सामान्य एव बाह्य पक्ष है और उसका जीवन में पालन करना ही व्यावहारिक, वास्तविक, सार्थक तथा आन्तरिक पक्ष है।

यद्यपि लोक-जीवन में यह कहावत प्रचलित रही है कि "यथा राजा तथा प्रजा" अर्थात् जैसा राजा का आचरण होता है वैसा प्रजा का भी आचरण होता है।"[1] वस्तुत राजा एव शासन तत्र के लिए निर्धारित सैद्धान्तिक नीति गौण रही है। क्योंकि नीति का निर्धारण स्वय शासक वर्ग के द्वारा ही किया जाता रहा है। नीति शासित वर्ग के पालन के लिए रही है। "लोक जीवन" में निर्धारित नीति का व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है। लोक-जीवन मे यह धारणा ठूस कर भर दी गई थी कि राजा ही सब कुछ है, राजा ही हमारा स्वामी है, उसकी आज्ञा का उल्लघन करना पाप है, स्वामी के लिए मर मिटना पुण्य है। स्वामी है तो हमारा जीवन है। तत्कालीन राजनीति, शासन-तत्र के अस्तित्व का मुख्य कारण "लोक" ही रहा है। राजा एव साधारण जनता के सम्बन्ध का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है—"यहाँ भी मनु और दूसरे धर्म शास्त्रकारों ने राजा प्रजा के कर्त्तव्य पर खूब कलम दौडाई है और गौर से देखने पर वहाँ राजा और शासन वर्ग के अधिकारों को पूरा करने के लिए अपने श्रम और जीवन का सबसे बडा भाग देना जहाँ साधारण जनता का कर्त्तव्य था, वहाँ उनके अधिकारों की तालिका में परजन्म और परलोक में पाई जाने वाली चीज ही ज्यादा है। समाज की असमानता को लीपा-पोती और आकर्षक व्याख्या से ढाँकने की कोशिश की गई है। समाज को शरीर और भिन्न भिन वर्गों को उसके अग बतलाकर इस वर्ग विशेष को नरम करने की कोशिश में ही वेदों का पुरुष सूक्त लिखा गया है "ब्राह्मण (पुरोहित) इस (समाज शरीर) का मुख है, राजन्य (शासक या सामन्त वर्ग) भुजायें हैं, व्यापारी उसकी जाघें हैं और शूद्र उसके पैर। गीता (स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह।) जैसे पीछे के ग्रथों ने "स्वधर्म में मरना ठीक" कहकर इसी ढाँचे को मजबूत करना चाहा।"[2]

सस्कृत लोककथाएँ राजनैतिक जीवन की एक विचित्र छवि प्रस्तुत करती हैं। राजाओं, राजकुमारों की कथाएँ उनके नैतिक चरित्र का उद्घाटन करती हैं। अधिकाश कथाएँ चरित्रहीन, लोलुप विलासी एव लम्पट राजाओं के जीवन की कथाएँ हैं। जिनके जीवन में सुरा सुन्दरी आखेट-जुआ आदि ही मुख्य हैं। उन्हें राज्य, प्रजा की तनिक भी चिन्ता नही हैं। वे तो नित नव यौवना के लोलुप हैं। अधिकाश राजाओं के साथ युद्ध होने का कारण भी कोइ सुन्दरी ही है। राजाओं का प्रेम विचित्र चचल प्रेम है। उनका जीवन, राज्य सब कुछ मत्री वर्ग पर निर्भर है। राजाओं के पास अचल सम्पत्ति है, विशाल राज्य है, प्रजा से वसूल किये जाने वाले विभिन्न करों से प्राप्त धन है, अग्रहार है, उनके अधीन सामत हैं, उनके प्रति प्रजा का अगाध स्नेह एव आदर है। लाखो पदाति, अश्वारोही, गजारोही आदि विशाल सैन्य बल है। "समाज पर राजा का प्राधान्य था, जिसे देवता का अश, देव सतान माना जाता था। राजा और कुछ थोडे से सरदार (सामत) सारी भूमि के स्वामी होते थे। अधिकाश जनता दास और कमिया (कम्मी या कमीन) थी। दोनों के

1 बृ क श्लो. 19 43
2 मानव-समाज पृ 109 110

बीच वाला मध्यम वर्ग शक्ति और संख्या दोनों में नगण्य सा था। इससे पहले पुरोहितों के शासन में पुरोहितों और उनके शस्त्रधारी योद्धाओं का बोलबाला था। साधारण जनता किसान मल्लाह, लुहार, बढ़ई बनिया और दास की अवस्था बेहतर न थी।"[1]

समाज की सम्पन्नता का आधार राजा की सम्पन्नता माना जाता रहा है।[2] परन्तु एक राजा के सम्पन्न होने से सम्पूर्ण समाज सम्पन्न नहीं हो जाता है। आज भी भारत में यह स्थिति देखने को मिलती है। राजधानी, बड़े नगरों पूँजीपतियों एवं प्रमुख राजनेताओं की सम्पन्नता को देखकर समग्र राष्ट्र की सम्पन्नता का अनुमान लगाया जाता है किन्तु जनपदों और गाँवों में निवास करने वाला वास्तविक भारत कितना विपन्न है यह सभी जानते हैं।

"जनता चाहती है कि प्रशासन अच्छा हो उसकी सभी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो एवं वह सुरक्षित हो—बाह्य अथवा आन्तरिक दोनों दृष्टियों से। किन्तु राजस्व की वृद्धि न हो।"[3] राजनैतिक स्तर पर विभिन्न नीतियों का निर्धारण हो जाता है परन्तु उनका क्रियान्वयन नहीं होता है। कहने को राजा एवं प्रशासन तंत्र के शास्त्रोक्त अधिकार एवं कर्त्तव्य उच्च आदर्श एवं श्रेष्ठ घोषित करते हैं परन्तु व्यवहार की कसौटी पर वे खरे नहीं उतरते। भारत की राजनीति अत्यन्त विषमतापूर्ण रही है। अधिकांश राजाओं का नैतिक पतन पराकाष्ठा पर था। "राजा सदैव स्त्री मद्य और आखेट के व्यसनों में निरत रहता था। विजेता नरेश पराजित देश की किसी प्रकार की उन्नति को सहन नहीं कर सकता था। यहाँ तक कि उस देश की ललनाओं को वह अपनी पाशविक मनोवृत्तियों एवं गर्हित वासनाओं की सम्पूर्ति का साधन बनाता था। राजा अपनी यात्रा के अवसरों पर जगह जगह रमणियों के कटाक्षों का लक्ष्य (शिकार) बन जाता था।"[4] राजा परस्पर युद्धरत थे। प्रजा के कल्याण में नहीं अपितु परस्पर ईर्ष्या राज्यलोभ एवं सुन्दरी कन्या के लोभ में युद्ध कर रहे थे। राजाओं के दासियों के साथ अवैध यौन सम्बन्ध की कथाएँ मिलती हैं।[5]

राजा एवं सामंत स्वार्थ के वशीभूत होकर अनीति एवं षडयंत्र के प्रयोग कर रहे थे। अतः समाज में कुप्रथाएँ अन्याय एवं दुराचार बढ़ते जा रहे थे। फिर भी राजा को आदर्श एवं न्याय प्रिय कहा जा रहा था। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि साधारण जनता और सामन्तों के बीच व्यापारी वर्ग भी था। इस वर्ग से राजा को भेंट और नजराने के तौर पर जागीर के अतिरिक्त भी आय का एक अच्छा भाग हाथ लग गया था। जिससे राजा व्यापारी और साधारण जनता के झगड़ों में प्रायः सदा व्यापारियों के स्वार्थ के पक्ष में व्यवस्था देते थे और व्यापारियों एवं सामन्तों के स्वार्थ का जहाँ झगड़ा होता वहाँ भी व्यापारी वर्ग राजा की निष्पक्षता का ढिंढोरा पीटता या कम से कम यह कहता फिरता कि आदर्श राजा को ऐसा होना चाहिए।

---

1 [illegible] पृ 108
2 क स सा [illegible]
3 क स सा तथा भा स पृ 80
4 वही, पृ 114
5 क स सा [illegible]

शासन-व्यवस्था राजा, सामत या प्रभुसत्ता रखने वाले वर्ग विशेष का मन-तत्र बन चुकी थी। जन सामान्य "नीति" में विश्वास करता था और राज तत्र उसके विश्वास का स्वार्थ पूर्ति में उपयोग कर रहा था। राजा को स्वामी और स्वय को सेवक मानने वाले जन-सामान्य के लिए "सेवक का तो कर्त्तव्य ही है कि वह प्राण देकर भी स्वामी की रक्षा करे। लेकिन राजा तो मदमत्त हाथी की तरह निरकुश थे। वे जब विषय-लोलुप होते हैं, तब धर्म और मर्यादा की श्रृखलाएँ तोड देते हैं। निरकुश चित्त वाले राजाओं का विवेक, अभिषेक के जल से उसी प्रकार बह जाता है जैसे बाढ के पानी में सब-कुछ बह जाता है। डुलते हुए चवर की वायु जैसे रजकण, मच्छर और मक्खियों को दूर उडा देती है वैसे ही सत्ता की मदान्धता वृद्धों के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों के अर्थ तक को उपेक्षा का विषय बना देती है। उनका छत्र जैसे धूप को रोकता है, वैसे ही सत्य को ढक देता है। वैभव की आँधी में चौंधियाई हुई उनकी आँखें उचित मार्ग नही देख पाती हैं।[1]

राजा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को बिसार चुके थे। काम, क्रोध, ऐश्वर्य एव सत्ता के मद में अनैतिक कर्म में प्रवृत्त हो गये थे। किसी सुन्दर कन्या को देखते ही काम के वशीभूत हो जाते और उसे प्राप्त करने की लालसा का सवरण न कर पाते। उस रूपवती सजीव सुन्दरी को प्राप्त न कर पाने की स्थिति में राज्य एव जीवन को ही निष्फल मानने लगते हैं।[2] एक राजा अपने मत्री को एकान्त में ले जाकर कहता है—"उस कन्या को देखे बिना मैं जीवित नही रह सकूँगा। अत भवितव्य को प्रणाम करके, तुम्हारे बतलाये हुए मार्ग से मैं जाता हूँ। तुम न तो इस काम से मुझे रोको और न मेरे साथ ही चलो। मैं छिपकर अकेला ही यहाँ से जाऊँगा। तुम मेरे राज्य की रक्षा करना। मेरी बात तुम टालना मत, नही तो तुम्हें मेरे प्राणों से हाथ धोना पडेगा।"[3] स्पष्ट हो जाता है कि राजा न तो राज्य के लोभ का सवरण कर पा रहा है और न ही सुन्दर कन्या को प्राप्त करने के मोह का

---

1 __। प्राणैरपि हि भृत्याना स्वामिसरक्षण व्रतम् ॥ 53
राजानस्तु मदाध्माता गजा इव निरङ्कुशा
छिन्दन्ति धर्ममर्यादा-श्रृङ्खला विषयोन्मुखा ॥ 54
तेषा ह्युद्रिक्तचित्तानामभिषेकाम्बुभि समम्।
विवेको विगलत्योघेनोह्यमान इवाखिल ॥ 55
क्षिप्यन्त इव चोद्धूय चलच्चामरमारुतै ।
वृद्धोपदिष्टशास्त्रार्थरजोमशकमक्षिका ॥ 56
आतपत्रेण सत्य सूर्यालोको निवार्यते।
विभूतिवात्योपहता दृष्टिर्मार्गं न नेक्षते ॥ 57 —क. स. सा. 12 24.53 57

2 वही 18 4 137 138

3 स ता श्रुत्वैव च नृपस्तथा स्मरवशोऽभवत्।
यथा तया विना मेने निष्फले राज्यजीविते ॥ 64
जगाद च तमेकान्ते नीत्वा स्वसचिव तदा।
द्रष्टव्यासौ मयावश्य जीवित नास्ति मेऽन्यथा ॥ 65
यामि त्वदुक्तेन यथा प्रणम्य भवितव्यताम्।
निवारणीयो नाह ते नानुगम्यश्च सर्वथा ॥ 66 —वही 12 19 64-66

सावरण ही। राज्य का कार्य भार मंत्री को सौंपकर वह उस सुन्दर कन्या को प्राप्त करना चाहता है। यह भी सिद्ध हो जाता है कि राजा इतना कामान्ध है कि राज काज को भी छोड़ देता है।[1] स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था का संचालन मंत्री कर रहे थे।

राजाओं की काम वासना की प्रवृत्ति असीम थी यहाँ तक कि युद्ध में पड़ौसी राज्य पर विजय प्राप्त करने एवं शत्रु राजा को बन्दी बना देने के अनन्तर धन रत्न एवं स्वर्ण के अतिरिक्त बहुत सी परस्त्रियों को अपनी रानियाँ बना लेते थे। वस्तुतः काम और मोह में प्रवृत्त लोगों की धर्म भावना विचित्र ही होती है। कुछ दिनों बाद बंदी बनाए राजा को प्राप्त सुन्दर रानी के कहने पर मुक्त कर देना और पुनः अपने राज्य में भेज देना सिद्ध करता है कि युद्ध का मूल कारण धन प्रतिष्ठा शौर्य प्रदर्शन एवं सुन्दर स्त्री प्राप्त करना ही है।[2] नरेश विजित देश की सुन्दरियों को पकड़कर रखने में गौरव का अनुभव करते थे। तत्कालीन साहित्य में राजाओं के वासनापूर्ण विलासमय जीवन के उभरे हुए चित्र सुलभ है।[3] राजा सामंत तो रात दिन सुरा सुन्दरी युक्त विलासिता में डूबे रहते थे।[4] राजा मंत्रियों पर शासन भार छोड़कर एकमात्र आनंद लेने में तल्लीन हो गये थे।[5] वे वेश्याओं के चन्द्रमुख की छाया में सुशोभित मदिरा पान में डूबे रहते थे।[6] स्त्री मद्य और आखेट के व्यसनों में निमग्न वे राजकार्य से निश्चिन्त हो गये थे।[7]

राजाओं के चारित्रिक पतन की पराकाष्ठा तो यह है कि एक राजा विवाहिता पर आसक्त होकर उसे व्यभिचारिणी कहकर समागम करने के लिए कहता है। यदि स्वयं राजा ऐसा करता है तो अन्य उद्दण्ड लोगों के विषय में तो कहना ही क्या। यदि विवाहिता पतिप्राण स्त्रियों की ये विपत्तियाँ हैं तो कन्याओं की तो बात ही क्या ?[8] एक अन्य राजा उसके ही दास कर्म करने वाले की स्त्री में आसक्त हो जाता है और "नापित मेरा क्या करेगा" यह सोचते हुए उसके घर में घुसकर स्वतंत्रतापूर्वक उसकी स्त्री को भ्रष्ट कर निःशंक चला जाता है। राजा अपने नापित दास की परवाह किये बिना नित्य ही उसकी स्त्री का उपभोग करता रहता है। कहा गया है कि वायु से फैलाई गई आग के लिए तिनके और जंगल समान है।[9] राजा प्रतिदिन नई नई स्त्रियाँ प्राप्त कर रहे थे।[10] राज्य का भार मंत्रियों को सौंपकर अभिलषित सुन्दरियों के संगम तथा नृत्य संगीत मधुर कथालापों व मदिरा पान में लिप्त होकर अन्तःपुर में ही विलास क्रीड़ाएँ कर समय बिता

---

1 क. स. सा. 12.6.71.76
2 वही 9.4.237
3 क. स. सा. तथा भा. स., पृ. 106
4 क. स. सा. 25.110.119
5 वही 2.3.2
6 वही 2.3.5, 10.1.57
7 वही 3.1.5, 12.4.144
8 वही 6.4.5.7
9 वही 6.6.146.152
10 वही 8.2.356.362

रहे थे।[1] संस्कृत लोककथाएँ राजाओं की विलासिता एवं स्वेच्छाचारिता को प्रमाणित करती हैं।[2]

अन्तःपुर में कई रानियों के होने के बाद भी राजा-राजकुमार की नित नव ललना की प्राप्ति की लालसा यौवन पर थी। उसे प्राप्त करने के लिए छल-कपट की राह भी अपनाते थे।[3] उन्हें किसी प्रकार का अभाव न था। विलासितापूर्ण जीवन में धूप माल्य से अधिवासित शयनागार सुन्दर चमकीले हीरों से जटी शय्या, सफेद-कोमल बिछावन, अलंकृत एवं आकर्षण लिए हुए गणिकाएँ सदैव सेवा में तत्पर रहती, हाथ-पैर दबाती, मधुर एवं रमणीय बातों से मन को लुभातीं।[4] भृत्यवर्ग उनकी विलासिता में अभिवृद्धि कर रहा था। राजाओं के जीवन की यथार्थ (नग्न) तस्वीर तो अन्तःपुर में स्वयं रानियों के श्रीमुख से प्रस्तुत होती है जो अत्यन्त प्रामाणिक भी है। एक राजकुमारी कहती है—आश्चर्य है कि आज आर्यपुत्र अकेले कैसे सो गये ? यह सुनकर दूसरी कहती है—युद्ध में अपने प्रिय व्यक्तियों की मृत्यु हो जाने के कारण दुःखित आर्यपुत्र पत्नियों के साथ आमोद प्रमोद कैसे करते ? इस पर तीसरी बोल उठती है "यदि आज ही उन्हें नवीन सुन्दरी कन्या मिल जाती, तो वे सारे स्वजनों का दुःख भूल जाते। एक अन्य स्त्री आश्चर्य से पूछती है—"हमारे आर्यपुत्र भला इतने स्त्री लम्पट क्यों हैं ? बहुत सी स्त्रियों के रहते हुए भी वे रात दिन नई नई स्त्रियों का ही ग्रहण करके संतुष्ट होते हैं। यह सुनकर एक चतुरा स्त्री इसका कारण बताती है कि दशा, रूप अवस्था चेष्टा विज्ञान आदि के भेद से अच्छी स्त्रियाँ भिन्न भिन्न गुणों वाली होती हैं। एक ही स्त्री सर्वगुण सम्पन्न नहीं हुआ करती है। अतः भिन्न भिन्न रसों के आस्वाद लेने के लोभी राजा लोग सदा नई-नई स्त्रियों से प्रेम करते हैं, विवाह करते हैं।[5]

यह तो ठीक है कि राजा प्रेम या विवाह के बहाने नव-यौवना को प्राप्त कर अपनी कामुक-प्रवृत्ति का तृप्त कर रहा था। परन्तु यदि राजा ही किसी स्त्री के साथ बलात्कार करने को उद्यत हो जाए तो सामान्य प्रजा में ऐसे दुराचार का बढ़ना बड़ी बात न थी। यदि देश का राजा इन्द्रदत्त यश रूपी शरीर की रक्षा के लिए पापशोधन नामक तीर्थ में बड़ा देव मंदिर बनवाता है और एक बार उस मंदिर को देखने जाता है, वहाँ तीर्थ-स्नान के लिए आई वैश्य वधू को देखकर उस पर आसक्त हो जाता है जिसका पति व्यापार के निमित्त प्रवास में है। वह राजा उसके घर का पता लगाकर रात में वहाँ जाता है और उसके साथ सहवास की इच्छा अभिव्यक्त करता है तो वह स्त्री प्रार्थना करते हुए राजा से कहती है—"तुम तो प्रजा के रक्षक हो, तुम्हें पर स्त्री का धर्म नहीं बिगाड़ना चाहिए। यदि बलपूर्वक मुझे छुओगे तो तुम्हें पाप लगेगा। मैं भी तुरन्त मर जाऊँगी। इस कलंक को कदापि सहन न करूँगी। ऐसा कहने पर भी राजा के बलात्कार की चेष्टा करने पर

1 क स सा 12 7 302-307 14 1 3 5 12 19.5 14 12.30 13 18 18 3 17 19
2 वही 12 7 304 3 1 71 13 1 158 162
3 वही 7 9 170 173
4 बृ क श्लो 17.26-29
5 क स सा 8 4 98 117

शील नाश होने पर भय से उस वैश्य वधू का हृदय तुरन्त फट गया।[1] यह घटना राजा के नैतिक पतन की पराकाष्ठा सिद्ध करती है। राजा की कामुकता देखिए कि वह तो बिल्कुल ही अंधा हो गया है। यश प्राप्ति के लिए मंदिर का निर्माण करवा रहा है और धार्मिक स्थल पर स्वयं ही दुराचार कर रहा है। परस्त्री के दर्शन भी राजा के लिए उपयुक्त नहीं है। वस्तुतः वह पाखंडी राजा धर्माडम्बर कर रहा है। धर्म के नाम पर वह एक कलंक है। वह स्त्री जिसका पति व्यापार हेतु विदेश गया है, रात को उसके अकेले होने पर घर में घुस जाना और बलात्कार करने की चेष्टा करना राजा की निम्नतम प्रवृत्ति है। उस स्त्री का वाक्य—"तुम तो प्रजा के रक्षक हो। तुम्हें पर स्त्री का धर्म नहीं बिगाड़ना चाहिए। राजा को उसके कर्त्तव्य धर्म की याद दिलाता है। परन्तु वह राजा तो इसे अनसुना कर बलात्कार करने को प्रवृत्त होता है। उस स्त्री का हृदय फट जाता है। ऐसे बलात्कार करने वाले एवं स्त्री की मृत्यु के कारण राजा को दण्ड देने वाला कौन था ?

प्रजा के रक्षक कहे जाने वाले राजा स्वयं दुराचारी बन गए थे। राजा धार्मिक आचार विचार का त्याग कर मनमाना आचरण कर रहे थे। जुआ खेलना पर स्त्री के साथ रमण करना झूठ बोलना, दिन में सोना और रात्रि में जागना बिना कारण क्रोध करना अन्याय से धन कमाना सज्जनों का अपमान एवं दुष्टों का सम्मान करना उनकी सामान्य प्रवृत्ति हो गयी थी।[2]

राजनीति से तात्पर्य छल कपट से स्वार्थ सिद्धि ही रह गया था। राजा सामन्त एवं सम्पूर्ण राजकीय तंत्र प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में प्रजा को भ्रमित करके अपनी विलासिता के साधन जुटा रहा था। अतः कहा गया है कि "मैव कृथा न कार्येऽस्मिन् विश्वासस्छद्मघातिनी।" अर्थात् कपट से घात करने वाले राजा पर विश्वास मत करो। ऐसे क्षुद्र लोभी राजा बिलाव के समान अपनी उन्नति के लिए अपनी ही प्रजा को खाते रहते हैं।[3] राजनीति में कोई सगा नहीं होता है न कोई मित्र होता है राजनीति वेश्या की भाँति क्षणिक प्रेम प्रदर्शन करती है। सन्ध्या के वर्ण की भाँति उसे बदलते समय नहीं लगता है। राजनीति तो चालाक एवं कपटी लोगों की क्रीडा है जिसमें सामान्य जन अगर फँस गया तो उसका नाश निश्चित है। अतः किसी वन में सिंह ने अपने तीन अनुचर बाघ कौआ और सियार के साथ मिलकर उपवास के उपरान्त भूख लगने एवं वन में अन्य कुछ न मिलने पर साथ ही रहने

---

1 ...रक्षिता त्वं न युक्तं ते परदाराभिमर्शनम्। [illegible]
...शीलभ्रंशभयात्तस्या सद्यो हृदयमस्फुटत्। [illegible] —[illegible]

2 तेन [illegible] वनिता स वन्यो नृप
[illegible] धर्म्यमाचारमाचारं [illegible]
[illegible]
[illegible] स्वपन् स जजागार [illegible] २॥
[illegible]
अवमान [illegible] सम्मानममना [illegible] —वही [illegible]

3 वही [illegible]

4 किं तेषां [illegible] प्रजानामभिवृद्धये।
[illegible] मार्जार इव लालुपाः। वही [illegible]

वाले मित्र सिंह से अभयदान प्राप्त ऊट के बच्चे को मारकर टुकडे टुकडे कर दिया एव चारों ने मिलकर खा लिया।[1]

राजनीति मे राज्य की प्राप्ति के लिए या अन्य किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिए विभिन्न अटकलें लगाई जाती हैं। विभिन्न चालें चली जाती हैं। कत्ल करवाये जाते हैं। राज्य का लोभ आत्मीय बधु बाधवों के स्नेह का अतिक्रमण कर जाता है।[2] राजनीति अत्यन्त ही कठोर होती है। राज्य के लोभ से ही इन्दीवर-सेन एव अनिच्छासेन की सौतेली मा काव्यालकारा उनकी हत्या के लिए कायस्थ को घूस देकर सेना के अधिकारियों के नाम राजा का आज्ञा पत्र लिखवाकर तथा दूत को धन देकर उसे गुप्त रूप से सेना के शिविर में भेजती है।[3] राजा लोग राज्य के लिए सतान के स्नेह की ओर से आँखें मूँद लेते है।[4] राज्य की प्राप्ति के लिए पुत्र अपने पिता की हत्या कर देता है।[5] राजनीति में सत्ता (आसन या कुर्सी) ही महत्त्वपूर्ण है, न बन्धु बाधव है, न भाई, न पिता न मित्र ही। सत्ता ही सब कुछ है। उसे पाने के लिए कुछ भी करना सभव है। सत्ता प्राप्त होने पर उसके मद में अपने कर्तव्यो को भूलकर विलासितापूर्ण जीवन जीते हैं।

इन सबके उपरान्त भी कुछ ऐसे राजा भी हुए हैं जो अपने पद की गरिमा को ध्यान में रखकर अपने अधिकार एव कर्त्तव्य का भली भाँति पालन कर रहे थे। ऐसे राजाओं के लिए धर्म का पालन ही मुख्य ध्येय था।[6] ऐसे राजा जानते थे कि धर्म से प्रजा का पालन करने वाले पापी या निन्दनीय नही होते हैं। अपनी शक्ति, सामर्थ्य को बिना देखे समझे समस्त राजाओ से विरोध लेना उचित नही है। युद्ध में विजय लक्ष्मी अस्थिर रहती है।[7] ऐसे राजा युद्ध में नही अपितु प्रजा के कल्याण में विश्वास करते थे।[8] एक ऐसे राजा का उल्लेख हुआ है जो अपने ही सेनापति की पत्नी पर आसक्त हो जाता है परन्तु वह उसे पर स्त्री मानता है और पर स्त्री का उपभोग करना अधर्म है। अत वह सेनापति के देव । आपके दास की स्त्री आपकी दासी है। वह पर-स्त्री नहीं। मैं स्वय ही उसे भेंट करता हूँ। कहने पर क्रोध से उत्तर देता है—राजा होकर मैं ऐसा अधर्म नही करूगा। यदि मैं ही मर्यादा का उल्लघन करूगा तो कौन अपने कर्त्तव्य-माग पर स्थिर रहेगा ? मेरे भक्त होकर भी तुम मुझे वैसे पाप में क्यों प्रवृत्त करते हो, जिसमें क्षणिक सुख तो है पर जो परलोक में महादु ख का कारण है। यदि तुम अपनी धर्मपत्नी का त्याग

---

1 क स सा 10 4 145 160
2 तथेति तद्विधातु च चकारैव स निश्चयम्।
कष्टो हि बाधवस्नेह राज्यलाभोऽतिवर्तते ॥ 40 — वही 7 7.34-40
3 वही 7 8 87 94
4 आक्रान्तश्चार्पयद्देष तस्मै राजसुताय माम्।
गणयन्ति न राज्यार्थेऽपत्यस्नेह महीभुज. ॥ वही 12 36 17
5 सिद्धा, पृ 13
6 क स सा. 9 2 316 12 24 6 7
7 वही 9 2 373 375
8 तैक्ष्ण्य कृपाणे यस्याभून दण्डे नयशालिन ।
धर्मे च सततासक्तिर्न तु स्त्रीमृगयादिषु ॥ वही 9.3 87

करोगे तो मैं तुम्हें क्षमा नही करूगा क्योंकि मेरे समान कौन राजा ऐसा अधर्म सहन कर सकता है ?" वस्तुत ऐसे उत्तम वृत्ति वाले लोग प्राण भले ही दें वे सत्पथ का त्याग नही करते हैं।[1] ऐसे राजाओ में प्रजा की भी असीम श्रद्धा थी। राजा के प्रति भयवश नही बल्कि आत्मिक समर्पण था [2]

तत्कालीन राजनीति में दल बदल जैसी प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होती है। राजाओं में आपस में गुटबाजी थी। राजा एक पक्ष से दूसरे पक्ष में मिल जाते थे।[3] नेता के विषय में कथासरित्सागर में कहा है बिना नेता का और भाग्य के भरोसे छोडा हुआ एक स्थान अच्छा है किन्तु सर्वनाश करने वाले बहुत नेताओं का होना अच्छा नही है।"[4] एक दृष्टि से तत्कालीन राजा आज के नेताओं के ही प्रतिरूप रहे हैं। राजा बिना अपराध के ही लोगों को दण्ड देने लगे थे। शिल्पियों के राजा उदयन के लिए यथाशीघ्र आकाश यत्र का निर्माण न करने के कारण उन्हें दण्ड देने को कहा गया है—"वध के योग्य नीच व्यक्ति साम और दाम से सीधे रास्ते पर नही लाये जा सकते।"यह राजाज्ञा सुनकर सेनापति ने सभी शिल्पियों को बाँधकर पीटना शुरू कर दिया और कहा—"यथाशीघ्र आकाश विज्ञान यत्र का निर्माण करो।[5] आकाश विज्ञान यत्र के सकटग्रस्त हो जाने पर कुपित राजाओं के बहुत सारे शिल्पियों को कुचलवा देने का उल्लेख भी मिलता है।[6]

यद्यपि लोक जीवन में राजा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उसे स्वामी माना जा रहा था। परन्तु राजा "लोक" के विषय में तनिक भी चिन्तित न था। वह तो अपने जीवन को सुकुमार बनाने के लिए "लोक" का उपयोग कर रहा था। एक दृष्टि से लोक राजा सामत की विलासिता एव सुख सुविधाएँ उपलब्ध कराने का साधन था। राजा मनचाहे कर वसूल कर रहे थे। राजा के मनोविनोद मे स्वय "लोक" आनद का अनुभव कर रहा था। राजा के यहाँ होने वाले हर उत्सव में वह उल्लास मे भाग लेता था। गाकर बजाकर और नृत्य करके अपनी खुशी को अभिव्यक्त कर रहा था। राजा सुरा सुन्दरी में लीन रहते[7] परिचारिकाएँ मदिरा पिलाती कुछ नाचती गातीं तो कुछ हाथ पैर दबाती थी।[8] राजा राज्य का भार मत्री पर डालकर स्त्री मद्य एव शिकार के व्यसनों में डूब चुके थे।[9]

---

1 दासत्वी तत्र दास्येत्र सा देव न परागना।
स्वय चाह प्रपद्यामि तद्भार्या स्वाकुरुष्व मे ॥ 36
तद्दर मृत्युरित्युक्त्वा स राजा निषिषेध तम्।
त्यजन्त्युत्तमसत्वा हि प्राणानपि न सत्पथम् ॥ 42 —क स सा 12 24 35-42

2 वही 12.5 172 179

3 वही 8.5 120

4 वर हि दैवायतैकवृत्तिरनायकम्
न तु विनुपसर्गार्थ विभिन्नबहुनायकम्। वही 3.4 14

5 बृ क श्लो 5 271 273

6 वही 5 274 278

7 क स सा 151 152

8 बृ क श्लो 19 116-120

9 क स सा 31 10

"लोक ही था जो राज्य की नीति-मर्यादा का उल्लघन नही कर रहा था। राजा को सर्वेसर्वा मानकर उसक सुख में सुख एव उमके दुःख में दुख अनुभव कर रहा था।[1] रात दिन उमकी मेवा में तत्पर था। कितना समर्पण कितनी भाव प्रवणता थी उसमें। लोक हृदय नदी मे शुद्ध सात्विक भावो का जल प्रवहमान था। कहीं कोई ठहराव नही, कहीं कोई कलुष नहा। राजनीति की छल कपटपूर्ण भाषा से वह अनभिज्ञ था। सीधा मरल लोक हृदय स्वामी, राजा सामत के अन्तक्लुष को नही समझ सका था। लोक-जीवन में तो यह मान्यता थी कि किसी भी शुभ-अशुभ के कर्म के विषय मे राजा को आग्रह नही करना चाहिए। राजा का शरीर बहुत महत्त्वपूर्ण हे। सभी प्राणी उसके शरीर के अग है अर्थात् राजा से ही सबका भरण पोषण होता है, आग्रह के कुपरिणाम से राजा की ही नही समस्त प्राणियों की हानि होती हे।[2] राजा के बाहर से राजधानी को लौटने पर सम्पूर्ण नगर में हर्षोल्लास मनाया जाता है, नाच गान होता हे मद्यपान की गोष्ठियाँ होती हैं स्त्रियाँ नवीन-वस्त्र पहनती हैं वदी-चारण प्रशसा के गीत गाते हैं।[3] राजा के राजधानी से बाहर जाने पर नगरवासी एव ग्रामीण राजा को पहुँचाने सीमान्त तक जाते हैं, स्त्रियाँ, बच्चे, बूढे सभी रो-रोकर बरसात की भाँति आँसू बहाते हें।[4]

लोक-जीवन मे जन सामान्य अपने स्वामी की रक्षा करना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं। अपने बालक अपनी स्त्री ओर स्वय के प्राणो की वलि देकर भी अपने स्वामी की रक्षा करते हें।[5] इसी में अपने जन्म को भी सफल मानते हैं। ऐसे एक स्वामि-भक्त सेवक की मान्यता है कि राजा का अन्न खाया है अत उसका उपकार करना चाहिए। स्वामि-भक्त लोग पुत्र या अपने प्राणों की चिन्ता नहीं करते हें।[6] इसके बावजूद भी लोग राजा की कामुकता से अनभिज्ञ न थे। श्रावस्ती नगरी का एक अत्यन्त धनी बनिया अपनी सुन्दरी कन्या उन्मादिनी का विवाह करने से पूर्व राजा से अनुमति लेता है, क्योंकि अत्यन्त सुन्दरी कन्या को राजा से पूछे बिना देने पर वह कुपित होगा।[7]

इस प्रकार तत्कालीन राजनीति एव लोक-जीवन के विषय में यह कहा जा सकता हे कि राजनीति छल कपट, अनीति एव भ्रष्टाचार जैसी दुष्प्रवृत्तियों का घर बन चुकी थी। राजा, सामत विलासिता के पक में आकठ डूब चुके थे। अपने कर्त्तव्यों को भूलकर अधिकारों का स्वार्थ सिद्धि में उपयोग कर रहे थे। लोक-जीवन में जन-सामान्य राज्य की नीति, मर्यादा का पालन कर रहा था। यह सिद्ध है कि जो नीति एव नियमों का निर्धारण कर रहा था, वही उमका उल्लघन कर रहा था। राजनीति का सैद्धान्तिक रूप राज-दरबारों

1 क स सा 12 34 209
2 राज्ञा नैवाग्रह कार्य शुभे वाशुभकर्मणि।
तदङ्गानि हि भूतानि राजा हि महती तनु ॥ —शुक श्लो 74, पृ 68
3 क स सा 8 1 184
4 वही 12 16 74 75 16 1 80
5 वही 12 11 128 131
6 वही 9.3 112 180
7 क स सा 3 1 66

में जिह्वा पर था और व्यावहारिक रूप लोक जीवन में था। सामाजिक आर्थिक एव राजनीति का निर्धारक वर्ग तो स्वार्थ लिप्सा में जन सामान्य को भ्रमित कर रहा था। "लोक इस सत्य को इसलिए नही समझ पा रहा था कि प्रथम तो वह राजनीति से दूर था दूसरा वह अत्यन्त ही सरल हृदय था। लोभ मोह क्रोध जैसे विकार उसमें न थे। सुरा सुन्दरी, आखेट, जुआ जैसे विलासितापूर्ण व्यसनों से दूर वह अपनी जीविका कमाने में सलग्न था, उसके हृदय में राजा के प्रति कलुष न था। परन्तु राजा तो लोक की सरलता का निरन्तर स्वार्थ पूर्ति में दुरूपयोग कर रहा था। राजा प्रजा के लिए नही अपितु प्रजा राजा के लिए थी। राजा, सुन्दरी यश एव ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए युद्ध कर रहे थे। प्रजा के लिए युद्ध कभी नही लडे गये हैं। सदैव राजा सामन्त या राजनेता ने अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर मानव जाति को असमय काल के मुँह में धकेला है। फिर भी समग्र प्रजा राजा के लिए लडी है राजा के मन बल को सुदृढ किया एव राजा के लिए अपने जीवन की आहुतियाँ दी हैं। राजा सामत एव कुछ कुटिल बुद्धि के लोगों ने ही सीमा में बाँधकर लोगों पर शासन किया है, अन्यथा लोक जीवन में तो "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना बलवती रही है। यदि भाई भाई या पडौस के खेतिहर किसान जमीन धन के लिए लडे हैं तो ऐसे राजाओ-सामतों से ही सीखकर। व्यक्ति व्यक्ति का शत्रु भी इसीलिए बना है कि उसमें राग द्वेष लालच मोह जैसे भाव उग आए हैं। अन्यथा आदमी इस पृथ्वी पर कितने समय तक रहता है। आपस में प्रेम स्नेह सौहार्द्र दया वात्सल्य एव समर्पण भाव से एक दूसरे के साथ रहता है। राजनीति में सत्ता, धन एव प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए छल कपट झूठ आदि दूषित प्रवृतियाँ उत्तरोत्तर बलवती होता रही हैं।



पंचम अध्याय

धार्मिक जीवन

धर्म   अर्थ एव अवधारणा

लोकधर्म   अभिप्राय

धार्मिक सम्प्रदाय

लोकधर्म

पूर्वजन्म, कर्मवादी एव भाग्यवाद

धर्माचरण

नैतिक मान्यताएँ

अपनीति एव दुराचार

1 धर्म अर्थ एव अवधारणा

"धर्म" शब्द की व्युत्पत्ति धृ धातु पूर्वक मन् प्रत्यय से "ध्रियते लोकोऽनेन धरति लोक वा" अर्थ में हुई है ।[1] लोककल्याण के लिए आचार अनुविधि एव कर्त्तव्य को धारण करना ही धर्म है। धर्म शब्द व्यापक अर्थ लिए हुए है। धर्म के विराट एव व्यापक अर्थ को सदर्भ विशेष के सीमित अर्थ में बाँधना अनुपयुक्त है। जीवन की अनन्तता की भाँति धर्म की भी अनन्तता है। "धर्म" को सर्वमान्य परिभाषा में निबद्ध करना कठिन है। धर्म को निश्चित परिभाषा में निबद्ध करना जीवन को निबद्ध करना है। प्रत्येक व्यक्ति वस्तु का अपना धर्म होता है। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता "यतोऽभ्युदयनि श्रेयसिद्धि स धर्म" अर्थात अभ्युदय एव निश्रेयस् की सिद्धि को धर्म मानते हैं। इहलोक परलोक म जीवन को सुखी और सतुष्ट बनाने के लिए धर्म का सबल लिया जाता है।

धर्म वाछनीय है धम ही व्यक्ति को कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का भेद बताता है और उसी के अनुसार वह सत्कर्म म प्रवृत्त होकर नीति के माग पर चलता है। वस्तुत धम का सम्बन्ध आस्था विश्वास एव सदाचार से है। चाहे वह आस्था परम्परा से मिली हो या आप्तवक्ता से या चमत्कार से सहज उद्भूत हुई हो। धर्म मानव जीवन को राग द्वेष लोभ लालच मोह छल कपट आदि से विमुक्त करके अन्तशान्ति प्रदान करता है। धम बधन नहीं अपितु मानव कल्याण के लिए उड़ान भरने वाला यथार्थ कर्म है। व्यक्ति धम से ही कर्म म प्रवृत्त होकर सदव प्रवहमान जल की भाँति स्वच्छ रहता है।

समुद्र सरिता की भाँति धर्म भी अथाह एव विशाल है उसे निश्चित सीमा म नहीं बाँधा जा सकता है। सीमा में बाँधेगे तो उसमें विषाक्त जीवाणु पैदा हो जायगे जो व्याधियों का कारण बन जायगा। भले हम कहे कि ससार में विभिन्न धम शाखाएँ हैं। वस्तुत धम तो एक ही है। धर्मरूपी जल के विभिन्न स्थलो स उद्भूत नदी नाले निरन्तर प्रवहमान विभिन्न स्थानों म गुजर कर एक स्थल मानव कल्याण रूपी समुद्र तक पहुँचते हैं। सोमेन्द्र ने "चतुर्वर्गसग्रह" म धम के विषय म कहा है "धम मगल के लिए हो। इस धर्मरूपी वृक्ष की "सत्य" दृढ़ शाखा है यह करुणा रूपी अमृत म सिंचित है इसकी शाखि "सहनशीलता" है जो "सुन्दरमति" रूपी लता म अनुवृत्त है इसका मूल (जड) "शील" है पल्लव के समान यह शक्ति को उत्पन्न करने वाला है समान ... रूपी फूल खिलते हैं तथा यह मगलरूपी फल को देने वाला है।"[2] धम अन्तप्राण म उद्भूत निर्मल जल प्रवाह है जिसकी गति म कोई रुकता नहीं और जीवन के कष्ट काल म भी

---

1 सस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे पृ 497
2 चतुर्वर्गसग्रह 1 1

शीतलता प्रदान करता है, धैर्य-च्युत किये बिना तृप्ति की अनुभूति कराता है। स्व-पर का भेद भुलाकर प्राणी-मात्र के कल्याण में ही उसकी परिणति है।

2 लोक-धर्म : अभिप्राय

"धर्म" का वास्तविक रूप वाणी में नही अपितु जीवन क्रिया में है। वाणी में धर्म का अव्यावहारिक रूप होता है। धर्म की क्रिया एव परिणति जीवन क आचार विचार, रहन-सहन, खान पान में होती है। धर्म ताप में तपकर ही जीवन चर्या "सस्कृति" कहलाती है। सदियों से अविच्छिन्न रूप में प्रवहमान धर्म का यथार्थ रूप लोक-जीवन में ही रहा है।

सस्कृत लोककथाएँ धर्म के पारम्परिक यथार्थ रूप को प्रस्तुत करती है। प्रत्येक कथा मे धर्म की आत्मा बोलती है कि धर्म वाणी में नही जीवन क्रिया में फलीभूत होता है। "सिहासनद्वात्रिंशिका" की प्रत्येक कथा अनीति, अधर्म का आचरण करने वालों के प्रति विद्रोह का धर्म के विरूद्ध आचरण करने वाल का सर्वनाश होता है, का स्वर मुखरित हुआ है।

कृत्रिमता से दूर 'लोक" सच्चे सरल हृदय से धर्म का पालन करता रहा है। अपने हृदय की शाति के लिए आस्था, विश्वास से उद्भूत एव पूर्व परम्परा में प्राप्त पूजा-पाठ, व्रत, अनुष्ठान एव विभिन्न देवी देवताओं की आराधना करता है। उसका विश्वास है कि निश्छल भाव से उद्भूत हृदय की पुकार भगवान् अवश्य सुनता है। सस्कृत-लोककथा साहित्य के लोक-जीवन में धर्म का सही, सच्चा, सरल रूप प्रचलित रहा है। लोगों की वाणी के साथ उनके जीवन में धर्म है। प्रत्येक कार्य को आरम्भ करने से पूर्व वे अपने कुल देवता, इष्ट देवता की स्तुति करना नही भूलते हैं। उनके मन में सभी देव देवी समान है। आस्था विश्वास ही धर्म के सृजन-स्रोत हैं। वृक्ष, गाय, नदी आदि में आस्था से ही, उनकी देव देवी रूप में पूजा करते हैं। "समाज, व्यक्ति और धर्म एक ही वस्तु के तीन नाम हैं। एक की अभिव्यक्ति दूसरे की अभिव्यक्ति बन जाती है। लोक का प्रत्येक विश्वास उसकी धार्मिक आस्था पर स्थित है। उस विश्वास की अभिव्यक्ति धर्म, समाज और व्यक्ति तीनो को अपनी परिधि में समेट लेती है।"[1] लोक धर्म आडम्बर, छल कपट और प्रपच से विहीन सरल है। धर्म का तो एक ही रूप होता है—मानव कल्याण। यदि समाज में धर्म के विभिन्न रूप कहे जाते हैं तो उसका कारण स्वार्थी तत्वों का होना ही है। ऐसे तत्वों ने आडम्बर, छल कपट, राजनीति से धर्म के आधार पर विश्व-समाज को विभिन्न वर्गों में विभक्त करके स्वार्थ सिद्ध किया है। आज भी समाज में स्वार्थी तत्व दिन प्रतिदिन तथाकथित नये नये धर्म के बीज बो रहे हैं। वस्तुत ये धर्म के बीज नहीं, अपितु स्वार्थ में पके समाज का विनाश करने की ओर ले जाने वाले विष-बीज हैं।

1 ब्रज और हरियाणा के लोक-साहित्य में चित्रित लोक-जीवन डा. श्रीमती सावित्री वशिष्ठ, पृ 329

3. धार्मिक सम्प्रदाय

संस्कृत लोककथा कालीन लोक जीवन को छोड़कर समाज के उच्च कहे जाने वाले वर्ग में तो धर्म का यांत्रिक रूप ही रह गया था। उच्च वर्ग तो लोक-जीवन के धार्मिक विश्वासों का स्वार्थ सिद्धि में उपयोग कर रहा था।[1] शक्ति प्रतिष्ठा एवं सम्पत्ति सम्पन्न क्षत्रिय, ब्राह्मण एवं वैश्य भगवान्, भाग्य, पुनर्जन्म भवितव्य आदि धार्मिक विश्वासों से जन सामान्य का शोषण करके अपनी विलासिता, ऐश्वर्य सुख सौन्दर्य में अभिवृद्धि कर रहे थे। लोक जीवन में विश्वास की उर्वरा वसुधा पर उद्‌भूत हुए धर्म को कुछ लोगों ने स्वार्थ के लिए भुनाना आरम्भ कर दिया था। मानव जाति के उस सर्वव्यापक सरल सत्य एवं परम धर्म की शास्त्रीय व्याख्या की जाने लगी।[2] धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय बनने लगे। ये सम्प्रदाय व्यक्ति विशेष या जाति विशेष के नाम से कहे जाने लगे। कथा साहित्य में मुख्य रूप से बौद्ध जैन शैव वैष्णव आदि सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। इन्हें धर्म कहा जा रहा था।

समाज में बुद्ध के धर्मोपदेश श्रद्धापूर्वक कहे सुने जा रहे थे।[3] बौद्ध आदर्शों की कथाएँ लोक कथाओं के रूप में प्रचलित थीं।[4] बौद्ध भिक्षुक ग्रामों नगरों में घूमा करते थे।[5] बौद्ध विहारों का उल्लेख मिलता है।[6] समाज में वैदिक धर्म का प्रभाव भी दिखाई देता है। पिता के बौद्ध धर्म को स्वीकार करने पर पुत्र कहता है—"पिता तुम वैदिक धर्म को छोड़कर अधर्म का सेवन करते हो। ब्राह्मणों को छोड़कर भिक्षुओं की सदा पूजा करते हो। स्नान शौच से हीन और अपने समय पर भोजन के लोभी शिखा और केशों को मुण्डवाकर कौपीन पहनने वाले तथा विहारों में स्थान मिलने के लोभ से सभी नीच जाति के व्यक्ति जिस बौद्ध धर्म को ग्रहण करते हैं उससे हमारा क्या प्रयोजन।[7] इससे स्पष्ट होता है कि एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय की आलोचना कर रहे थे। जीविका एवं आराम की प्राप्ति के लिए दूसरे धर्म को ग्रहण कर रहे थे। एक पुत्र को उसके पिता कहते हैं कि "उपकार करना धर्म है इसमें किसी का मतभेद नहीं है। प्राणियों को अभय

1 क. स. सा. 3.6.175-178
2 वही 6.2.9-12, 12.5.94-102
3 वही 12.5.366-368
4 बोधिसत्त्वावदाना विनतेऽपि प्रथ। वही 12.5.161
5 वही 6.1.15-16, 9.5.137-138
6 वही 2.4.149, 10.9.132
7 तात त्यक्त्वा श्रौतधर्ममधर्मं निषेवसे।
यद्ब्राह्मणान्परित्यज्य श्रमणान्सततं नमसि ॥ 18
स्नानादिक्लेशरहितं स्वकालाशनलोलुपाः।
अपास्तशिखाकेशाः कौपीनसुस्थिताः ॥ 19
—वही 6.1.18-20

प्रदान करने के अतिरिक्त और दूसरा कोई उपकार नही है। अत अहिसा-प्रधान मोक्षदायक इस सिद्धान्त में मेरा प्रेम हे तो यह कोनसा अधर्म है।"[1] जैन धर्म के प्रचलित होने के उल्लेख मिलते हैं। जेन धर्म मे भगवान "जिन" की पूजा की जाती थी।[2] जैन साधु भी नगर-ग्राम में घूमा करते थे।[3] बौद्ध-सन्यासी एव जैन साधु एक-दूसरे के धर्म की आलोचना एव निन्दा करने लगे थे। "शुकसप्तति" की एक कथा तत्कालीन बौद्ध-भिक्षुओं एव जैन साधुओं की निम्न मानसिकता को दर्शाती है। सम्मान पाने के लिए वे निम्नतम कार्य करते हे। कथा मे एक बौद्ध-सन्यासी जेन साधु को प्राप्त हो रहे सम्मान को सहन न कर सकने के कारण उसके निवास स्थान में वेश्या भेजकर 'यह वेश्यासक्त सुचरित्र नही है", ऐसी जैन साधु की लोक-निन्दा करता है। उसे देखने के लिए लोगों को बुलता है और कहता है—बौद्ध भिक्षु ही ब्रह्मचारी हैं, जैन साधु तो दुश्चरित्र है। वह जैन साधु भी दीपक से वासगृह को जलाकर रात बीत जाने पर नगा होकर, वेश्या का हाथ पकडे हुए बाहर निकलता है। तब यह लोकापवाद फैल जाता है कि यह तो बौद्ध भिक्षु है, जैन साधु नही है।[4]

"कथासरित्सागर कालीन भारत में बौद्ध-धर्म के स्थान पर हिन्दू-धर्म पुन प्रतिष्ठित हो चुका था। इस धर्म के प्रधान ब्राह्मण थे।[5] देव-देवियों के मदिरों का निर्माण होने लगा था। कथासरित्सागर में यज्ञ के महत्त्व पर बहुत प्रकाश डाला गया है।[6] इसी प्रकार शैव एव वैष्णव धर्म का प्रचलन भी अधिक था। कथा-साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि शिव के समान विष्णु भी प्रतिष्ठित देव रहे हैं। शिव मदिरों की भाँति विष्णु मदिरों के भी उल्लेख हुए हैं।[7] कथासरित्सागर के प्रत्येक लम्बक में शिव अथवा गणेश की स्तुति की गई है।[8] लोग शैव-तीर्थों का भ्रमण करते थे। पुण्य-तीर्थो में शिव की आराधना की जाती थी। नदी क्षेत्र, महादेव-पर्वत, अमर-पर्वत सुरेश्वरी पर्वत, विजय पर्वत आदि स्थानों पर पार्वती पति शिव की पूजा की जाती थी।[9]

---

1 उपकारस्य धर्मत्वे विवादो नास्ति कस्यचित्।
भूतेष्वभ्यदानेन नान्या चापकृतिर्मम ॥ 24
तदहिंसाप्रधानऽस्मिन्वत्स मोक्षप्रदायिनि।
दर्शने तिरातिश्चेन्मे तदधर्मो ममात्र क ॥ 25

—क स सा 6 1 24-25 12.5 121 122

2 वही 6 1 12 12.5 99

3 शुक पचविंशतितमीकथा, पृ 135

4 वही पचविंशतितमीकथा, पृ. 136

5 क स सा एक सास्कृ अध्ययन, पृ 193

6 क स सा 2.5.56 7 7 18 18.5 91 12 15 3 12 6.56 9 6 177

7 वही 7.2 115 7 4.29 37

8 वही ग्रथकर्तु प्रशस्ति श्लोक—9 11 3.5 4 7 6 95 7 1 98 99 6 1 100-102 10 1.2 2 1 1 4 2.117 9.2.122

9 वही 9 1 44-49

4. लोकधर्म

शास्त्रीय एवं तार्किक ज्ञान पर आधारित धर्म से अनभिज्ञ तत्कालीन "लोक" उत्तम मध्यम अधम सभी प्रकार के विकारों में अनासक्त रह अपने कुल क्रमागत धर्म का पालन भली भाँति कर रहा था।[1] मनुष्य के धर्म के विषय में कहा गया है कि वह हर दुखी मनुष्य की सहायता करने वाला ही सर्वोत्तम मनुष्य है। वही लोक में प्रशंसा प्राप्त करता है।[2] संकट में पड़े व्यक्ति की सहायता करना ही सबसे बड़ा धर्म है।[3] धर्म वह है जहाँ सत्य हो और सत्य वह है जहाँ छल न हो।[4] लोक जीवन में धर्म को लेकर अनेक विश्वास प्रचलित रहे हैं। धीर एवं उत्साह सम्पन्न लोग अपने धर्म की अवमानना नहीं करते और देवता उनकी रक्षा करते हैं। उनकी मन कामनाएँ पूर्ण करते हैं।[5] धर्म की रक्षा करते हुए कार्य करने वाले की स्वयं धर्म भी सहायता करता है।[6]

लोक विश्वास पर आधारित लोक जीवन का धर्म शास्त्रोक्त नहीं है। वह लोक हृदय से प्रसूत सरल और स्वाभाविक कुलक्रमागत धर्म है। सत्य भाषण निष्कपट व्यवहार निष्ठा दया क्षमा धैर्य, निर्लोभ अभय ईश्वर भक्ति देवी देवता की पूजा उनके नाम का स्मरण व्रत उपवास अतिप्राकृतिक शक्तियाँ प्राणिमात्र की सेवा आदि लोकधर्म के तत्व हैं। लोक धर्म ही सत्य अर्थ में धर्म है जो बिना किसी लाग लपेट के प्राणी मात्र के कल्याण की क्रिया सम्पन्न करता है। लोक धर्म में नर बलि आदि जैसे तत्व हैं। इस विषय में काका कालेलकर लिखते हैं— केवल बुद्धि के बल पर खड़ा किया गया लोगों में रहने वाले राग द्वेष का लाभ उठाकर जारी किया गया और थोड़े या बहुत ताकतवर लोगों के स्वार्थ को पोषण देने वाला "धर्म" धर्म नहीं है। सस्कारहीन हृदय का क्षुद्र वासना और दम्भ में से पैदा होने वाली विकृति को ढकने वाला शिष्टाचार या चतुराईपूर्वक तर्क से किया हुआ उसका समर्थन भी धर्म नहीं है।"[7]

लोक जीवन में विभिन्न विश्वास ही धर्म के मुख्य आधार रहे हैं। विभिन्न अवसरों पर विभिन्न देवी देवताओं नदी पर्वत वृक्ष गाय आदि को पूज्य मानकर स्तुति एवं पूजा की जा रही थी। विभिन्न तीर्थ स्थलों की यात्रा करना पुण्य माना जाता था।[8] नर बलि का उल्लेख भी मिलता है।[9] विभिन्न व्रत उपवास किये जाते एवं उनका उद्यापन किया

1 "निजान्वयगत स्वधर्म निषेवते।" शुक. प्रभासक्या, श्लो 3
2 मिद्र. पृ 145
3 वही पृ 19
4 "स धर्मो यत्र सत्यं स्यात्सत्यं यत्र न छलम्।" —क स सा 14 1(9
5 [illegible] ।
दैवता अभिरक्षन्ति पूरयन्त्येषां च वाञ्छितम्। वही 125 119
6 [illegible] ।
[illegible] ॥ वही 6 8 31
7 लोक ज स्र. पृ 2
8 क स सा 9 2 239 246
9 वही 13 132 149

जाता था। यज्ञ अनुष्ठान किये जाते थे। अतिप्राकृत-शक्तियों में विश्वास करके उनकी पूजा की जा रही थी। इन सब कार्यों के पीछे प्राणीमात्र का कल्याण अवश्य निहित रहा है। यह प्राणी कल्याण ही धर्म की आत्मा है।

देवी-देवता

सस्कृत लोककथा-साहित्य के लोक-जीवन में देव देवी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन में पदे-पदे सुख दुख में, शुभ या विशिष्ट अवसर पर तथा दैनिक-जीवन में, सोते-उठते, आते-जाते, कार्य को आरम्भ करते समय अभीष्ट देव-देवी का स्मरण करते हैं, स्तुति करते हैं। जनसामान्य का विश्वास है कि जो कुछ करता है, वही (भगवान) करता है। अत दुख में मुक्ति के लिए, सुख में खुशी की अभिव्यक्ति के लिए, दैनिक जीवन में तथा कार्यारम्भ में अमगल निवारण हेतु इष्ट-देव की स्तुति करते हैं। अभीष्ट फल की सिद्धि होने पर भव्य आयोजन करते हैं, ब्राह्मणों को दान देते हैं, व्रत-उपवास रखते हैं। धर्म जीवन का अपरिहार्य अग है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश

आज भी लोक-जीवन में यह विश्वास है कि ब्रह्मा विश्व का सृष्टा है, विष्णु पालक एव महेश सहारक है। ऐसी ही कुछ मान्यता तत्कालीन लोक-जीवन में भी प्रचलित रही है। कहा गया है "जब तक विष्णु, शिव और ब्रह्मा के प्रति मनुष्य में एकता की बुद्धि नही होती, तब तक भेद बुद्धि से की गई उपासना की सिद्धियाँ क्षणिक होती है।"[1] ब्रह्मा, विष्णु एव शिव का समान महत्त्व है अत तीनों की समभाव से उपासना करनी चाहिए। यह पृथ्वी ब्रह्मा, विष्णु एव महेश्वर तीनों देवता का निवास-स्थान है।[2] ब्रह्मा सष्टा है। उसने विश्व की सृष्टि विभिन्न रूपों में की है।[3] विष्णु के साथ इन्द्र एव बृहस्पति की स्तुति भी की गई है।[4]

शिव

सस्कृत लोककथा-साहित्य में शिव का विशेष महत्त्व है। गुणाढ्य की "बृहत्कथा" का स्रोत स्वय शिव है। भगवान् शिव स्वय पार्वती को कथा सुनाते हैं। कथासरित्सागर के विभिन्न लम्बकों के मगलाचरण में शिव की स्तुति की गई है। कई कथाओं में शिव की स्तुति एव पूजा करने का उल्लेख हुआ है जिससे शिव के रूप एव बल की जानकारी मिलती है। अभीष्ट प्राप्ति एव दुख-निवृत्ति के लिए शिव मत्र "ओं नम शिवाय" का जप किया जाता है।[5] तृतीय-नेत्र सर्प तथा भूति से युक्त शिव के विराट अर्द्धनारीश्वर रूप

1 ——भेदोपासनाजास्तावद्भङ्गुरा एव सिद्धय. ॥ 170
तदभेदधिया ध्यायन्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान् ८ ॥ 171 —क स सा. 12 6 170 171

2 यदध्यासितमभ्यर्णपर्वताग्रनिवेशिभि. ।
शृङ्गारकारैस्त्रिभिर्देवैर्ब्रह्मविष्णुमहेश्वरै. ॥ —वही 12 6 96

3 वही 13 1 95 13 1 18

4 वही 17 2.128

5 "वजोंनम. शिवायेति जपञ्शरणमीश्वरम् ।" —वही, 9 3 122

का वर्णन हुआ है।[1] शिव का वाहन वृषभ है।[2] "नगर के आरम्भ में ही शिव मंदिर बने हुए बताये गये हैं। अन्य देवताओं के मंदिरों की अपेक्षा शिव मंदिरों की अधिकता है।"[3] विभिन्न स्थानों पर बने शिव मंदिरों की भक्तगण यात्रा करते थे।[4] शिव मंदिर के मुख्य द्वार पर नन्दी अवस्थित रहता था। लोग नन्दी की भी पूजा करके परिक्रमा करते थे।[5] स्नान करके भगवान् शिव का चिरकाल तक ध्यान कर पूजा करते थे।[6] पुत्र प्राप्ति हेतु शिव को प्रसन्न करने के लिए तप करते थे।[7] अभिलषित कन्या को प्राप्त करने के लिए भी ऋषभ पर्वत पर जाकर एक पैर से खड़े होकर और निराहार रहकर तप करने का उल्लेख है।[8]

शिव गिरिजापति शरण में आए उपमन्यु को स्वेच्छा से दुग्ध समुद्र का दान करने वाले, संसार की उत्पत्ति, रक्षा एवं प्रलय करने वाले एवं अम्भ आदि अष्ट मूर्ति धारण करने वाले कहे गये हैं। शिव के विषय में यह विश्वास था कि वे दिव्य प्रकाशधारी निर्मल जल स्वरूप वाले हैं। निर्दोष व्यक्तियों के द्वारा ही देखे जाने वाले शिव अत्यन्त आश्चर्यमय हैं तथा आधे शरीर में गिरिजा को धारण करने वाले विशुद्ध ब्रह्मचारी एवं संकल्पमात्र से विश्व की रचना करने वाले और स्वयं विश्वस्वरूप हैं।[9]

लोगों का विश्वास था कि शिव की कृपा के बिना इष्ट सिद्धि असम्भव है अतः तप द्वारा शिव की आराधना करते थे।[10] तालाब के तीर पर शिव मन्दिर स्थित थे जहाँ नागर लोग स्नान करते और पुष्प से शिवार्चन करते थे।[11] यह मान्यता थी कि देवाधिदेव महादेव की अर्चना से सभी देवताओं की अर्चना हो जाती है।[12] शिवालय में शिवलिङ्ग के स्थापित होने एवं वहां बकरे को मारकर उसके रक्त में स्नान, रक्त का ही अर्घ्य, अंतड़ियों की माला, हृदय कमल को सिर पर चढ़ाने, आँखों का धूप देकर शिवलिङ्ग की पूजा करने का भी उल्लेख हुआ है।[13] मांस से की जाने वाली पूजा विशेष कही गई

1 क. स. सा. 13.1.2, 12.16.5-8, 15.1.120
2 वही 12.2.37
3 क. स. सा. एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 41
4 क. स. सा. 9.1.23
5 वही 5.2.52-53, 17.2.149
6 पुत्र शिवार्चनरता न विप्रदेव्यनीन्ताम् ।
ध्यात्वा चिरं स्थितस्तत्र कृतस्नानहरार्चन: ॥ — बृ. क. म. 4.72
7 क. स. सा. 7.1.96-97
8 वही 6.4.10-12
9 वही 7.1.98-102
10 अतस्तदर्थं तपसा तमुमाधवमाराधये ।
विना हि तपसा तेन कुतो वाञ्छितसिद्धय: ॥ वही 3.5.4
11 स्नात्वा सरसि तत्तीरगं हरमपूजयत् ॥ वही 4.2.109
12 अर्चितो देवदेवे च सर्वो देवो न कोऽर्चित: ॥ वही 8.2.28
13 मा छागरक्तसारेऽभिस्नानमर्घ्यम् ।
तन्मांसार्घ्यमर्घ्यं च तन्त्रसरसिजैर्चितम् ॥ 213 — वही 12.4.212-213

है।[1] भगवान् शिव के शम्भु, गिरिजापति, कैलाशपति के अतिरिक्त, हाटकेश्वर[2] बृषभध्वजशिव[3] उमापति[4] शङ्कर[5] हटकेशान[6] आदि अभिधान लोक-जीवन में प्रचलित रहे हैं। जीवन में पद पद पर शिव की स्तुति की गई है। जब भी कष्ट सामने आया, शिव का स्मरण किया और शिव ने अदृश्य या साक्षात् रूप में भक्तों की सहायता की है।

लोक-जीवन में यह विश्वास प्रचलित रहा है कि महाकाल कैलाश को छोडकर उज्जयिनी में निवास करते हैं। शिप्रा नदी में स्नान कर महाकाल की पूजा करने के उल्लेख हुए हैं।[7] एक जुआरी प्रतिदिन जुए से धन जीतकर शिप्रा नदी में स्नान कर और महाकालेश्वर शिव की पूजा करके ब्राह्मणों, दीनों और अनाथों को दान देकर चदन, इत्र, भोजन, ताम्बूल आदि का व्यवहार करता है।[8] आज भी उज्जयिनी में भगवान् महाकाल का विराट मन्दिर है। हजारों लोग प्रात साय शिप्रा में स्नान करके महाकाल की पूजा करते हैं। कार्तिक पूर्णिमा को मेला भी लगता है। "महाकाल" शिव का ही अभिधान है या शिव के गण का नाम है। आज लोग महाकाल शिव को ही मानते हैं। कथासरित्सागर एव बृहत्कथाश्लोकसग्रह में सकेत मिलता है कि महाकाल भगवान् शिव के एक गण का नाम है जो कैलाशपुरी को छोडकर उज्जयिनी में शिप्रा के तट पर निवास करता है।[9]

विष्णु—

विष्णु की भक्तवत्सल के रूप में स्तुति की गई है। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी एव वाहन गरुड है।[10] विष्णु अपने निश्छल भक्तों के कष्ट की उपेक्षा नहीं करते हैं और यही नहीं लोक और परलोक में भी अपने भक्त की रक्षा करते हैं।[11] विष्णु में लोगों की अटूट आस्था है, कमल से कमलापति (विष्णु) की पूजा करते हैं।[12] पास में लक्ष्मी एव चरणों के पास बैठी हुई धरित्री से शोभित, शरीरधारी शख, चक्र, गदा और पद्म आदि शस्त्रों व चिह्नों से सेवित, गन्धर्वों और नारद आदि से गाकर स्तुति किये जाते हुए, सामने बैठे गरुड से सेवित और शेषनाग की शय्या पर सोये हुए विष्णु हैं, आकाश जिसका शिर है, दिशाएँ कान हैं, सूर्य और चन्द्रमा नेत्र सारा ब्रह्माण्ड उदर हैं और उन्हें ही परम पुरुष कहा जाता है। सारा भूत सघात प्रलयकाल में विष्णु में उसी प्रकार समा जाता है जिस प्रकार सायकाल

1 क स सा 12 2 156
2 वही 17.5 154
3 वही 16 1 82
4 वही 9 2 15
5 वही 12 1 2
6 वही 12 6 104
7 बृ क श्लो 2 67, क स सा 7.3 23 18 2 69 115
8 क स सा 7 3 4 5
9 यस्या वसति विश्वशो महाकालवपु स्वयम्।
शिथिलीकृतकैलाशनिवासव्यसनो हर ॥ वही 2 3 32, बृ क श्लो 1 3-4
10 "तत्क्षण गुरुडारूढा भगवान् भक्तवत्सल ॥" क स सा 7 4 58 8 6 78
11 वही 3 3 11 12 8 1 154
12 वही 9 4 19 20

के समय पक्षियों का समूह महावृक्ष में समा जाता है और अनन्तवेला से क्षुब्ध होकर समुद्र जैसे तरंग उत्पन्न करता है वैसे ही विष्णु भी अपने अंश से इन्द्र आदि लोकपालों को उत्पन्न करते हैं। ऐसे विष्णु भगवान् विश्व रूप होकर भी अ रूप है विश्वकर्मा होकर भी अक्रिय (कर्म रहित) है, विश्व के आधार होकर भी स्वयं आधार रहित है।[1] इस प्रकार विष्णु को सर्वव्यापक कहा गया है। लोगों का विश्वास रहा है कि भगवान् तो कण कण में हैं वह अदृश्य रहकर भी सब कुछ घटित को देखते हैं। यह विश्व उसी से उद्भूत होता है और उसी में समा जाता है।

गणेश—

लोक जीवन में किसी भी कार्य का आरम्भ करने से पूर्व अमंगलनाश एवं सिद्धि हेतु गणपति की स्थापना करके स्तुति किये जाने की परम्परा रही है। कथा साहित्य में भी यह परम्परा प्रवहमान दिखाई देती है। कथासरित्सागर बृहत्कथामंजरी एवं बृहत्कथाश्लोकसंग्रह के लम्बकों में गणपति की स्तुति की गई है। "शिव एवं विष्णु के समान ही गणेश भी उस समय के प्रधान देवताओं में से थे। महाकवि सोमदेव ने शिव के साथ साथ गणेश की स्तुति भी प्रत्येक लम्बक के आरम्भ में की है।"[2] गणेश विघ्ननाशक[3] एवं सिद्धि प्रदाता[4] माने गये हैं। गजानन नम्र भक्तों के समस्त दुःखों एवं विघ्नों को दूर करने वाले समस्त सिद्धियों के दाता एवं पाप रूपी समुद्र से पार लगाने वाले हैं जिसका विशाल उदर रूपी घड़ा समस्त सिद्धियों के भण्डार के समान है और जिसके शरीर पर सर्पों के आभूषण हैं[5] एवं लाल लाल सूँड रूपी मुड़े हुए हाथ सिद्धियाँ वितरण करने वाले कहे गये हैं।[6]

कथासरित्सागर की एक कथा में स्त्रियों के उद्यान के पेड़ों की झुरमुट में सिद्धिदाता वरदानी गणेशजी की मूर्ति स्थापित है जो भक्तों की मनकामना पूर्ण करते हैं। कन्याएँ वहाँ जाकर अभिलषित योग्य वर को प्राप्त करने के लिए विनायक की पूजा करती हैं। गणेश की पूजा के बिना किसी को कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। बिना गणेश पूजन के देवताओं को भी सिद्धि सम्भव नहीं है। एक कन्या दूसरी को कहती है—"तू भी उचित पति की प्राप्ति के लिए उनका (गणेश) पूजन कर। गणेश पूजन से ही शिवजी के अमोघ वीर्य से अग्नि को गर्भ रहा तथा इन्द्र के हाथ खुले।[7]

1 क स सा 7.45.9 86.73
2 क स सा एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ 196
3 क स सा 12.1.1
4 वही 7.1.1.2
5 नम्रप्रणयिनां दुःखविघ्नोपघ्नाय वारणाननम्।
काले सर्वसिद्धिदाता दुरितार्णवतारणम्॥ वही 11.1.1
बिभ्राण सर्वसिद्धीनां निधानमिव कम्बुकम्।
पृथुलं तुन्दिलं तं वै वन्दे (?) ॥ वही 12.6.3.4
6 वही 14.1.2, 15.1.1.2
7 न विना देवि हेरम्बं कस्यचित् सिद्धि रिष्यते।
हेरम्बेऽर्चिते तत्सम्यक्कर्म सिद्धिप्रदायिनी॥ 100॥ —वही 3.6.55.100

गणपति विघ्ननाशक देव हैं। अत ब्रह्मा भी जगत् के निर्माण की निर्विघ्न सिद्धि के लिए गणेश का स्मरण करते हैं।[1] श्रेष्ठ सिद्धियों को धारण करने वाले गणेश के चरण कमलों की त्रिभुवन में रहने वाले सुर असुर एव मनुष्य पूजा करते हैं।[2] ऐसे गणपति का अथा की सिद्धि का कोष, लम्बोदर, गजानन, सर्प का यज्ञोपवीत धारण करने वाला, समस्त लोकों की शरण शङ्कर के दुलारे तथा घटोदर, सर्पकर्ण, गणाध्यक्ष, मदोत्कट, पाशहस्त, अम्बरीष जम्बक, त्रिशिखायुध इस प्रकार उन-उन स्थानों में प्रसिद्ध अडसठ नामों से अभिहित किया है। देवता एव दैत्य भी गणेश का स्मरण करते हैं। गणेश का स्मरण, स्तुति करने से समस्त राजकुल, जुआ, चोर, अग्नि और हिंस्र जन्तुओं का भय नहीं रहता है।[3]

लोग गणेश मूर्ति की मन्दिरों में जाकर पूजा करते हैं। एक व्यक्ति भूख से पीडित होकर अपने आराध्य गणेश की मूर्ति को पटककर खण्ड-खण्ड करने के लिए जैसे ही उठाता है त्यों ही वह प्रसन्न होकर गणेश (मूर्ति) उसे कहते हैं—"प्रतिदिन शक्कर और घृत मिश्रित पाँच मण्डक दिया करूँगा, तू प्रात मेरे मन्दिर में आया कर।[4] इससे भगवान् एव भक्त के बीच अत्यधिक सामीप्य एव स्नेह स्पष्ट होता है। भक्त अपने आराध्य से अधिकारपूर्वक माँग रहा है एव देव उसे प्रदान कर रहा है।

कामदेव—

कामदेव को मदन (प्रेम) का देवता कहा गया है। कामदेव के मन्दिर के उल्लेख से उसकी मूर्ति होना सिद्ध होता है। लोग रति और प्रीति देन वाले कामदेव के मन्दिर में जाकर उसकी मूर्ति को नमन कर स्तुति करते हैं।[5] कामदेव का बाण पुष्प है अत उसे पुष्पधन्वा भी कहा जाता है। उसका सिपाही कोकिल है।[6] कन्याएँ अभिलषित मनोगत वर की प्राप्ति के लिए भगवान् काम के समक्ष याचना करती हैं। प्राय कन्याएँ ऐसी प्रार्थना अकेले ही काम की पूजा करके करती हैं। एक कन्या अपनी सखियों आदि को कामदेव के मन्दिर के बाहर ही रोककर अकेली कामदेव की पूजा करके कहती है—"हे पूज्य काम। आपका नाम मनोभव है और फिर भी मेरे मन में विद्यमान प्रियतम को आप नही समझ सके। उनके साथ विवाह नही करा सके। दूसरे वर के साथ वैवाहिक निर्णय के कारण मुझे चोट पहुँची है। इस जन्म में अभिलषित वर को पूरा करने में यदि आप समर्थ न हो सके तो दूसरे जन्म में उसे पूरा करने की अवश्य कृपा करें।"[7] मन अभिलषित को पूरा करने के लिए कामदेव से जन्म जन्मान्तर के लिए प्रार्थना की जाती है। कामदेव के

1 निर्विघ्नविश्वनिर्माणसिद्धये यदनुग्रहम्।
मन्य स वत्र धातापि तस्मै विघ्नजित नम: ॥ क स सा 3 1 1
2 वही 12 33 44-45
3 वही 9 5 160 169
4 शुक षप्ततमीकथा, पृ 43-46
5 क स सा 11 1 16 17
6 पुष्पचापप्रतीहारश्चूतयष्टि विलोकयन्।
कणन्मानवतीमान निषिधेव कोकिल ॥ वही 16 1 6
7 वही 13 1 134 137

अभिलषित वर को प्रदान करने पर एवं विवाह के समय कन्याएँ कामदेव की पूजा करने के लिए मन्दिर को जाती हैं।[1] यह प्रथा रही है कि प्रत्येक कन्या विवाह के समय कामदेव के मन्दिर में जाकर उसकी पूजा करे।

अन्य देवता—

लोक कथा साहित्य के लोक जीवन में ब्रह्मा विष्णु शिव गणपति कामदेव के अतिरिक्त इन्द्र सूर्य अग्नि महायक्ष चित्रगुप्त कार्तिकेय वरुण कुल देवता वृक्ष नदी पर्वत आदि में रहने वाले विभिन्न देवों की स्तुति की जाती रही है। सहस्र नेत्र वाला इन्द्र इन्द्रलोक में रहता है।[2] लोग सूर्य की अर्चना करते हैं। "समाज में कुछ लोग सूर्योपासक भी थे। उनके अनुसार सूर्य की सत्ता सर्वोपरि और असीम थी।"[3] सूर्य ही लोक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त करता है। सूर्य ही उनके लिए समय की घड़ी है। उसी के अनुसार अपने कर्म एवं दिनचर्या का निर्धारण करते हैं। उच्च आकाश में शयन करने वाले परम ज्योति स्वरूप प्रभु आन्तरिक एवं बाह्य अंधकार को दूर करने वाले सूर्य देव ही हैं। सूर्य ही तीनों जगत् में व्याप्त विष्णु हैं वह ही कल्याणों का कोष शिव रूप हैं वह ही सोये हुए विश्व को कर्म में प्रवृत्त करने वाला परम प्रजापति है। प्रकाशविहीन अग्नि एवं चन्द्रमा में अपना तेज रखकर रात्रि में अन्तर्हित हो जाने वाले चमकीले सूर्य के उदय होने पर राक्षस भाग जाते हैं। सूर्य ही तीनों लोकों का एकमात्र प्रदीप है जो जीवन के आन्तरिक एवं बाह्य दुःख रूप अंधकार को नष्ट कर देता है।[4]

वाराणसी के विश्वनाथ[5], अग्निदेवता[6] महायक्ष[7] चित्रगुप्त[8] कार्तिकेय[9] आदि की स्तुति की जाती रही थी। वरुण जल का देव है। अतः वर्षा न होने पर वरुण के लिए यज्ञ किये जाते थे।[10] कुल देव देवी की पूजा की जाती थी।[11] वृक्ष को भी देव रूप मानकर पूजा की जाती थी। लोगों का मानना था कि वृक्ष में देवता निवास करते हैं। वट वृक्ष को देव रूप माना गया है एवं वृक्ष देव की प्रदक्षिणा भी की जाती थी।[12]

---

1. क. स. सा. 13.1.129
2. वही 19.2.1-9, 12.5.341, 12.34.227
3. क. स. सा. एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 196
4. तुभ्यं परमाकाशशायिने ज्योतिषे विभो। आभ्यन्तरं च बाह्यं च तमः प्रणुदते नमः॥ 29
   त्वं विष्णुस्त्रिजगद्व्यापी त्वं शिवः श्रेयसां निधिः। सुप्तं विश्वमिदं येन परमस्त्वं प्रजापतिः॥ 30
   अप्रकाशौ प्रकाशाय... दर्पितः यामिनीम्॥ 31
   क. स. सा. 9.6.28-32, 16.2.89-107
5. वही 18.1.59-60
6. वही 6.5.114
7. वही 2.5.165
8. वही 12.5.322
9. वही 8.6.217, 7.5.173, 1.2.143, 9.1.205
10. सिंह ह. पृ. 51
11. गुप्त, चन्द्रोदय पृ. 54-56
12. क. स. सा. 5.3.10, 3.6.26

पार्वती—

कथा साहित्य म शिव पार्वती की साथ साथ स्तुति की गई है। पार्वती शिव के आधे शरीर में निवास करती ह अथात आधा शरीर पार्वती का है। वैसे तो मन्दिरों में शिव पावती दोना की मूर्तियाँ स्थापित होती हैं। कथा-साहित्य में गौरी के मन्दिर होने के उल्लेख है। पार्वती को सौभाग्य एव सतीत्व की अधिष्ठात्री देवी एव ससार की सभी स्त्रियों की शरणदायिनी तथा दुखों का नाश करने वाली कहा गया है।[1] स्त्रियाँ योग्य पति एव पुत्र प्राप्ति के लिए व्रत, उपवास करती है पार्वती के मन्दिर में जाकर पूजा करती हैं और गारी उन्हें वर प्राप्ति एव पुत्र प्राप्ति का वरदान देती है।[2] कथासरित्सागर में गौरी के उत्तम मन्दिर का उल्लेख है जो दक्खिन गारीतीर्थ नाम के सरोवर से प्रसिद्ध है जहाँ प्रतिवर्ष की आषाढ शुक्ल चतुर्दशी को मेला लगता है। भिन्न भिन्न स्थानों से लोग वहाँ स्नान करने के लिए आते हैं।[3]

चण्डिका—

लोक जीवन में चण्डिका देवी के प्रति अत्यधिक विश्वास रहा है। यह सम्भवत इसलिए भी कि चण्डिका देवी का उग्र रूप है। यह देवी महिषासुर मर्दिनी ससार का उद्धार करने वाली भक्तो का कल्याण करन वाली तथा काली ककालिनी, शिवा आदि विशेषणों से भी अभिहित की जाती थी।[4] लोग देवी चण्डिका के मन्दिरों में जाकर पूजा करते एव नर बलि देते थ।[5] मनोरथ सिद्धि के लिए तप-उपवास करते थे। दुखों से विमुक्ति हेतु उसका स्मरण करत थे।[6] लोगों का मानना था कि देवी चण्डिका ही समस्त प्राणियों की प्राणशक्ति है उसके कारण यह सारा ससार जीवित है और वही सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम उत्पन्न हुई स्वय शिव ने उसे देखा। देवी चण्डी ही विश्व को उत्पन्न करके अपने प्रचण्ड तेज मे उग्र और अममय में उत्पन्न नवीन करोडों सूर्यों की पक्ति समान प्रादुर्भूत हुई। वह खड्ग, खटक धनुष और शूल आदि धारण करती है। लोग चामुण्डा की चण्डी, मगला त्रिपुरा और जया आदि नामों स स्तुति करते हैं। देवी-चण्डिका ही एक अश रहित शिवा, दुर्गा, नारायणी, सरस्वती भद्रकाली, महालक्ष्मी, सिद्धा रुद्र दानव का नाश करने वाली है। चण्डी ही गायत्री, महाराज्ञी रेवती, विन्ध्यवासिनी, उमा, कात्यायनी और शर्व पर्वत की निवासिनी है।[7]

---

1 व्यजिज्ञपच्च देवीं ता देहत्यागोन्मुखी सती।
देवा सौभाग्यचारित्रविधानैकाधिदेवते ॥ 37
अध्यासितशरीरार्धे भर्तुर्मारिरिपोरपि।
अशेषललनालोकशरण्ये दुखहारिणी ॥ 38 — क स सा 12.13.37 38

2 वही 6.5 11 12 23 41 6 8 253 7 8.56

3 वही 12 13.5 7

4 वही 5.3 145 147

5 वही 5 2 86 12 13 27 21

6 वही 14 4 84-86 7 8 101 102

7 वही 9 3 166 172

देवी चण्डिका का रूप ही भीषण नहीं है अपितु उसके मन्दिर भी अत्यधिक भीषण हैं। मन्दिरों में लटकी घण्टियाँ के शब्द मानो मृत्यु का आह्वान करते हैं। मन्दिर भयानक मृत्यु मुख के समान थे दीपकों की लौ लपलपाती जिह्वा के समान तथा घण्टों का समूह दाँतों की पंक्ति के समान जान पड़ता है।[2] देवी के मन्दिर में त्रिशूल लगे होते थे। देवी ने त्रिशूल से ही दुर्दान्त दैत्यों को मारकर उनको शान्त शमित किया था। उन असुरों का रक्त देवी के चरणों में आलता के समान शोभित होता था।[3] दुर्दान्त महिषासुर का मर्दन भी इसी देवी ने किया था।[4] अभीष्ट सिद्धि एवं मन्त्र सिद्धि के लिए लोग देवी की स्तुति कर नर बलि देते हैं।[5] लोक जीवन में देवी चामुण्डा को कुल देवी के रूप में पूजा जाता था उसकी मूर्ति स्थापित की जाती थी।[6] चण्डिका की ही समरूप दुर्गा[7] एवं अम्बिका देवी[8] की पूजा का उल्लेख भी हुआ है।

अन्य देवियाँ—

पार्वती अम्बिका आदि देवियों की भाँति विन्ध्यवासिनी देवी की मूर्ति पूजा की जाती रही है। दूर दूर से यात्री विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन करने के लिए आते रहे हैं।[9] विन्ध्यवासिनी देवी को भी नर बलि दी जाती थी।[10] उसके मन्दिर को भी चण्डिका देवी के मन्दिर के समान काल भवन कहा गया है जहाँ व्यक्ति स्वयं की बलि तक दे देते हैं।[11] इस देवी को प्रसन्न करने के लिए निराहार रहकर कठिन तप भी करते हैं।[12] देवी में अटल विश्वास है। इच्छित को न पाने की स्थिति में शरीर को व्यर्थ समझकर त्याग देने की सोचते हैं। लक्ष्मी को धन की देवी एवं उसकी बहिन अन्नपूर्णा को अन्न की देवी के रूप में स्तुति की जाती रही है।[13] विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के प्रति लोगों की अटूट निष्ठा थी।[14] गायत्री देवी की भी पूजा की जाती थी।[15] ज्ञान बुद्धि

---

1 ते च त प्रायशामासुर्चण्डिकामठ भीषणम्।
उपहारय घण्टाना गौर्मृत्युरिवाह्वयन्॥ क स सा 2 2 169
2 वही 12 34 300 302
3 वही 12 34 303 7 4 44
4 वही 7 3 46
5 वही 10.5 158 161 10 9.81-84 बृ क म 13.213
6 क स सा 12 28 29 30
7 वही, 12 6 110-111
8 वही, 17 1 72
9 वही 7 8 117 9 5 213 9 2 169 1 3 127 1 3 39
10 वही 12 5 16-19
11 वही 9 4 163 7 8 104
12 वही 9 4 161
13 सिद्ध पृ 47-48 क स सा 2 7 11
14 क स सा 2 3 60
15 वही 14 1 30
16 शुक सप्तति पृ 1 क स सा 13 1 3

प्रतिभा, विवेक नैपुण्यादि से सम्पन्न शारदा देवी कवीन्द्रो के मानस कमलों में बसने वाली भ्रमरी तथा सहृदयों को आनन्दित करने वाली शब्दमूर्ति की देवी है।[1] कात्यायनी देवी की पूजा भी की जाती रही है।[2]

विद्याधर—

संस्कृत कथा साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोक जीवन में विद्याधर की गणना भी देव में की जा रही थी। विद्याधर मनुष्य एवं देवता के बीच की एक योनि विशेष रही है। इनकी अतिप्राकृत शक्ति के कारण ही लोक जीवन में इन्हें देव समरूप माना जा रहा था।

लोक जीवन में स्थान स्थान पर विभिन्न देवी देवताओं के मन्दिर बने थे। जहाँ निरन्तर पूजा होती रहती थी। प्रत्येक देवी देवता का अपना विशिष्ट स्थान था। परन्तु यह अवश्य स्पष्ट होता है कि जिस समय जिस देवता की पूजा, स्तुति की जा रही होती थी, उस को सर्वोपरि सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वशक्तिमान मान लिया जाता था और अन्य देवी देवता को गौण मानने लगे थे। मैक्समूलर ने ऋग्वेद की इसी बात को "हीनोथीज्म" कहा है। लोगों का देवी देवताओं में अटूट आस्था एवं अटल विश्वास था। उनका मानना था कि सब कुछ देवी देवता के अधीन है। अतः जीवन में पग पग पर इनकी स्तुति करते हैं, पूजा करते हैं, यज्ञ करते हैं, दान देते हैं एवं नर बलि तक देते हैं। विश्वास के कारण ही वे वृक्ष, नदी, गाय आदि को भी देव देवी रूप मानकर उनकी पूजा करते हैं।

5. पूर्वजन्म, कर्मवाद एवं भाग्यवाद

संस्कृत लोककथा कालीन लोक जीवन में पूर्वजन्म, कर्मफल, भाग्य एवं पुरुषार्थ में अटूट विश्वास है। मनुष्य का इस जीवन में जो रूप है, उसका आचार व्यवहार एवं सुख दुःख है उसके कारणों में पूर्वजन्म के किये कर्मों के फल, भाग्य एवं पुरुषार्थ हैं। इन तीनों के अनुकूल होने पर जीवन सुखमय एवं सफल है तथा प्रतिकूल होने पर जीवन दुःखों से भरा पूरा एवं असफल होता है।[3]

मनुष्य कर्म का जो बीज पहले बोता है वह निश्चय ही उसका फल भोगता है। पूर्व में किये कर्मों के फल को विधाता भी नहीं टाल सकता है। दैवयोग से जिसके लिए जहाँ जो और जैसा भवितव्य है उसे वह वहीं और उसी प्रकार भोगने के लिए विवश है।

---

1 क स सा 12 14 45

2 वही 2 1 69 5 1 5 5 1 16 5 1 17 8 1 10 5 2 263

3 ईदृशा अपि जायन्ते संसारे पूर्वकर्मभिः।
तत्समात्मनिदं धात्रा कृतं यन्नदृशं कृतम्॥ 30
यो दैवनिश्चितं भागं लङ्घयन्त्यथवेत्य सः।
विरूपशर्मा शनकैस्तत स्थानाद्ययौ गृहम्॥ 31 — वही 7 6 30 31 7 7 24

इसमें कोई सन्देह नहीं है।[1] तीनों लोकों में अच्छे और बुरे भिन्न भिन्न प्रकार के प्राणी अपने कर्मों के अनुसार शुभ और अशुभ फल प्राप्त करने के लिए विवश हैं।[2] मनुष्य का चित्त शुद्ध होना चाहिए। धर्मवृक्ष के मूल तत्व के शुद्ध अशुद्ध होने पर उसको उसी प्रकार का फल मिलता है।[3] पूर्वजन्म के कर्म एवं पुनर्जन्म में सम्बन्ध बताते हुए डॉ. पाठक लिखते हैं कि "मनुष्य जो भी कर्म करेगा उसका फल अवश्य भोगना होगा चाहे इस जीवन में या अगले जीवन में। जब तक कर्मफल निःशेष नहीं होता तब तक प्राणी जन्म मरण के चक्र से मुक्त नहीं हो सकता। हमारा वर्तमान जीवन अतीत जीवन के कर्मों का परिणाम है और इस जीवन में हम जो कर्म कर रहे हैं और वह भावी जीवन के स्वरूप का निर्धारित करेगा।"[4] बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में भाग्य के विषय में कहा गया है कि पूर्वभवकृत शुभाशुभ कर्मों के फल ही "भाग्य" है। देहधारियों में जो लक्षण रहते हैं वे "भाग्य" कहे जाने वाले पूर्वकृत कर्मों के लक्षण हैं। किसी उद्यम विहीन पुरुष का भाग्य फलवान नहीं होता है। भाग्यवानों के लिए भी काल और कारण के संयोग की अपेक्षा बनी रहती है। जैसे धनुर्धर के बिना धनुष और बाण छोड़ने के बिना बाण निष्फल है वैसे ही पौरुष के अभाव में पुरुष का भाग्य फल सत्वयुक्त होते हुए भी निष्क्रिय है।[5] इस प्रकार पूर्वजन्म के कर्मों का फल और भाग्य एक ही है। सिंहासनद्वात्रिंशिका में कहा गया है कि कर्म और भाग्य साथ साथ चलते हैं। भाग्य प्रबल है पर इंसान कर्म न करे तो भाग्य डूब जाता है। मनुष्य कर्म करता रहे और भाग्य साथ न दे तो कर्म का फल नष्ट हो जाता है। कर्म और भाग्य का यही सम्बन्ध है।[6]

इस प्रकार मनुष्य के इस जन्म के कर्मों का फल भी पूर्वजन्म में किये कर्मों पर अधिक निर्भर करता है। इस जन्म के कर्मों पर पूर्वजन्म के कर्मों के फल की छाया रहती है। इसके लिए पुरुष को धैर्य रखना चाहिए। जैसे हवा पर्वत का कुछ अनिष्ट नहीं कर सकती है उसी प्रकार जो धीर पुरुष अडिग रहते हैं विधाता उनका अनिष्ट नहीं कर सकता

---

1. यत्कर्मबीजमुप्तं यत् पुरा निश्चितं स तद्भुङ्क्ते
पूर्वकृतस्य हि [illegible] विधिनापि न कर्तुमन्यथा ॥ 79॥
तस्मादत्र यथा यद्भवितव्यं यस्य दैवयोगतः।
तत् तदा [illegible] विकारोऽसौ [illegible] न शान्ति ॥ 80॥ — वही 12.1.79-80
2. वही 6.1.77
3. वही 6.1.123-132
4. संस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्व, पृ. 43-44
5. [illegible] ।
[illegible] दैवमाहुर्विचक्षणाः ॥ 50॥
[illegible] ।
[illegible] पूर्वकर्मजः ॥ 51॥
न [illegible] दैवं [illegible] कर्मवित्
[illegible] ॥ 52॥
यथा धनुर्धरमुक्त यथा [illegible]
[illegible] दैवमप्येवम् ॥ 54॥ — बृ. क. श्लो. 21.50-55
6. सि. द्वा. पृ. 37

है।[1] प्रत्येक मनुष्य का भाग्य और कर्म स्वयं उसके पास होता है।[2] अतः व्यक्ति के प्रत्येक जन्म में सुकर्म करने चाहिए और बिना उद्योग के सिद्धि भी संभव नहीं है।[3] यह सत्य ही है कि साहसिक कार्यों का आरम्भ करने वाले वीरों के लिए विधाता स्वयं ही उपयोगी सामग्री घटित कर देता है।[4] दैव के अनुकूल होने पर मनुष्य का अपना ही बल और साहस लक्ष्मी को दृढ़पूर्वक आकृष्ट करने का महामंत्र हो जाता है[5] और यदि विधाता वाम होता है तो यत्नपूर्वक सीखे हुए गुण भी सुखकर नहीं होते, बल्कि दुःख के कारण बन जाते हैं। पौरुष का वृक्ष तभी फल देता है जब भाग्य रूपी उसकी जड़ विकार रहित हो, वह नीति के थाले में स्थित हो और ज्ञान के जल से सींचा गया हो।[6] जो भाग्यहीन होते हैं वे बहुत कष्ट उठाकर भी कोई फल नहीं पाते हैं, क्योंकि विधाता ही उनके प्रतिकूल होता है।[7]

दैव या विधाता किसी शक्ति प्राप्त देव विशेष का नाम नहीं अपितु पूर्वजन्म के कर्मों का फल ही दैव है।[8] यह तो सत्य ही है कोई जैसा बीज बोयेगा वैसा ही वृक्ष और उसी के अनुरूप फल प्राप्त करेगा। यह तो स्वयं व्यक्ति के अधीन है कि वह आम के बीज बोये या बबूल के। बोये गये बीज का फल ही भवितव्य है अर्थात् वह होकर के रहेगा। व्यक्ति बबूल के बीज बोकर आम के फल प्राप्त करना चाहे तो यह असंभव है। बबूल के बीज बोकर बबूल के कांटों के लिए "भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र" कहना उपयुक्त ही है। यही होनहार है जिसे कोई नहीं मिटा सकता है।[9] अतः सिद्ध ही है कि मनुष्य की समृद्धि एवं विपत्ति, जीवन और मरण का कारण दैव है।[10] काम चाहे जितना ही कठिन हो दैव की अनुकूलता होने पर वह अपने आप ही सिद्ध हो जाता है।[11] दैव ही मनुष्य के उत्थान और पतन से क्रीडा करता है यह आश्चर्य है।[12]

इस लोक में सभी प्राणियों का शुभ अशुभ फल अपने अपने पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार होता है।[13] पूर्वजन्म के कर्मों के सिवा कोई किसी को कुछ देने वाला नहीं है।

---

1 क. स. सा. 12.7.104-106

2 वही 3.5.1-2

3 "नान्यथाह्युद्योगसिद्धिः स्यादनुद्योगे च निश्चितम्।" वही 3.1.56

4 चित्रं धातैव धीराणामारम्भोद्दामकर्मणाम्।
परितुष्येव सामग्रीं घटयत्युपयोगिनीम्॥ वही 3.4.359

5 वही 3.4.406

6 वही 12.29.42-44

7 न सर्वथा ह्यभव्यानां कृतः क्लेशः सतामपि।
न फलाय विधिस्तेषु तथा वामो हि वर्तते॥ वही 4.2.6.163

8 वही 7.6.78

9 वही 5.3.23-24, 17.4.143, 12.7.203-205, 8.6.195

10 शुक सप्ततिकथा, पृ. 46-48, क. स. सा. 9.4.130-135

11 "इत्थं सुदुष्करमपि स्वरसेन कार्यं सिद्ध्यत्यनुग्रहवतामिह दैवतानाम्।" वही 12.2.184

12 "चित्रमुच्छ्रायपाताभ्यां क्रीडतीव विधिर्नृणाम्।" वही 9.4.96

13 क. स. सा. 7.6.113-114, बृ. क. श्लो. 4.109-114

प्रत्येक प्राणी गर्भ में प्रवेश के समय से पूर्वजन्म के कर्मों का भोग करता है।[1] यदि किसी को पूर्वजन्म का स्मरण रहता है वह पूर्वजन्म के तप का प्रभाव ही है।[2] मरते समय मनुष्य की जैसी भावना होती है अगले जन्म में वह रूप पाता है।[3] जिसका चित्त जिसमें लगा रहता है वह उसी के अनुरूप फल पाता है।[4] पूर्वजन्म के संस्कारों का भी इस जन्म में प्रभाव रहता है। पूर्वजन्म के उत्तम संस्कारों से प्राप्त सिद्धि के कारण भाग्यशाली व्यक्तियों के प्रयोजन बिना कष्ट या विघ्न के ही सिद्ध हो जाते हैं।[5] इस जन्म या पूर्वजन्म के किए हुए अपने ही अच्छे बुरे कर्मों के प्रभाव से सुरों और असुरों सहित समस्त संसार कर्मानुसार विचित्र भोगों का भोग करता है।[6] लोगों के आपस में एकाएक एवं अत्यधिक प्रेम के विषय में माना गया है कि पूर्वजन्म का संचित प्रेम शीघ्र ही बाँध लेता है।[7]

अधोगति का कारण भी कर्म फल ही है। कथासरित्सागर में गाय के मुख चमड़े को दाँतों से छूने पर अधोगति पाने का उल्लेख है। गाय के चमड़े को दाँतों से छूने मात्र से अधोगति होती है तो माँस भक्षण करने पर तो अधोगति की पराकाष्ठा होती है।[8] लोगों का विश्वास रहा है कि पूर्वजन्म की स्मृति बिना किसी शंका के हो जाए तो उस पूर्वजन्म वृत्तान्त को कहना मृत्यु कारक होता है।[9] शाप दिये जाने एवं शाप की अवधि पूरी होने पर पूर्व रूप को प्राप्त हो जाने की मान्यता भी प्रचलित रही है। शाप कोई सिद्ध पुरुष या माता पिता भी अपनी संतान को आज्ञा का उल्लंघन करने पर देते थे।[10]

इस प्रकार तत्कालीन लोक जीवन में कर्म अथवा पौरुष में अटल विश्वास था। लोग पूर्णतः भाग्य के भरोसे हो नहीं बैठते थे। उनका मानना है कि भाग्य तो पूर्वजन्म में कृत कर्मों के फल का ही दूसरा नाम है। यदि इस जीवन में सुकर्म न करेंगे तो पुनर्जन्म भी कष्टकारक होगा। भाग्य का प्रबल होना पूर्वजन्म में किये अच्छे कर्मों का फल है। दैव के प्रतिकूल होने पर भी मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिए जिससे भावी जीवन सफल बन सके। लोगों का मानना है कि भाग्य के प्रबल होने पर भी जब तक व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त न होगा तब तक सफलता असंभव है। लोक जीवन में भाग्य के साथ पौरुष में दृढ़ विश्वास है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसके अनुरूप ही फल प्राप्त करता है। जैसे कर्म करेगा वैसा ही फल मिलेगा यही भवितव्य है।

1. विना हि प्राक्तन कर्म न दाता कोऽपि कस्यचित्। आगर्भाच्छानुसरन्ति पूर्वकर्माणि [illegible] क. स. सा. 7.6.109
2. वही 7.6.101-106, 7.7.47-45, 17.6.109-110, [illegible]
3. [illegible] जन्मन्यमुत्र [illegible] ॥ वही 12.2.151
4. वही 12.2.166
5. [illegible]
   [illegible] वही [illegible]
6. [illegible]
   [illegible] —वही [illegible]
7. वही [illegible]
8. वही [illegible]
9. वही [illegible]
10. वही 12.1.114-145

6 धर्माचरण अभिप्राय

इस पृथ्वी के ऊपर कोई भी जीव जन्म लेता है तब वह स्वच्छ स्लेट का सा होता है। उसके हृदय एवं मस्तिष्क में कोई भी विकार नहीं होता है। धीरे-धीरे वह माँ, पारिवारिक वातावरण संस्कार एवं पारम्परिक आस्था विश्वास एवं अनुष्ठान के अनुरूप कर्म में प्रवृत्त होता है और उसी के अनुसार उसकी जीवनचर्या निर्धारित होती है। सर्वप्रथम घर में बच्चे को भगवान् का भय दिखाया जाता है। भय के साथ भगवान् में उसकी आस्था एवं विश्वास उत्पन्न होता है। वैसे तो भय और विश्वास दोनों में विरोधाभास होता है। परन्तु भय के निर्धारण से उत्पन्न आस्था विश्वास उसके जीवन का अंग एवं जीवनचर्या के निर्धारण में कारण बन जाता है। भगवान् का भय (विश्वास) अधर्म एवं अकर्तव्य में प्रवृत्ति का निषेध करता है। व्यक्ति भय से उत्पन्न विश्वास के आधार पर भगवान् का आजीवन प्रत्यक्ष नहीं कर पाता है परन्तु मृत्यु के समय में भी वह उसका स्मरण करना चाहता है। उसका मानना है कि धर्म का आचरण एवं भगवान् का स्मरण करने से सुख दुःख में निवृत्ति (मोक्ष) प्राप्त होती है। जिससे मृत्युलोक में आवागमन से छुटकारा मिल जाता है।

"धर्म" का मूल अर्थ भगवान् या देवी देवता में विश्वासमात्र नहीं अपितु नैतिक जीवन आचरण है। परन्तु समाज के प्रतिष्ठित लोगों ने धर्म की परिभाषा स्वार्थ सिद्ध करने के अनुरूप की है। इसी का परिणाम है कि हमारे यहाँ तैंतीस करोड़ देवी देवता हुए और कर्म काण्ड यज्ञ दान पाप पुण्य स्वर्ग नरक, बलि व्रत, उपवास, तीर्थ यात्रा आदि धार्मिक विश्वास बने। लोक की जीवन चर्या इस धर्म के अनुरूप बनी। ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की प्रतिष्ठा एवं रक्षा में धर्म की परिभाषा बदलती रही है। सरल हृदय "लोक" धर्म द्वारा कहे जाने वाले ब्राह्मणों के स्वार्थ से अनभिज्ञ, उनके द्वारा कही गयी बातों में विश्वास कर जीवन में उनका पालन करने लगा और वही धर्माचरण कहलाया।

संस्कृत लोककथा साहित्य धार्मिक विश्वासों से आपूर्ण है। लोक जीवन में पद पद पर धार्मिक अनुष्ठान संस्कार के नाम से शुरू होते हैं जो मृत्यु काल तक चलते रहते हैं। व्यक्ति जीवन में किसी भी कार्य का आरम्भ अभीष्ट देव देवी के स्मरण से करता है। अभीष्ट सिद्धि के लिए मनौतियाँ करता है। व्रत उपवास कर तपस्या करता है। यज्ञ याग करता है। ब्राह्मणों को दान देता है। पाप पुण्य के आधार पर कर्म अकर्म का निर्धारण करता है। प्रत्येक व्यक्ति पाप कर्म से दूर रहकर स्वर्ग को प्राप्त करना चाहता है। विभिन्न तीर्थों की यात्रा करता है। वृक्ष नदी आदि में देव को देखता है और उनकी पूजा करता है। अभीष्ट सिद्धि के लिए नरबलि तक देता है।

लोक जीवन के धार्मिक विश्वासों में से कुछ के पीछे वैज्ञानिक तर्क स्पष्ट ज्ञात होता है। सभ्य समाज भले उन्हें अंध विश्वास कहकर ठुकरा दे परन्तु उनके पीछे के सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। "धर्म" मानव कल्याण के लिए है। उसका वही रूप

लोक विश्वासों में दिखाई देता है। जैसे वृक्ष नदी को देव रूप माना गया है। वस्तुत इससे यह तो लाभ था ही कि वृक्ष को देव मानने से लोग वृक्ष अत्यधिक न काटेंगे नदी का पुण्य तीर्थ स्थल तथा देवी रूप मानने से कोई उसमें गन्दगी नहीं करेगा, जिससे प्राकृतिक सतुलन बना रहेगा। मृत्यु के पश्चात् दाह सस्कार से वातावरण में जीवाणु न फैलेंगे और न ही व्याधियाँ फैलेंगी, प्रदूषण भी कम होगा। धीरे धीरे धार्मिक विश्वासों में ब्राह्मणों के स्वार्थ की व्याधियाँ प्रवेश करती गई और धर्माचरण खोखला होता गया। यज्ञ कर्मकाण्ड, ब्राह्मण को दान व्रत उपवास के अनन्तर उद्यापन मूर्ति पूजा आदि से ब्राह्मणों को ही तो लाभ था। यही सब कुछ तो ब्राह्मणों की जीविका के आधार थे। "लोक" का धर्माचरण ब्राह्मणों की जीविका बना। धर्म का पालन करने को बाध्य करने के लिए ईश्वर, स्वर्ग नरक पाप पुण्य आदि का भय सहृदय "लोक" के लिए पर्याप्त था।

लोक जीवन के धार्मिक विश्वास एव आस्था के अनुरूप अनुष्ठान एव जीवन चर्या ही धर्माचरण है। विभिन्न देवी देवताओं के मंदिर श्रद्धा एव विश्वास के केन्द्र बने।[1] लोगों का विश्वास था कि देवता और ब्राह्मण की पूजा सज्जनों के लिए कामधेनु के समान है। इससे सब कुछ पाना सभव है। जिस प्रकार आँधी अत्यन्त ऊँचे दिव्य स्थान पर जन्म लेने वाले पुष्पों के अधःपतन का कारण होती है, उसी प्रकार पाप कर्म अधःपतन के कारण होते हैं।[2] मनुष्य अपने अभिलषित की प्राप्ति के लिए विभिन्न देवी देवताओं को प्रसन्न करने हेतु जप तप उपवास आदि कर रहे थे। कार्य सिद्धि के लिए मनौतियाँ माँगते थे।[3] कार्य सिद्ध होने पर धन भेंट करते एव बलि देते हैं।[4] मुक्ति एव मोक्ष शांति हेतु ईश्वर की आराधना करते है।[5] लोगों का यह भी मानना है कि भगवान् का बराबर जाप करने मात्र से ही कोई सबसे बड़ा भक्त नहीं होता है। कर्म की पूजा कर्तव्य का पालन ही सबसे बड़ी ईश्वर की पूजा है।[6]

व्रत-उपवास

लोग अभीष्ट सिद्धि के लिए विभिन्न देवी देवताओं की पूजा करते हैं निराहार रहकर तप करते हैं एव व्रत उपवास रखते हैं।[7] अलग अलग व्रत उपवास के अलग अलग नियम एव कर्तव्य रहे हैं। उनका पालन न करने पर न केवल व्रत-उपवास का फल प्राप्त

1 बृ क श्लो. 5 74
2 देवद्विजप्रसादो हि कामधेनुर्मता सताम्।
किं हि न प्राप्यते तस्मात् ... ॥ 134
दुष्कृत त्वयि ...।
... । क स सा 3 3 134 135 —बृ क श्लो. 5 81-82
3 क स सा 2.5 166 2.5 177 1 4 43 3 2 81 12.3.54 17 1 101 9.2.313
4 वही 2.5 8।
5 वही 12.3 119 120
6 मि द. पृ 151
7 क स सा 10 10 99 107 2.3 36

नही होता ह प्रत्युत कुफल प्राप्त होता है। एक व्यक्ति को उपदिष्ट उपोषण व्रत के मध्य ही किसी एक दुष्ट के द्वारा सायकाल भोजन करा देने पर व्रत के खण्डित हो जाने मे वह गुह्यक (यक्ष) योनि मे उत्पन्न हुआ। यदि व्रत को पूरा कर लेता तो स्वर्ग में देवता बन जाता।[1] उपोषण व्रत मे सत्य बोलना ब्रह्मचर्य रखना, देवता की प्रदक्षिणा करना, दिन रहते भोजन करना मन का सयम करना और क्षमा ये आचरणीय नियम हैं।[2] उपोषण-व्रत के अतिरिक्त एकादशी-व्रत[3] निराहार त्रिरात्र शिव-व्रत[4] शिवाराधना व्रत[5] बारह दिन तक निराहार रहकर शिव व्रत[6] आदि किये जाते रहे हैं। व्रत के उपरान्त पारणोत्सव किया जाता ह जिससे अभीष्ट देव की पूजा करके दान किया जाता है।[7] यही नही व्रत के फल की सिद्धि भी होती है।[8]

दान—

ब्राह्मणों एव दीनों को दान दिया जाता है। "दान हि नाम समारे निदान शुभमपदाम्" अर्थात् ससार मे दान ही निदान एव शुभ सपदा है।[9] "बिना किसी स्वार्थ के किसी भी निर्धन अथवा दरिद्र व्यक्ति को अन्न आदि का समर्पण दान कहलाता है।"[10] दान वही दे सकता है जिसके पास कुछ हो। दान देने के पीछे अभीष्ट फल प्राप्ति का कारण रहा है। लोगों का विश्वास रहा है कि ब्राह्मणों को दान करने से ही सचित पापों का नाश सभव है।[11] पूर्व जन्म में याचकों को दान न देने स ही लोग इस जीवन में भिक्षुक बन घर घर भीख माँग रहे हैं। दान न देने वाले को भावी जीवन में ऐसा ही फल मिलेगा, वे भी घर घर भीख माँगते फिरेंगे।[12] इस लोक मे किया गया दान परलोक की दुर्दशा को दूर करता है। इसलिए दान दो क्योंकि जीवन और धन दोनों नाशवान् हैं।[13] ब्राह्मणों को रत्न एव स्वर्ण की मुहरें दान की जाती हैं।[14] सौ सौ दीनार दान किये जाते हैं।[15]

---

1 क स सा 10 7 75 77
2 सत्याभिभाषण ब्रह्मचर्य देवप्रदक्षिणम्।
भाजन भिक्षुवलाया मनम सयम क्षमा॥ वही 10 7 83
3 बृ क म 2 122
4 क स सा 3.5 6 4 1 142 7 1 103 104
5 वही, 17.5 29
6 वही, 17 6 62 17 1 47-48
7 वही 17 1 47 50 7 1 108 109
8 वही 7 1 103 109 4 1 143-144 3.5 6
9 बृ क म 9.515
10 ऋग्वेद में लौकिक सामग्री पृ 71
11 क स सा 12.20 25 26
12 शुक प्रथमाकथा, पृ 15 16
13 दान हरति देवेह दुर्गति पारलौकिकाम्।
तद्दहि दानमायूंषि भङ्गुराणि धनानि च॥ क स सा 10.5 216
14 वही, 7 1 24 25 10 7 91 92
15 वही, 12.11 15 18

आहार दान में दिये जाते हैं।[1] ब्राह्मणों की तो आजीविका ही दान थी। दान प्रथा का प्रचलन भी ब्राह्मणों ने ही करवाया। ब्राह्मणों ने ही कहा दान करो पापों का नाश होगा स्वर्ग की प्राप्ति करोगे मोक्ष मिलेगा। परन्तु ब्राह्मण स्वयं नहीं जानते थे कि पाप क्या है। स्वर्ग के द्वार खोलना बंद करना उनके हाथ में न था। स्वर्ग क्या है उन्होंने भी नहीं देखा। यह तो ब्राह्मणों की कुछ न करके सब कुछ पा लेने की अनीति थी। स्वर्ग की जैसी कल्पना की गई वैसे अनुपम सुख को कौन नहीं प्राप्त करना चाहता है। प्रथम स्वर्ग मन को खुश रखने का स्वप्न मात्र है द्वितीय उसकी कल्पना का उद्देश्य है कि व्यक्ति अनैतिक कार्यों में प्रवृत्त न हों।

हवन-यज्ञ

लोक जीवन में यह धार्मिक विश्वास रहा है कि अभिलषित की प्राप्ति के लिए हवन यज्ञ भी किये जाने चाहिए। यज्ञ एवं हवन अभीष्ट देव की पूजा स्मृति हेतु किये जाते हैं।[2] उसमें देवता के लिए आहुति देकर उसका आह्वान किया जाता है। यज्ञ एवं हवन में यव, तिल नारियल से लेकर कच्छप अज आदि विभिन्न प्राणियों तथा नर मांस की आहुति दी जाती है।[3] व्यक्ति अपनी श्रद्धा एवं स्थिति के अनुसार यज्ञ एवं हवन करते हैं। यज्ञ हवन करने वाले ब्राह्मण याजक कहे जाते हैं।[4] यज्ञ में विभिन्न देवी देवताओं को निमंत्रण दिया जाता है।[5] विभिन्न सिद्धियों के लिए श्मशान में जाकर हवन किये जाते हैं।[6] नर मांस का यज्ञ हवन में आहुति के अतिरिक्त भी नर बलि दी जाती रही है। अभीष्ट प्राप्ति के लिए किसी देवी को प्रसन्न करने के लिए[7] किसी पिशाच या योगिनी की सिद्धि के लिए[8] संतानोत्पत्ति[9] अथवा किसी अन्य मनकामना की पूर्ति के लिए नर बलि दी जाती है।[10] "जंगल के डाकू भील जो कि वन में रहते थे वे देवी को प्रसन्न रखने के लिए नियमत नर बलि देते थे। उनकी धारणा थी कि नर बलि से देवी अति प्रसन्न होती हैं।"[11] नर बलि के पश्चात् उसके मांस का देवताओं के भोग लगाया जाता है तदनन्तर उस मांस को प्रसाद के रूप में बाँटा जाता है।[12]

---

1 क.स.सा. 3.6.7 12.29.4-6
2 बृ.क.श्लो. 2.11.17 क.स.सा. 2.2.10
3 क.स.सा. 12.15.5.9 10.5.289.294 5.3.142.143 9.1.101
4 तथाहमपि तन्मिष्टिं किं न कुर्यां मनोमयीम्।
याजकैस्तु विना यज्ञ क्रियमाणा विरुध्यते ॥ बृ.क.श्लो. 15.149
5 मि.स.द. पृ 83
6 क.स.सा. 8.6.163
7 वही 1.6.79-80
8 वही 3.6.202-208
9 वही 10.5.287.291
10 वही 3.4.163 15.219.221 12.6.3
11 प्र.भा.सा. तथा भा.म. पृ 213
12 अर्धरात्रे च सा तत्र तस्मात्सर्वानिकल्पने
पश्चात् नृमांस च देवार्चयती हुतम् । क.स.सा. 3.6.111

तीर्थोपामना

लोग पुण्य लाभ पाप शमन एव मद्गति हेतु विभिन्न पवित्र स्थलों पर जाकर तीर्थोपासना करत हैं।[1] उनमे तीर्थ स्थलों में काशी प्रयाग, मथुरा अयोध्या आदि प्रसिद्ध रहे हैं।[2] कश्मीर उस समय के प्रमुख तीर्थ स्थलों में म एक था। कश्मीर को पापों का नाश करने वाला देश कहा जाता था। कश्मीर में विजयदेश, नन्दिदेश, वराहक्षेत्र, भगवान् विष्णु मे पवित्र थे। वहाँ पर गङ्गा वितस्ता नाम मे जानी जाती थी।[3] तीर्थ यात्रा के विषय में यह मान्यता थी कि तीर्थ यात्रा उसक लिए उचित है, जिसके पास वैदिक कर्म करने के लिए प्रचुर सम्पत्ति नहीं है। अन्यथा देवता पितर अग्नि की सेवा, व्रत एव जप आदि से घर बैठे जो पुण्य की प्राप्ति हो सकती है, वह मार्ग में भटकने वाले तीर्थ यात्रियों को नहीं होती है।[4] दान आदि क द्वारा तो अर्थ शुद्धि ही पाई जा सकती है, किन्तु तीर्थों से अनश्वर शुद्धि मिलती है अत बुद्धिमान् लोगों को चाहिए कि यौवन के रहते ही वे तीर्थयात्रा कर लें। शरीर का भरोसा नहीं है। समय बीत जाने पर तीर्थ यात्रा कैसे हो सकती है [5]

तीर्थ यात्रा का शुभारम्भ पूर्व दिशा म करना प्रशस्त एव पवित्र माना जाता है क्योंकि पूर्व दिशा म इन्द्र का निवास है, गगा नदी भी पूर्व की ओर जाती है। उत्तर-दिशा म्लेच्छों क सम्पर्क म दूषित है सूर्य क अस्त होने क कारण पश्चिम को भी अच्छा नहीं माना जाता है और दक्षिण दिशा यमराज की दिशा होने तथा उसमें राक्षसों का निवास होने से उसे भी अच्छा नहीं समझा जाता है।[6] गगा को देवी एव उसके जल को पवित्र माना जाता है। गगा में स्नान करके लोग अपने को पवित्र मानते हैं [7] अन्त्येष्टि के पश्चात् अस्थियाँ विधिपूर्वक गगा में प्रवाहित की जाती हैं, पितरों को पिण्ड दान दिया जाता है। इसे भी पितृ ऋण से उऋण होने का एक मार्ग बताया गया है।[8] सज्जनों की सगति के

---

1 क स सा 2 2 16 8 6.218, बृ क श्लो 21 4

2 क स सा 9 1 45 18 2 109 1 3 4 1.5 132 17.2 4 12 19.27 8.2.83 9 1 75, बृ क श्लो 21 137 142

क स सा 7.5 36-38

तीर्थयात्रा त्वसौ वा तच्छ्मना तस्य सा बुधे ।
सम्पत्तिर्विभिवन्न स्याद्वैदिक यस्य कर्मणि ॥ 224
अन्यथा देवपितृाग्निक्रियाव्रतजपादिभि ।
गृहे या पुण्यनिष्पत्ति साध्वनि भ्रमत कुत ॥ 225 — वही 8 6.224-225

अथाब्रवीत्स मन्त्री तमर्थशुद्धयादि भूपते ।
दानादौ नित्यशुद्धानि तीर्थानि नृपते पुन ॥ 21
यावच्च यौवन राजस्तावद्भ्रमणि धीमता ।
अविश्वास्ये शरीरे हि समयस्ते कुतोऽन्यदा ॥ 22 — वही 12 19 19 22

6 वही 3.3.58-62

7 वही 12 7 116-136

8 वही, 12 16 63-65 10 8 64-66

विषय में यह मानना है कि सज्जन तीर्थ रूप होते हैं सज्जनों का दर्शन पवित्रकर होता है। सज्जन तीर्थों से भी बढ़कर होते हैं क्योंकि तीर्थ तो कुछ समय में फलदायी होते हैं परन्तु सज्जनों का समागम तत्काल फल देता है।[1]

अन्य

अभीष्ट सिद्धि के लिए आराध्य देव की मनौती मानी जाती थी। फल प्राप्ति के उपरान्त मनौती को पूरा किया जाता था।[2] ब्राह्मण हत्या को जघन्य पाप माना जा रहा था।[3] अप्राप्त इष्टार्थ और समृद्धि की प्राप्ति के निमित्त वरिष्ठ के द्वारा कनिष्ठ के लिए की गई आकाश को आशीर्वाद कहा गया है।[4] वरिष्ठ कनिष्ठ को अभीष्ट सिद्धि के लिए आशीर्वाद देते थे।[5] वृक्ष को देव रूप मानकर पूजा की जाती है। लोगों का विश्वास है कि पीपल वट आदि वृक्षों में देवता निवास करते हैं। पीपल एवं वटवृक्ष में रहने वाले देवता की पूजा कर बलि चढाने का उल्लेख हुआ है।[6] कल्पवृक्ष ऐश्वर्य का देव माना गया है और उससे सारी पृथ्वी को दरिद्रों से रहित करने की प्रार्थना की गई है।[7] गाय पूज्य एवं पवित्र है। गाय तीनों लोकों के लिए वंदनीय है एवं उसकी हत्या करना महापाप है।[8] स्वर्ग नरक में लोगों का विश्वास है। पुण्य कर्म से स्वर्ग के एवं पाप कर्म करने से नरक प्राप्ति होती है।[9] जादू, टोने टोटके मंत्र में यक्ष सिद्धि का प्रचलन लोक जीवन में दिखाई देता है।[10] यक्ष यक्षणियों की सत्ता पर लोगों का विश्वास है। इन्हें देवी देवताओं की ही भाँति अभीष्ट सिद्धि में सहायक माना गया है। धार्मिक विधान पूर्वक कर्मकाण्ड किये जाते हैं।[11] देवी देवता की शपथ लेने में विश्वास है। देवी देवता की सौगन्ध (शपथ) किसी बात के सत्य होने का विश्वास दिलाने के लिए लेते हैं। झूठी शपथ लेने से पाप के भागी होते हैं।[12] देवी देवता की पूजा पति पत्नी साथ मिलकर करते हैं।[13] पूजा करने के उपरान्त मन्दिर की परिक्रमा लगाई जाती है।[14]

---

1 साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः ।
तीर्थं फलति कालेन सद्यः साधुसमागमः ॥ 311 शुक्र पृ 264
2 वही अष्टपत्रवासनमीरथा, पृ 235 236 बृ क श्लो 12 74-81
3 क स सा 6 8 75 76
4 अप्राप्तेष्टार्थं सम्पतिवाञ्छाशीरभिधीयते ।
आयुष्मता तु तस्यास्तामाशिषा सम्पोषणम् ॥ बृ क श्लो 3 109
5 क स सा 9 1 85
6 वही 3 6 31 5 3 205 206
7 वही 4 2 33 34
8 वही 5 3 159
9 बृ क श्लो 4 70 102 क स सा 2 4 164 19 2 7 10
10 क स सा 7 3 110 111
11 वही 12 16 75 101
12 शुक्र पञ्चतन्त्रम्, पृ 40 41
13 क स सा 7 5 11
14 वही 17 6 85 105

इन धार्मिक-विश्वासों की एक परम्परा रही है और विश्वास से प्रेरित होकर ही लोग अभीष्ट-सिद्धि के लिए इनका अनुष्ठान करते रहे हैं। परन्तु "लोक" के इन्हीं धार्मिक विश्वासों का पण्डित, साधु एव अन्य वञ्चक प्रवृत्ति के लोग स्वार्थ में उपयोग करने लगे। समाज में धर्म के नाम वञ्चक प्रवृत्ति के बोये गये बीज अकुरित हो रहे थे। साधु विभिन्न धर्माडम्बरपूर्ण तरीकों से लोगों को ठग रहे थे। मौनव्रत धारणकर सन्यासी के वेश में भिक्षा मागते हैं। किसी सुन्दरी के दृष्टिपथ में पड जाने पर छल कपट पूर्ण तरीकों से उसे प्राप्त करना चाहते हैं।[1] धर्म एव देवी-देवता के बहाने हत्या तक करवाते हैं। ब्राह्मण मन्दिर में देवी-दर्शन के बहाने पुत्रक नामक राजा की वधिकों को धन देकर हत्या करवा देना चाहते हैं। परन्तु पुत्रक वधिकों को अत्यधिक धन देकर बच जाता है। अन्तत धर्म के नाम पर हत्या करवाने वाले ब्राह्मण मारे जाते हैं।[2] धर्म के नाम से लोगों का ध्यान इस लोक से हटाकर परलोक में लगाया गया, स्वामी और सामत के शोषण और अन्याय से हटाकर देवता के वरदान, पूर्वजन्म के कर्मों के फल, भाग्य और ईश्वर में लगाया जा रहा था। लोक का सामाजिक, आर्थिक शोषण के अतिरिक्त धार्मिक शोषण भी किया जा रहा था।

लोक जीवन में शिशु के जन्म के साथ ही ईश्वर, धर्म एव विश्वासों के अनुरूप क्रिया-विधान आरम्भ हो जाते हैं। घर में लगी तस्वीर-मूर्ति के सामने हाथ जोडने को कहा जाता रहा है। उससे भय दिखाया जाता है। आरम्भ से ही बच्चे के सुषुप्त मन में भगवान् के नाम पर मूर्ति के भयपूर्ण सस्कार पड जाते हैं। इस परम्परा में ब्राह्मण-क्षत्रिय एव प्रतिष्ठित बलशाली वर्ण दान दो, यज्ञ कराओ, यह तुम्हारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है भाग्य में जो लिखा होता है, वह तो होकर ही रहता है, ईश्वर की देन है आदि लोक-विश्वासों का स्वार्थ सिद्धि में उपयोग कर रहा था। समाज के प्रतिष्ठित लोगों का वर्ग लोक-मर्यादा एव लोक-व्यवहार मे सामाजिक, पूँजीपतिवर्ग आर्थिक-व्यवस्था में असमानता से आर्थिक, राजा सामत एव बल प्रभुत्व वर्ग राजनैतिक एव ब्राह्मण, पुरोहित, साधु एव अन्य वञ्चक लोगों का वर्ग धार्मिक-विश्वास से "लोक" का शोषण कर रहे थे।

7 नैतिक मान्यताएँ

नीति

धर्म एव नीति एक ही सिक्के के दो पहलू एव अन्योन्याश्रित है। धर्म से तात्पर्य मानव-कल्याण है एव नीति मानव-कल्याण की ओर ले जाने वाला मार्ग है। इस प्रकार धर्म मजिल है एव नीति उस तक पहुँचने का मार्ग। "नीति" शब्द सस्कृत की "नी" धातु पूर्वक क्तिन् प्रत्यय से बना है जिसका अर्थ है—ले जाना या पथ प्रदर्शन करना। "नीति" व्यक्ति को स्वस्थ एव सतुलित समाज के लिए कर्तव्य एव अकर्तव्य का ज्ञान कराती है।

1 क स सा 3 1.32 51 18 2 157 158

2 वही 1.3.35-45

धर्म का ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति उस तक पहुँचने के लिए नीति के व्यावहारिक मार्ग में प्रवृत्त होता है।

धर्म एवं नीति

लोक जीवन में धर्म की भाँति नीति का भी व्यावहारिक रूप प्रवहमान रहा है। धर्म को दृष्टि में रखकर ही व्यक्ति कार्य करता है। जहाँ जीवन व्यवहार में धर्म है वहाँ नीति होगी ही। धर्म के बिना नीति असम्भव है। लोक जीवन में व्यक्ति स्वार्थ से विमुक्त होकर धर्म को दृष्टि में रखकर कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के विचार से ही कर्म में प्रवृत्त होता है। उसका विश्वास है कि धर्म से ही कल्याण सम्भव है। संस्कृत लोककथा के लोक जीवन में नीति की पाण्डित्यपूर्ण वाचिक व्याख्या नहीं, अपितु उसका व्यावहारिक रूप उसके कार्यों में व्यक्त हुआ है। कथा-साहित्य की अधिकांश कथाएँ मनोविनोद के साथ नीति का पाठ भी पढ़ाती हैं। वे कथाएँ लोक-जीवन में प्रचलित रही हैं एवं रात्रि को चौपाल पर कही सुनी जाती रही हैं। घरों में दादी एवं नानी बच्चों को नीति का पाठ पढ़ाने के लिए कथाएँ सुनाती हैं। नीति को लेकर भी "लोक" एवं उच्च वर्ग में यही अन्तर रहा है कि उच्च वर्ग में नीति से सम्बन्धित अनेक निर्धारित नियम बनाये जाते रहे परन्तु व्यावहारिक जीवन में उसकी परिणति नहीं हुई। "लोक" वाणी परम्परा में चली आ रही नीति का जीवन में पालन कर रहा था। "लोक जीवन" में नीति वह है जो कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का ज्ञान देकर सुपथ पर ले जाती है। धर्म एवं नीति ही जीवन को संस्कारित करते हैं और वह संस्कारित रूप ही संस्कृति कहलाता है।

संस्कृत लोककथा साहित्य कालीन लोक जीवन की नीति को निश्चित शब्दों की सीमा में बाँधकर परिभाषित नहीं किया जा सकता है। मौखिक परम्परा में पूर्व पीढ़ी से प्राप्त कर्त्तव्य ही नीति है। भाग्य भगवान एवं पूर्वजन्म के कर्मों का फल आदि का भय भी उसकी नीति के निर्धारण एवं पालन में कारण रहे हैं।

सत्कर्म एवं सम्मान

"लोक जीवन" की नीति तो यही है कि भला करने वाले का भला होता है और बुरा करने वाले का बुरा।[1] मनुष्य जीवन में जो भी कुकर्म करता है उसका अनिष्ट फल उसे भोगना ही पड़ता है। जो जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है।[2] मनुष्य को सुकर्मों से सुख और दुष्कर्मों से दुःख मिलता है।[3] मनुष्य जीवन में समय ही सम विषम परिस्थितियों को उत्पन्न करता है समय ही तिरस्कार एवं सम्मान करता है समय ही पुरुष

1 भद्रकृत्प्राप्नुयाद्भद्रमभद्रं चाप्यभद्रकृत्। क. स. सा. 36 212

2 एवं कुकर्म सर्वस्य फलत्यात्मनि सर्वथा।
यो यद्वपति बीजं हि लभते सोऽपि तत्फलम्॥ वही 33 149

3 यतो बलमय विज्ञानमेव क र्मणि स्थितये।
सुखं हि सुकृताद्दुःखं दुष्कृतादेति सर्वतः॥ 19
दुःखार्दितं तदेतेन सुकृतं तन्मयापरम्।
कथं तु नरकं दुःखमात्मनैव करोमि ॥ 20 वही 12.29 19 20

को दाता तथा याचक बनाता है।[1] अत व्यक्ति को समभाव रहना चाहिए। समय को करवट बदलते देर नही लगती है। व्यक्ति को समय पडने पर दूसरे की सहायता करनी चाहिए क्योकि समय पर थोडा दिया हुआ भी बहुत होता है, असमय में बहुत देने पर भी वह नगण्य एव अनुपयोगी होता है। प्रत्येक व्यक्ति को पूज्य जन की पूजा करनी चाहिए। जो अपने पूज्य जन की पूजा नही करते, अपने मान्यजन का सम्मान नही करते, वे ससार मे निन्दित होते हुए जीते हैं और मरने के बाद स्वर्ग नही जाते हैं।[2] माता पिता की भक्ति ही ज्ञान का श्रेष्ठ मार्ग है। धर्मव्याध मुनि से कहता है कि मैं मात्र माता पिता का भक्त हूँ। वे ही मेरे देवता हैं। उन्हें स्नान कराकर स्नान करता हूँ, उनके भोजन कर लेने पर भोजन करता हूँ और उनके सो जाने पर सोता हूँ। दूसरो के द्वारा मारे गये पशुओं का माँस अपनी जीविका के लिए बेचता हूँ। यह कार्य भी अपना धर्म (कर्त्तव्य) समझकर करता हूँ, धन कमाने के लिए नही। मैं और वह पतिव्रता स्त्री दोनो ज्ञान के विघ्न अहकार को पास नही फटकने देते हैं। अत तुम भी मुनियों का व्रत धारण करके अपनी शुद्धि के लिए अहकार का परित्याग कर अपने धर्म का पालन करो।[3] इस कथा का उपदेश है कि ज्ञान अहकार नही, शील है और शीलवान् व्यक्ति ही सीखने के लिए प्रेरित होता है और वह बडों का आदर करता है उनकी सेवा सुश्रुषा करता है। ससार मे व्यक्ति को सत्कर्म करने चाहिए क्योंकि उत्तम व्यक्ति अपने गुणों से मध्यम व्यक्ति पिता के गुणों से, अधम व्यक्ति मामा के गुणों से तथा अधमो से अधम महाअधम व्यक्ति ससुर के गुणों से प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं।[4] व्यक्ति को स्वय के द्वारा पैदा किये गये धन का ही उपभोग करना चाहिए, पिता द्वारा अर्जित धन विलासी बना देता है।[5]

निर्लोभ

व्यक्ति को लोभ नही करना चाहिए। लोभ प्राणियों के लिए महान् हानिकारक है। सग्रह करने में भी अत्यन्त सग्रह की बुद्धि नही करनी चाहिए। लोभ से भोग नही किया जा सकता है। वह तो केवल कष्ट देने के लिए ही होता है।[6] धन ससार का जीवन नही अपितु बुद्धि ही ससार का जीवन है। धन से हीन व्यक्ति जी सकता है किन्तु बुद्धिहीन व्यक्ति जीवित नही रह सकता है।[7] अत्यन्त लोभियों को तो हँसी के सिवा कुछ भी फल

1 शुक त्रयोविंशतमीकथा, पृ 125 126
2 न पूजयन्ति ये पूज्यान्मान्यान्न मानयन्ति ये।
जीवन्ति निन्द्यमानास्ते मृता स्वर्गं न यान्ति च॥ 5 — शुक प्रथमाकथा श्लोक 5 पृ 6
3 क स सा 9 6 184 190
4 उत्तमा स्वगुणै ख्याता मध्यमाश्च पितुर्गुणै।
अधमा: मातुलै ख्याता श्वशुरैश्चाधमाधमा॥ — शुक सप्तमीकथा, श्लो. 66 पृ 52
5 पित्रर्जित द्रव्य भोगिन क न करोति।
स्वयमर्जयति स्वय भुङ्क्ते विरला जननी जनयति॥ — वही सप्तमीकथा, श्लो. 67, पृ. 52
6 क. स. सा. 10.5 97 107
7 इत्थ प्रज्ञैव नामेह प्रधान लोकवर्तनम्।
जीवत्यर्थदरिद्रोऽपि धीदरिद्रो न जीवति॥ वही 10 8 42

नहीं मिलता है।[1] अतिलोभ से दूसरे को ठगकर या चुराकर जो धन इकट्ठा किया जाता है, वह कभी स्थिर नहीं रहता। वह धन तो विष वृक्ष के समान होता है चूँकि उसके मूल में पाप होता है, अतः उसका फल भी पाप ही होता है और एक दिन उसी पाप फल के भार से वह वृक्ष टूट जाता है। वैसे धन के अर्जन करने में जो क्लेश होते हैं वे ही केवल इस संसार में रह जाते हैं और परलोक में नरक का दुख तब तक होता रहता है जब तक चन्द्रमा और तारे विद्यमान हैं।[2] प्रजा को सताकर प्राप्त की गई सम्पत्ति उसी प्रकार चिरकाल तक नहीं रहती है, जिस प्रकार धूर्तता से की गई मित्रता और कठोरता से हरण की गई कामिनी चिरकाल तक नहीं रहती है।[3] बढ़ती हुई उम्र के साथ यदि लोभ और वासनाएँ बढ़ती हैं तो निश्चय ही वह कालपुरुष का व्रत है सत्पुरुष उसे नहीं जानते हैं।[4] अतः सत्पुरुष इस अस्थिर जीवन में धन के प्रति श्रद्धा या प्रेम नहीं रखते हैं।[5] लोक जीवन में धन के प्रति मोह एवं लालच नहीं है। समय पड़ने पर आपस में बाँट कर खाते पीते हैं। समय ही सब कुछ है। उनके जीवन में अभिमान नहीं है। सुख दुख में समभाव रखते हैं तथा एक दूसरे का सहयोग एवं उनके लिए त्याग करते हैं। उनका मानना सत्य ही है कि लक्ष्मी तो चंचल है और अधर्म पूर्वक प्राप्त किया गया धन चिरकाल तक नहीं रहता है। मनुष्य के प्रति श्रद्धा एवं प्रेम रखते हैं धन के प्रति नहीं। उनका सरल हृदय राग द्वेष छल कपट से रहित निरन्तर प्रवहमान जल की भाँति स्वच्छ है।

प्रतिज्ञा पालन

लोक जीवन में व्यक्ति अपने कर्तव्य के प्रति कर्तव्यनिष्ठ है। स्वीकार किए हुए कार्य का निर्वाह करना उनका स्वाभाविक धर्म है। स्वीकार किये गये कार्य को पूरा करने में सत्पुरुषों को जो हो वह हो चाहे सिर कट जाए उन्हें बंधन में बँधना पड़ जाए अथवा लक्ष्मी चली जाए परन्तु उसका पालन करते ही हैं। अन्य बंधनों की अपेक्षा वचन का बंधन अधिक दृढ़तर होता है।[6] व्यक्ति कही हुई बात का पालन करना है। यही नैतिकता की पराकाष्ठा है। कहने को तो व्यक्ति स्वार्थवश बहुत सारी बातें और धारणाएँ कर देता है परन्तु उनको जीवन में पालन करना एवं कार्य रूप में परिणति देना ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। नीति की प्राथमिक अनिवार्यता भी यही है कि व्यक्ति जो कहे उसे करे।

1 क स सा 4 2 200
2 वही 13 1 116 118
3 मरस्यजानुशासन मैत्री शाठ्येन कामिनी
पारुष्यणाहृता मित्र न चिरस्थायिनी भवेत् (वही 10 4 203 5 3 254
गृह [illegible] 154 9 1 1
4 विवृद्धिभाजा वयसा सम यद्विवर्धते लोभमनोभवज्वरः।
अनाशय कापुरुषव्रत हि तत्स्वभावजः सत्पुरुषैरदर्शितम् —क स सा 1 1 4 [illegible]
5 अस्थिरे जीविते श्रद्धा का भवतु सर्वाम्बिरे —वही 5 1 136
6 "प्रतिपन्नार्थनिर्वाह महत्व हि सता व्रतम् क स सा 5 1 1 4
शाप [illegible] अथ भवतु बन्धन भवतु सर्वदा न सा
प्रतिपन्नपालने सुपुरुषाणा यद् भवतु तद् भवतु [illegible] ॥

कार्य-विवेक

व्यक्ति प्रत्येक कार्य को सोच विचार कर करते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति सहसा कोई कार्य नही करते हैं। सहसा कोई कार्य करने मे मानव दोनों लोकों से मारा जाता है।[1] मोह से अंधे और विवेक से विहीन व्यक्ति के पास लक्ष्मी अधिक दिन नहीं रहती है।[2] वे प्रत्येक कदम को फूँक-फूँककर रखते हैं। वे जानते हैं कि चतुर, अनुकूल आचरण वाला सुशील एव सुन्दर, गभीर कलानिधान तथा गुणी ऐसा अकेला भी पुत्र उत्तम होता है। शोक सताप कारक बहुत से पुत्रो के होने से क्या ? कुल को आलम्ब देने वाला एक पुत्र उत्तम है जिसके होने से कुल ससार में विख्यात हो जाता है।[3] त्याग की भावना भी उनमें तीव्र रही है। कुल की रक्षा के लिए एक को त्याग देना चाहिए। गाँव की रक्षा के लिए कुल को त्याग देना चाहिए। जनपद की रक्षा के लिए गाँव को तथा अपनी रक्षा के लिए पृथिवी को त्याग देना चाहिए।[4]

बन्धुत्व

सच्चा मित्र तो विरला ही होता है। स्वार्थ से परे त्याग और समर्पण ही मित्रता में मुख्य होते हैं। सच्चा मित्र कभी भी हाँ में हाँ नही मिलाता है। प्रारम्भ में कड़वी और अन्त में मधुर बातों को कहने और सुनने वाला जहाँ होता है वहाँ लक्ष्मी निवास करती है, वहाँ मित्र होता है और वहाँ ही सच्चाई एव निष्कपटता होती है।[5] दुर्जन की मित्रता, वेश्या और लक्ष्मी ये तीनों ही अन्त में आँख फेर लेते हैं। इनकी रखवाली चाहे जितनी सावधानी से की जाए, ये कभी किसी के होकर नही रहते हैं। अत मनस्वी पुरुष को प्रयत्न करके कोई ऐसा गुण अर्जित करना चाहिए, जो धन रूपी हरिण को बलपूर्वक बार बार बाँधकर ले आ सके।[6] बाहरी शिष्टाचार करने वाले मित्र दूसरे होते हैं और सच्चे मित्र दूसरे। चिकनाहट समान होने पर भी तेल-तेल और घी-घी ही है।[7] सच्ची मित्रता ही फलदायी होती है। हर कोई मित्र नही हो सकता है। यह बात लोक-जीवन में इस प्रकार प्रचलित रही है—"उक्त मुकृतबीज हि सुक्षेत्रेषु महाफलम्।" अर्थात् अच्छी मिट्टी में डाला गया पुण्य का बीज महान् फल देने वाला होता है।[8]

---

1 क स सा 10 8 13

2 वही 8 6 221

3 चतुरो मधुरस्त्यागी गम्भीरश्च कलालय,
गुणग्राही तथा चैव एकोऽपादृग्वर सुत ॥ 148
किं जातैर्बहुभि पुत्रै शोकसतापकारकै।
वरमेक कुलालम्बी पुत्र विश्रूयते कुलम् ॥ 149 शुक त्रयोविंशतमीकथा श्लो 148 149

4 त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ शुक पचमाकथा, पृ 34 35

5 क स सा 10 4 119 121

6 वही 12 29 24 26

7 इत्यन्यदुपचारेण मित्रमन्यत्तु सत्यत।
तुल्येऽपि स्निग्धतायोगे तैल तैल घृत घृतम। वही 10.5.235

8 वही 12 6.322

सदाचरण

अहंकार ज्ञानमार्ग में कठिनाई से हटने वाली बाधा है और ज्ञान के बिना सैकड़ों व्रतों से भी मुक्ति नहीं होती है।[1] दुश्चरित्र दुर्गति का कारण है। व्यक्ति को सच्चरित्र होना चाहिए। सज्जन व्यक्ति मरना स्वीकार करते हैं किन्तु दुराचार करना नहीं।[2] ऐसे सज्जन मनस्वी पुरुष धीर चित्त वाले और समुद्र के समान गंभीर होते हैं जो दूसरों से न हो सकने योग्य असाधारण काम करके भी उसका उल्लेख तक नहीं करते हैं।[3] विपत्ति में व्याकुल नहीं होते हैं, सम्पत्ति में घमण्ड नहीं करते और कार्य के समय भागते नहीं हैं।[4] ऐसे धीर पुरुष अत्यन्त कठिन और दुस्तर दुःखों को सह लेते हैं उनके मनोरथ पूरे होते हैं लेकिन जो साहस खो देते हैं और प्रयत्न छोड़ बैठते हैं उनके मनोरथ पूरे नहीं होते हैं।[5] अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को धैर्य न छोड़कर दृढ़ रहना चाहिए।[6] और जो विपत्ति में अधीर नहीं होता है वही कल्याण को प्राप्त करता है।[7] सज्जन पुरुष तो स्वभाव से ही सबके हितैषी होते हैं और उनका हृदय करुणा से आर्द्र रहता है। जिन्होंने उत्तम मार्ग देखा है और जिनके पास विवेक की निर्मल आँखें हैं ऐसे धीर पुरुष कुमार्ग में पैर नहीं रखते और अपना लक्ष्य प्राप्त करते हैं।[8] ऐसे सज्जन पुरुष क्षमाशील भी होते हैं और वे सबके कल्याण को दृष्टि में रखकर ही संसार सागर को पार कर जाते हैं।[9]

जीवन-जीर्णता

लोगों को यह अच्छी तरह ज्ञान है कि इस अनन्त संसार में अनित्यता ही एकमात्र नित्य वस्तु है।[10] इस संसार में जो कुछ भी है वह सब कुछ नश्वर है। स्थिर रहने वाला केवल महान् व्यक्तियों का निर्मल यश ही है।[11] अतः व्यक्ति को मृत्यु की चिन्ता किये बिना सत् कर्म करते रहना चाहिए। धन को ही सब कुछ मानने वाले लोगों के लिए कहा

---

1 ज्ञानमार्गे ह्यहंकारः परिघो दुरतिक्रमः।
ज्ञानं विना च नास्त्येव मोक्षो व्रतशतैरपि॥ क. स. सा. 1.5.137
2 म तु शङ्कावकारैव तत्कार्यं कथञ्चन।
...ऽप्युच्छ्रयन्ति सन्तो नाविनयं पुनः॥ वही 8.6.86
3 अपी समुद्रगम्भीरा धीरचित्ता मनस्विनः
कृत्वाप्यनन्यसाधारण्यमुल्लेखं नाद्रियन्ति ये। वही 12.11.115
4 व्यसनेषु निरुद्वेगा विपत्स्वपि ...।
कार्येष्वकातरा ये च ते धाराः ... वही 4.2.57 12.34.37 38
5 वही 12.34.357
6 तस्मात्त्याज्यं न धैर्येण ... वही 10.4.105
7 अधीर हि न कल्याणं व्यसने या न मुह्यति वही 12.33.75 2.2.101 12.4.261
8 वही 12.34.20 22
9 एवं तरन्ति क्षमया संसारमिति वर्णिता वही 12.5.200
10 अस्मिन् संसारे अनन्ते ... नित्या ह्यनित्यता वही 1.5.103
11 जानाति सर्व यद्भावा भवे ... ...
स्थिरं तु महतामेकं ... यशः॥ वही 4.2.4

है कि सम्पत्ति बिजली के समान नश्वर लोगो की आँखो को कष्ट देने वाली चचल और दूसरों को हानि पहुँचाने वाली वस्तु है।[1] लक्ष्मी के लिए बुद्धिमान् व्यक्ति को आपस में सघर्ष नही करना चाहिए क्योंकि यह शरीर जल के बुलबुलो के समान है आँधी मे दीपक के समान यह लक्ष्मी किसके उपयोग में आ सकती है।[2] बुद्धिमान् के लिए तो प्राणीमात्र के प्रति उपकार करना ही प्रशसनीय कार्य है।[3] यह शरीर तो ऐसी अपवित्र वस्तुओं से भरा है, जिन्हें कहा नहा जा सकता है। जन्म से ही यह जुगुप्सित है, दुखों का घर है और शीघ्र ही इसे नष्ट हो जाना है। अत इस अत्यन्त असार शरीर से ससार मे जितना भी पुण्य-उपार्जित किया जा सके, वही सार वस्तु हैं। समस्त प्राणियों का उपकार करने से बढकर बडा पुण्य और क्या हो सकता है ? और उसमें भी अगर माता-पिता की भक्ति हो तो देह-धारण करने का उससे अधिक फल और क्या होगा।[4] यह शरीर नाशवान् है, जिसका अन्त कडवा है तथा आधिव्याधि से जजर है।[5] यदि व्यक्ति मृत्यु से डरता है, तो यह उसकी मूढता ही है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता तो इसी में है कि वह इस ससार मे जीवित रहते प्राणिमात्र के उपकार हेतु कार्य करे, सुचरित्र का परिचय दे।

सत्सग—

जीवन मे सगति का अत्यधिक प्रभाव पडता है। यदि सत्सग है तो वह लाभदायी है और यदि कुसग है तो अनिष्टकारी। सत्सग सदैव कल्याणकारी होता है। व्यक्ति को सत्सग ही करना चाहिए।[6] अज्ञात स्वभाव वाले का सग विपत्ति का कारण होता है।[7] यदि सज्जन बुद्धिमान् व्यक्ति बहुत से मूर्खों की सगति में पडकर उसी प्रकार की स्थिति मे आ जाता है जैसे सरोवर मे खडा हुआ कमल तरगों के थपेडों से आहत होकर हिलता ही रहता है।[8] अत सज्जन व्यक्ति दुष्टजनों के सम्पर्क से दूर रहकर ही सदा सुखी रहते है।[9] क्योंकि विद्वान व्यक्ति यदि स्वय कोई अपराध नही करता है तो भी दुष्ट के ससर्ग से उसमे भी द्वेष उत्पन्न हो जाते है।[10] इसी प्रकार अल्प गुण वाले का सग करके भी

---

1 सम्पच्च विद्युदिव सा लोकलोचन खेदकृत्।
लोला क्वापि लय याति या परानुपकारिणी॥ क स सा 4 2 28
2 वही 4 2 40-44
3 तस्माद्वातेऽपि रम्येऽपि क काये गत्वर ग्रह।
सत्त्वोपकारस्त्वेतस्मादेक प्राज्ञस्य शस्यते॥ वही 6 2 41
4 वही 12 27 106 108
5 वही 12 27 134 136
6 कस्य सत्सङ्गा न भवेच्छुभ। वही 10 6 186
7 बृ क म 16 306
8 एको बहूना मूर्खाणा मध्ये निपतना बुध।
पद्म पाथस्तरङ्गाणामिव विप्लवते ध्रुवम्॥ क स सा 6 6.55
9 "निवृत्तपापसम्पर्का सन्तो यान्ति हि निर्वृतिम्॥" वही 7 9 128
10 दुर्जनश्चेत्स्वय दोष विपश्चिन्न करोति तत्।
उत्पद्यते स तत्सङ्गादत्र च श्रूयता कथा॥ वही 10 4 125

दुर्दशा को प्राप्त होते हैं।[1] नीच व्यक्ति के संसर्ग से मनुष्य का कल्याण नहीं होता है। क्योंकि दुष्ट अत्यन्त प्रिय के विषय में भी अपना विकार ही दिखाता है।[2] अतः व्यक्ति को विवेकपूर्ण संग करना चाहिए। सत्संग ही चरित्र का निर्माण करता है। लोक जीवन में आज भी यह देखा जाता है कौन व्यक्ति किसके साथ उठता बैठता है। उसकी संगति के आधार पर उसे सज्जन दुर्जन कहा जाता है।

त्याग एवं समर्पण—

व्यक्ति को कार्य विवेक से करना चाहिए। जो जिसका कार्य नहीं है उसे करने वाला विनाश को प्राप्त होता है।[3] जो प्राप्त है उसी में मन सन्तुष्ट है तो सर्वसुख है। तृष्णा लोभ तो अनन्त है।[4] असंतोष दोनों लोकों में असह्य और निरन्तर दुःखदायी है।[5] लोक-जीवन में व्यक्ति संतोष व धैर्यपूर्वक प्राणिमात्र के उपकार हेतु कार्य करते हैं। दुर्जनों की संगति से बचते हैं क्योंकि "क्षुद्रश्च स्यादविश्वासस्यस्तत्र" अर्थात् सभी क्षुद्र व्यक्ति अविश्वासी होते हैं।[6] नीच मनुष्य दूसरे का काम बिगाड़ना ही जानते हैं बनाना नहीं। लोक जीवन में सभी जानते हैं कि मूषक शक्ति अन्नभंडार को विदीर्ण करने के लिए ही होती है उसकी रक्षा के लिए नहीं। दुष्टजनों के संग में पड़कर सज्जनों का भी मरण होता है।[7] समय पड़ने पर एक दूसरे की सहायता करते हैं। समय ही बलवान् है। समय परिवर्तनशील है। आपत्ति में स्वामी एवं मित्र का त्याग नहीं करते हैं। वे जानते हैं कि उत्तम कुल वाले पशु भी आपत्ति के समय अपने स्वामी या मित्र का त्याग न करके उनकी रक्षा करते हैं।[8] सहज, सरल लोक जीवन में लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। अभिमानी पुरुष का कल्याण असंभव है।[9] वहाँ पर आपस में सद्भाव है स्नेह है और त्याग एवं समर्पण की भावना है। ऐसे में अहंकार जैसे शत्रु वहाँ कैसे रह सकते हैं। व्यवहार में मधुर वाणी का प्रयोग करते हैं। वाणी की मधुरता कटुता से ही मित्र एवं शत्रु बन जाते हैं।[10] अहिंसा में विश्वास करने वाले लोक की मान्यता है कि प्राणी के प्रति द्रोह विनाश

1. एवं गुणस्य वेऽल्पस्य वस्त्वा नान्तर विदु।
   ते हान्गुणसङ्गेन मृता यान्ति पराभवम्॥ क स सा 10 7 180
2. न नावजनससर्गान्तरो भद्राणि पश्यति।
   दर्शयत्यत्र विकृतिं सुप्रियेऽपि खलो यतः 12॥ —शुक एकविंशतयाकथा पृ 16
3. क स सा 10 4 32 बृ क म 16 443
4. क स सा 8 3 233
5. वही 10 5 185
6. वही 10 6 46 12 4 154
7. शुक एकविंशतयाकथा पृ 100 श्लो 12 125
8. एवमुत्तमजन्मानस्तिर्यञ्चोऽप्यापदि प्रिये
   प्रभुं नोज्झन्ति मित्रं वा तारयन्ति तत पुनः —क स सा।
9. दृष्ट यथा नाहङ्कारान्नाद् सर्वमिदं महत्
   पुमानदृष्टे दृष्ट वा यद्योऽहङ्कारिणा कुत वही 9 2 46
10. मित्राणि शत्रुतां यान्ति शत्रवो यान्ति मित्रताम्
    वाक्त्वेनैव वान्तानाबुधो गम्भीरम् ॥ बृ क म 16-443

की ओर ले जाने वाला है।[1] व्यक्ति को सच्चरित्र होना चाहिए क्योंकि शील ही विद्या, धन, बुद्धि से श्रेष्ठ धर्म है।[2]

अतिथि-सत्कार

भारतीय संस्कृति में "अतिथिदेवोभव" कहा गया है। संस्कृत लोककथा साहित्यकालीन लोक-जीवन में भी अतिथि को देव समरूप मानकर उसका सच्चे हृदय से आदर-सत्कार किया जाता रहा है। अतिथि के आने पर उसका स्वागत करने में लोग अपना सौभाग्य मानते हैं एवं आनन्दानुभूति करते हैं। लोग देवता-पितर तथा अतिथि को देकर बचे हुए परिमित अन्न को खाकर जीवन निर्वाह करते हैं। दुर्भिक्ष पड़ने पर भूख-प्यास से व्याकुल, अन्न की कमी से कष्टापन्न अवस्था में भी भोजन के समय किसी थके हुए अतिथि के घर आने पर, ऐसे प्राण-संकट के समय में भी सारा भोजन उसे दे देते हैं।[3] अतिथि के आगमन पर हर्ष का अनुभव कर, सस्नेह सत्कार करते हैं।[4] अतिथि का उबटन, मालिश, स्नान तथा सुन्दर वस्त्राभूषणों एवं इत्र से सम्मान करके उसे विविध प्रकार के भोजन कराते हैं।[5] अतिथि का आदर-सत्कार करने के बाद उसे पूछा जाता है कि आप कौन हैं। कहाँ के रहने वाले हैं और कहाँ जा रहे हैं।[6] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय में अतिथि से तात्पर्य आधुनिक अर्थात् सगे-सम्बन्धी से नहीं है। अतिथि का वास्तविक अर्थ अ + तिथि अर्थात् बिना किसी तिथि की सूचना के घर द्वार पर आने वाला व्यक्ति है। घर पर आये ऐसे व्यक्ति का अतिथि के रूप में सहृदयता से सत्कार करते हैं। अतिथि-सत्कार के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[7] गृहस्थी का यह कर्त्तव्य भी है कि द्वार पर आए अतिथि का आदर करे। लोक-जीवन में अतिथि को देव रूप मानकर स्वागत-सत्कार किया जाता है।

लोग किसी कार्यवश या किसी सम्बन्धी से मिलने के लिए यातायात के सुलभ साधन के अभाव में एक स्थान से दूसरे स्थान को पैदल ही जाते थे। रात हो जाने पर या भूख प्यास के लगने पर अथवा विश्राम हेतु मार्ग में पड़ने वाले ग्राम में किसी के यहाँ आश्रय लेते हैं, वे ही अतिथि हैं। ऐसे अतिथि को ही "देव" कहा गया है। अतिथि जितना जो भी प्रेम से मिल जाता, उतने में ही संतोष प्राप्त कर अगले दिन अपनी मंजिल की ओर चल पड़ता है।

---

1 बृ. क. म. 16 463

2 विदेशेषु धनं विद्या व्यसनेषु धनं मतिः।
परलोके धनं धर्मः शीलं सर्वत्र वै धनम्॥ वही, 18 133

3 क. स. सा. 6 1 90-97

4 वही 2.2.204

5 वही 8 6.202 3 4.319 320

6 तत्र चापूजयत्स्नानभोजनाद्यैस्तमुत्तमैः।
कः कुतस्त्वं क्व यासीति विश्रान्तं च स पृष्टवान्॥ वही, 12.19.31

7 वही, 12.14.55 56 10 7 70 12.13 18-21 7 4.31 33 9.2.241 242 9 2.229
शुक. प्रथमाकथा, पृ. 6

शरणागत-रक्षा

सामान्य जन शरणागत की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। किसी अशरण या विपदग्रस्त की प्राण देकर भी रक्षा करते हैं। इसी में पराक्रम की सार्थकता भी समझते हैं।[1] शरण में आने वाला भी अपनी आपत्ति को बताकर कह देता है—अब आप जो उचित समझें करें।[2] लोक-जीवन में राजा शिवि की कथा प्रचलित रही है। जिसने शरणागत की रक्षा के लिए अपना माँस दे दिया था।[3] शरण में आए व्यक्ति की रक्षा करना भी अपना धर्म मानते हैं। लोगों के विदेश जाते समय सुरक्षा के लिए वस्तुएँ एक दूसरे के यहाँ धरोहर के रूप में रख जाते हैं और लौटकर पुनः प्राप्त कर लेते हैं।[4] यद्यपि इसमें एक दूसरे का विश्वास ही मुख्य रहा है परन्तु किसी की साक्षी में न्यास रखते हैं जिससे कोई बदल न जाए।

परोपकार—

लोक जीवन में परोपकार ही श्रेष्ठ धर्म रहा है। उपकार से मृत्यु का भय दूर हो सकता है।[5] विपत्तिग्रस्त होकर भी सज्जन दूसरे का उसी प्रकार उपकार करते हैं जैसे सहस्रों खण्ड होकर भी चंदन वृक्ष दूसरे का ताप दूर करता है।[6] जीमूतवाहन वाछित फल देने वाले अपने उद्योग रूप कल्पवृक्ष का परोपकार के लिए प्रयुक्त करने में उसकी सफलता मानता है।[7] कथासरित्सागर की एक कथा में एक बालक तो यहाँ तक कहता है—"अपने शरीर का दान करके मैंने जो पुण्य अर्जित किया है उससे मुझे ऐसा स्वर्ग अथवा मोक्ष न मिले जिससे दूसरों का उपकार नहीं होता है बल्कि जन्म जन्मान्तर में मेरा यह शरीर परोपकार के काम आए।[8] बालक स्वर्ग एवं मोक्ष में भी परोपकार को श्रेष्ठ मानता है। संसार में एकमात्र परोपकार ही चिर स्थायी है जो धैर्य और यश को जन्मदाता है तथा जो सैंकड़ों युगों तक उसका साक्षी बना रहता है। यह मेरा है यह तेरा है कहने वाले पूर्वज आज कहाँ चले गये हैं। अतः क्षणिक भोगों के लिए किसी वस्तु का परिग्रह नहीं करना चाहिए अपितु वह परोपकारी बने इसी में उसकी सार्थकता है।[9]

---

1 तत्र वारणादस्माद्रक्ष्याम्यशरणामिमाम्।
आपन्नत्राणविफलै किं प्राणै पौरुषेण वा॥ —क स सा 6 1 172

2 वही 4 1 44

3 वही 10 6 100

4 वही 3 2 44 98, शुक्र एकविंशतमीक्षण, पृ 107

5 ईदृगव हि सर्वस्य जन्तोर्मृत्युभय भवेत्।
तद्रक्षणोपकाराच्च धर्म कोऽभ्यधिको वद। क स सा 6 1 13

6 अभिभूतोऽपि विपत्त्या करोति सुजन परस्य उपकारम्।
अपनयत्यन्यताप चन्दनवृक्ष सहस्रखण्डोऽपि॥ 70 शुक्र सप्ततिरेखण पृ 54

7 क स सा 4 2 29

8 ___स्वदेहदानेनानेन सुकृत यन्मयार्जितम्। 120
तेन मा भूत्स्वर्गो मोक्षो वा निरुपक्रिय।
भूयासु मे परार्थाय देहो जन्मनि जन्मनि॥ वही 12 27 120-121

9 वही 12 23 17 22

सर्वभावेन परोपकार को ही श्रेष्ठ धर्म कहा गया है। वस्तुत लोक जीवन तो उपकार प्रत्युपकार से ही चलता आ रहा है। बल्कि लोक जीवन में तो ऐसे लोग भी रहे हैं जो बिना प्रत्युपकार की भावना के सदैव उपकार में सलग्न रहे हैं और उपकार करने में ही उनका जीवन व्यतीत हो गया। धीर व्यक्ति के विषय में कहा गया है कि अधिक जल सघर्ष मे जैसे अधिक बिजली उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भीषण और गभीर सकट के समय जिसकी बुद्धि का स्फुरण होता है वही धीर है।[1] उदार चित्त वाले व्यक्ति दूसरों के विरूद्ध काया में प्रवृत्त नही होते। यह उनका सहज स्वाभाविक नियम ही है।[2] लोक-जीवन में भीरू व्यक्ति भी रहे हैं जो विवेकहीन थे।[3]

लोक-जीवन में नीति का व्यावहारिक रूप ही सर्वोत्कृष्ट है। छल, आडम्बर और कपट रहित सरल हृदय "लोक" वाणी एव जीवन शैली में परम्परा से प्राप्त नीति को व्यावहारिक रूप दे रहा है। उसमें सहयोग, स्नेह एव त्याग है। बडों के प्रति आदर एव कर्त्तव्य की भावना है। अपने जीवन की सार्थकता उपकार में मानते हैं। उनके अनुसार समय ही बलवान है, धन तो चचल है। व्यक्ति को समभाव रहना चाहिए। अपना क्या है और पराया क्या है यह शरीर तो नश्वर है हम तो चले जायेंगे और शेष रह जायेंगे किए कार्य एव यश। प्राणिमात्र के उपकार को दृष्टि में रखकर कार्य करने चाहिए।

8. अपनीति एव दुराचार

जीवन व्यवहार में सर्वोत्कृष्ट नैतिकता के होने पर भी अनैतिकता एव दुराचार भी रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है। इस पृथ्वी पर भले बुरे सभी प्रकार के व्यक्ति रहे हैं। जहाँ दिन है, वहाँ रात भी होगी। जहाँ अच्छाई है वहाँ बुराई भी होगी और यदि बुराई न होगी, रात न होगी तो अच्छाई का पता कैसे चलेगा, दिन का आभास कैसे होगा। तत्कालीन समाज के उच्च वर्ग में अनैतिकता एव दुराचार अत्यधिक बढ रहा था, जिसका प्रभाव लोक जीवन के ऊपर भी पडना स्वाभाविक ही था। तत्कालीन राजा, सामत सुरा सुन्दरी, आखेट आदि से पूर्ण विलासिता का जीवन जी रहे हैं। उनके लिए कहा जा रहा था "इस ससार में किसी पर विश्वास नही है, स्नेह नही है, किसी के साथ बधुता सभव नहीं है, कपटाचारी राजा के राज्य में सब असभव है।[4] कौए में पवित्रता, जुआरी में सत्य, सर्प में क्षमा, स्त्रियों में काम शान्ति, नपुसक में धैर्य, शराबी में परमात्म चिन्तन, राजा की मित्रता किसने देखी या सुनी है अर्थात् किसी ने न तो देखी है न ही सुनी है।[5] उसी प्रकार

1 जलाहतो विशभण वैद्युताग्रेरिव द्युति।
आपदि स्फुरति प्रज्ञा यस्य धार स एव हि॥ क स सा 2 4 41

2 वही 3 3 149

3 वही 3 1 39

4 न सौहृद न विश्वासो न स्नेहा न च बन्धुता।
केनापि सह ससारे कुतो राजा छलार्थिना॥ 32 —शुक पञ्चमीकथा, पृ 32

5 काके शौच द्यूतकारे च सत्य सर्पे क्षान्ति स्त्रीषु कामोपशान्ति।
क्लीबे धैर्य मद्यप तत्वचिन्ता राजा मित्र केन दृष्ट श्रुत वा॥ 33 —वही पञ्चमीकथा पृ 32

नदियों, नखधारी सिंहादि शृंगधारी भेड़ा आदि पशुओं हाथ में शस्त्र लिए पुरुषों स्त्रियों और राजाओं का विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि हँसता हुआ भी गज सम्मान करता हुआ भी दुष्ट स्पर्श करता हुआ भी गज सूँघता हुआ भी सर्प प्राणों का हरता है।[1]

अविश्वास की खान राजाओं ने अपनी रक्षा एवं स्वार्थ सिद्धि हेतु धरती को मनाओ से भर दिया, जो मनोहर प्रासादों में रत्न जटित पलंगों पर बैठे जहाँ संगीत की झंकार भरी रहती है, जो अपने शरीर में चंदन का लेप करते है अपने को अमर समझकर उत्तम स्त्रियों से घिरे रहते है और सुख भोगते हैं।[2] राजा दासियों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करते हैं। "नरेश विजित देश की सुन्दरियों को पकड़कर रखने में अपना गौरव अनुभव करते थे। तत्कालीन साहित्य मे राजाओ के वासनापूर्ण विलासमय जीवन के उभरे हुए चित्र सुलभ है।[3] यौनाचार दुराचार एवं ऐश्वर्य का तो चोली दामन का सम्बन्ध रहा है। ऐश्वर्य सम्पन्न एवं शक्तिशाली जन ही यौनाचार एवं दुराचार में प्रवृत्त होते है। धन सम्पन्न एवं शक्तिशाली लोग ही सर्वप्रथम इस ओर प्रवृत्त हुए है क्योंकि निर्धन व्यक्ति तो इन कार्यों मे संलग्न होने से रहा उसको तो प्राथमिक अनिवार्य आवश्यकता जीविका रही है।

कथासाहित्य में व्यक्ति धन एंठने के लिए विभिन्न हथकण्डे छल कपट अपना रहा है। ठग वैद्य (चिकित्सक) लोगों के जीवन के साथ खेल रहे है तपस्वी वेशधारी वञ्चक लोगों को ठग रहे है। ऐसे व्यापारी भी है जो धन के लोभ में पत्नी से [illegible] है।[4] दलाली करके धन कमाते है।[5] हिरण्यगुप्त आचरण भ्रष्ट वणिक है। उपकोशा हेतु लाने हेतु दासी को भेजता है। वह वणिक एकान्त में आकर उपकोशा से कहता है—तुम मेरी सेवा स्वीकार करो तो मैं तुम्हारे पति के द्वारा रखे गये धन को तुम्हें वापस कर सकता हूँ। राजपुरोहित द्वारपाल एवं मंत्री भी उसका उपभोग करना चाहते है।[6] लोभी वणिक स्वार्थ सिद्धि के उपरान्त सहायता करने वालों के प्रति आभार व्यक्त करने की बजाय कुग कामना एवं दुर्व्यवहार करते है।[7] सार्थवाह चुंगी से बचने के लिए उचित मार्ग को छोड़कर जंगली पथ से होकर गुजरते है।[8] भ्रष्टाचार बढ़ रहा था। अपने कार्य की सिद्धि के लिए विरोधी को उत्कोच (धन) देकर अनुकूल कर लिया जाता है।[9] क्षेमेन्द्र ने निर्भीकता के साथ राजा को मंत्रणा दी है कि वह घूस लेने वाले मंत्री सेनापति तथा राजपुरोहित को शीघ्र ही निलम्बित करे अन्यथा प्रजा में आक्रोश की भावना का जागरण हो सकता है।

1 शुक पञ्चमीकथा श्लो ३५ ३८ पृ ३३
2 क स सा 12 ३।१३ १५
3 क स सा तथा भा स पृ १४
4 क स सा ७ ।५५ ८।
5 वही २।३।४।
6 वही १।४।८६
7 वही 3.4.315 317
8 वही ८ ३।105 107
9 शुक तृतीयाकथा पृ २०।

कल्हण ने कश्मीर के कतिपय भ्रष्ट-मंत्रियों का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने दुराचरणों के द्वारा बहुत धन-संग्रह कर लिया था।"[1]

राजपुरोहित लोभ में फँस चुके थे। इन लोभी राजपुरोहितों के लिए भेंट, उपहार आदि एकमात्र आकर्षणकारी औषधि पर्याप्त थी।[2] बिना परिश्रम के प्राप्त राजवृत्ति की आय से मदोन्मत्त मठवासी ब्राह्मण अपनी अपनी प्रधानता चाहते हुए परस्पर झगडने लगे थे। दुष्ट ग्रहों के समान गुट बनाकर, गाँव के कार्यों में बाधा पहुँचाने लगे थे।[3] उत्कोच एवं भ्रष्टाचार पतनान्मुख समाज के लक्षण हैं। कथासाहित्य की सूचनाओं के आधार पर तत्कालीन प्रशासन के भ्रष्ट स्वरूप का अंकन किया जा सकता है। मंदिर के पुजारी उत्कोच का प्रलोभन देकर कोतवाल से अपना कार्य सिद्ध करवाते हैं। उत्कोच ऐसा अमोघ शस्त्र है जिसके सम्मुख प्रशासकीय नियम एवं विधान महत्त्वहीन हो जाते हैं। लालची कर्मकरों के लिए घूस एकमात्र औषधि रहा है। सेवक भी इसके लोभ से फंदे जाते रहे हैं। चोरी एवं झूठ जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती है।[4] ऐसे चोर का उल्लेख हुआ है जो साहसी एवं धनी है। जिसके यहाँ कई श्रेष्ठ सुन्दरियाँ है रत्नों से मंडित उसका गृह है, सदैव नये-नये उपभोग करता है।[5] चोर रात को आकर ग्रामों नगरों में चोरी करते हैं।[6] अस्त्र शस्त्रों से राहगीरों के वस्त्र आभूषण लूट लेते है।[7]

परदारा का अपहरण एवं संसर्ग अनैतिक माना गया है। परस्त्री के संगम से होने वाले पाप के कारण जब देवताओं की भी दुर्दशा होती है तो दूसरों की तो बात ही क्या।[8] सच्चरित्र एवं सज्जन पुरुषों का पराई स्त्री से कोई प्रयोजन न था।[9] परदारा का अपहरण पाप है।[10] जो इस लोक तथा परलोक में भी नरक में पतन का कारण बनता है।[11] स्त्रियों का अपहरण उनके साथ बलात्कार तक किये जाते है। राजा एवं सामंत जो प्रजापालक हैं उनके नैतिक-पतन का उदाहरण तो "वर्णसंकरदास" ही सिद्ध कर देते हैं। उनके लिए स्त्री विलास की वस्तु है। उनमें नित्य नवयौवना के उपभोग की ललक सदैव बनी रहती है। वे राज सत्ता को अपने हस्तगत रखना चाहते हैं। राम जैसे प्रजापालक राजा भी बहुत बडी लडाई लडने के बाद प्राप्त की गई पत्नी सीता का लोकनिन्दा के भय एवं सत्ता के मोह से त्याग कर उसे वन में छोड देते हैं।[12]

---

1 क स सा तथा का म पृ 112
2 सोऽप्युपायनलाभातच्छद्धे कल्पितायति। उपप्रदान लिप्सूनामेक-ह्याकर्षणौषधम्॥ क स सा 5 1 119
3 वही 3 4 129 130
4 वही 9 4 113
5 वही 16.2 156 160
6 वही 12.21 11 14 16 2 148 150
7 वही, 12.31 13 21
8 देवानामप्यहो येन पापेन क्लेश ईदृश।
परस्त्रीसंगमोत्थेन ह्यन्यषा तत्र का गति॥ वही 9 2 262
9 वही 12 17.53 54
10 "परदारापहारोत्थं पापमस्ति च ते बहु।" वही 9 2 255
11 वही 8 6.51 55
12 वही 9 1 67 70

अनेक स्त्रियाँ स्वयं भी अपना नैतिक आचरण खो चुकी थीं। दुष्ट स्त्रियों के विषय में यह कहा जा रहा था—"पहले झूठ की उत्पत्ति हुई और उसके उपरान्त दुष्ट स्त्रियों की।"[1] ऐसी कथाओं की भरमार है जिनमें विवाहिता स्त्रियाँ पर पुरुष के साथ रमण कर रही हैं। शुकसप्तति" में तो प्राय सभी कथाएँ ऐसी ही हैं। ऐसी अनेक दुष्टा स्त्रियों के उल्लेख हैं जो अपने प्रेमी के लिए स्वयं पति की हत्या करती हैं।[2] जो कामासक्त स्त्री निर्भय होकर सहवास कर बैठती है वह दूसरों की सृष्टि को तलवार की भांति अपने कुल को नष्ट कर डालती है।[3] एक प्रसिद्ध वेद विद्या विशारद अध्यापक की पत्नी कालरात्रि प्रवास के अवसर पर उसके शिष्य को मोहित कर उससे अनुचित प्रस्ताव रखती है।[4] दूसरी कामातुरा गुरु पत्नी हठपूर्वक अपने पति के शिष्य देवदत्त का वरण करती है।[5]

यह मान्यता थी कि विवाह राजगृह संकट दूसरे के घर [illegible] वन देव दर्शन अथवा देव यात्रा हवन काल तीर्थ जलाशय मालिन के घर में यात्रा में स्त्रियों के समूह में एकान्त में भीड़ में नगर में ग्राम में तथा द्वार पर सदा [illegible] रहने वाला स्वच्छन्द नारी उक्त स्थानों पर अपना शील भङ्ग करती है।[6] [illegible] प्रिय है और यह मेरा सर्वदा प्रिय है स्त्रियों के विषय में ऐसा [illegible] व्यर्थ है। [illegible] स्त्रियाँ चंचल स्नेहशून्य गुण रहित कुत्सित मदद अथवा अज्ञान [illegible] होती हैं। स्त्रियाँ सदैव पूर्व में स्नेहमयी एवं कोमल होती हैं परन्तु स्वार्थ सिद्ध [illegible] के बाद निष्ठुरता का व्यवहार करती हैं। स्त्रियाँ जब तक पुरुष [illegible] अपने में अत्यन्त [illegible] नहीं समझतीं तभी तक पहले अनुकूल आचरण करती हैं [illegible] पुरुष [illegible] समझने [illegible] चारा निगले हुए मत्स्य की भाँति अपने हाथ में कर लेती हैं। समुद्र की तरङ्ग के समान चंचल स्वभाव वाली सायंकालीन बादल के समान क्षणिक अनुराग रखने वाली स्त्रियाँ स्वार्थ सिद्ध करने के बाद अर्थ शून्य पुरुष को निचोड़े हुए महावर की भाँति त्याग देती हैं। ये स्त्रियाँ पुरुषों के दयालु हृदय में प्रवेश कर उन्हें मोहती हैं मतवाला बना देती हैं तिरस्कार करती हैं फटकारती हैं मुग्ध देती हैं विषाद उत्पन्न करती हैं ये कुटिल नेत्र वाली स्त्रियाँ क्या नहीं करती हैं।[7]

---

1 [illegible] पश्चाज्जाता हि कुस्त्रियः [illegible] —[illegible]
2 वही [illegible] 181 187
3 सा [illegible] प्रविश्यान्तः पत्युः सुप्तस्य दुर्जना
तेनैव तत्कृपाणेन तस्य मूर्धानमच्छिनत् [illegible]
4 वही [illegible] 150-154
5 वही [illegible]
6 शुक [illegible] पृ 247 250।
7 अनुरागो वृथा [illegible] वृथा [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
—[illegible]

समाज के नैतिक-पतन मे विवाहिता स्त्रियों की महती भूमिका रही है। पति से विभिन्न बहाने करके पर-पुरुष का संसर्ग कर रही थी। वैसे तो स्त्री का चरित्र सामाजिक मर्यादा का आधार स्तम्भ होता है परन्तु जब वह स्वय ही अनैतिक यौनाचार में प्रवृत्त हो जाए तो उसकी सतान पर उसका अवश्य प्रभाव पडेगा और समाज में अनैतिकता बढती जायेगी। वेश्यावृत्ति तो चरमोत्कर्ष पर रही है। वेश्या का स्नेह सध्यासम कहा गया है। वे पुरुष का धन चूसकर उसकी गर्दन पकड कर उसे बाहर कर देती हैं।

जुआ-प्रथा का प्रचलन रहा है। रात दिन जुआ खेलने के उल्लेख हुए हैं। द्यूतशालाओं में रात दिन जुआरी पडे रहते हैं। द्यूतशाला एक ऐसा भवन है, जिसे विपत्तियाँ निरन्तर देखती रहती है। वहाँ फेंके जाने वाले पासें ही उनकी आँखे हैं। उनका रग कृष्ण-मृग के समान है। वे विपत्तियाँ कहती हैं—देखें, आज यहाँ कौन आकर फँसता है ? जुआडियों के लडाई-झगडे की आवाज गूँज रहा है जो यह कहती सी जान पडती है—वह कौन है जिसकी लक्ष्मी का हरण हमसे न हो सकेगा भले ही अलकापति कुबेर स्वय आ जाए, यहाँ उसकी भी लक्ष्मी लुट जाएगी।[1] दिन रात वहाँ नये नये लोग आकर जुआडियों के साथ जुआ खेलते हैं। खेल मे तन के कपडे तक हार जाने पर एव दूसरों से लिए गये धन के भी गँवा बैठन पर द्यूत शाला के मालिक डण्डों से पीटते हैं घायल होकर दो-तीन दिन तक वही पडे रहते हैं, प्राणहीन होने पर द्यूत शाला के मालिक किसी अधे कुए म उन्हे डलवा देते हैं।[2] द्यूत-क्रीडा मे इतनी बुराइयाँ होने पर भी लोग उसकी ओर खिंचे चले जाते है।

इस प्रकार तत्कालीन लोक जीवन मे जहाँ नैतिक जीवन-व्यवहार में रही है, वहीं नैतिक-पतन भी हुआ है। समाज में सज्जन दुर्जन सदैव रहे हैं। सज्जनो के सच्चरित्र को देखकर जलते हुए तथा उनकी विभिन्न प्रकार से निन्दा करते हुए दुष्टजन उन पर प्राय झूठे कलक लगा देते हैं। यदि उन्हे सचमुच ही कोई छोटा सा भी अवसर मिल जाये तो

---

1 आश्लिष्याम कमत्रति विपद्भिरिव आश्रितम्।
क्षिप्तै कृष्णशाराभैर्नेत्रक्षैर्निरन्तराम् ॥ 16
क सोऽस्ति न श्रिय यस्य हराम्यप्यलकापते ।
इतीव तन्वती नादान्द्यूतकृत्कलहस्वनै ॥ 17 —क स सा 12.25 16 17

2 ता प्रविश्य क्रमाद्दाव्यन्नाभे स कितवै सह ।
वस्त्रादि हारयित्वापि धनमन्यदहारयत् ॥ 18
मृग्यमाण च यत्नादात्म तद्धनममभवि ।
तदवष्टभ्य सभ्यन लगुडै पर्यताड्यन ॥ 19
लगुडाहतसर्वाङ्ग पाषाणमिव निश्चलम्।
कृत्वा मृतमिवात्मान तस्थौ विप्रसुतोऽथ स ॥ 20
तथैव दिवसान्द्विास्तत्र तस्मिन्नवस्थिते ।
क्रुध स सभ्यष्टिण्ठाया कितवान्स्वान्स्वा भाषत ॥ 21
त्रितानेनाश्मता तावत्तदेत क्षिपत क्वचित् ।
नीत्वान्धकूप निःसत्व धन दास्याम्यह तु व ॥ 22 —वही 12 25 18 22

उसके लिए जलती हुई आग में घी का सा काम करते हैं।[1] लोक जीवन में नैतिक मर्यादा के भङ्ग होने के मुख्य कारण—राजा सामंत की विलासितापूर्ण दुष्प्रवृत्तियाँ, ऐश्वर्यसम्पन्न लोगों द्वारा अधिक धन प्राप्त करने की लालसा एवं स्त्रियों की स्वच्छन्दता तथा धर्माडम्बर रहे हैं। राजा सामंत राज कार्यों को भूलकर सुरा सुन्दरी द्यूत आखेट आदि व्यसनों में संलग्न हो गये थे। मंत्री पुरोहित आदि स्वच्छन्द होकर राज सत्ता का दुरुपयोग करने में संलग्न थे। पुजारी दक्षिणा के लोभ मे असमय दर्शनार्थ मंदिरों के द्वार खोल देते थे।[2] मंदिर में देव दासियों के साथ यौनाचार सम्बन्ध पनप रहे थे। मठों में ब्राह्मण स्वार्थवश लडते झगडते एवं समाज के लोगों को लडाते थे। तन्त्रक प्रवृत्ति के लोग सन्यासी का वेश धारण कर लोगों को ठगने लगे थे। व्यापारी धन पाने के लिए अपनी स्त्रियों को पर पुरुष के संसर्ग हेतु भेजते थे राजकुमारियाँ एवं रानियाँ अन्तःपुर में पर पुरुष का संसर्ग करती थी। राजा सामंत दासियों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करते थे। दास दासियाँ एवं सम्पूर्ण भृत्य वर्ग उच्च वर्ग की विलासिता का साधन मात्र बन कर रह गया था। विवाहिता पति से विभिन्न बहाने करके पर पुरुष का संसर्ग करने लगी थी। अपने प्रेमी (जार) के लिए पति की हत्या तक कर देती थी। चोरी लूट हत्या जुआ झूठ बलात्कार आदि दुष्प्रवृत्तियाँ बढ रही थी। धार्मिक विश्वास का स्वार्थ पूर्ति में उपयोग होने लगा था।

नैतिकता एवं सच्चरित्रता लोक के व्यावहारिक जीवन में जीवन्त रही। लोक अपने पारम्परिक विश्वास मान्यताओं एवं नैतिक मर्यादाओं के अनुरूप जीता रहा है। एक दूसरे के प्रति त्याग स्नेह समर्पण एवं सहयोग की भावना प्रबल रही है। दूसरे के दुख को अपना समझते है। स्वार्थ को भूलकर परोपकार में विश्वास करते हैं। पर स्त्री के संसर्ग को पाप समझते हैं। अतिथि को देवरूप मानकर उसका आदर सत्कार करते हैं जिस कार्य को करने के लिए हाँ कर देते हैं उससे पीछे नहीं हटते हैं। प्राण संकट में पर पुरुष की सहायता करते हैं। सुख दुख में समभाव रहने वाला लोक सर्वस्व के प्राप्त होने पर अभिमान नही करता है। लोक समय को ही सर्वशक्तिमान मानता है। समय परिवर्तनशील है। समय कहकर नहीं आता है। उसे करवट बदलते देर नहीं लगती है। आज जो अमीर है कल कंगाल बन सकता है लक्ष्मी तो चंचल होती है। संकट समय आने पर एक दूसरे की सहायता करते हैं बड़ों के प्रति आदर सम्मान करते हैं। फूँक फूँक कदम फूँककर रखते है। उनमें कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का भेद बुद्धि है। सर्वहित को दृष्टि में रखकर ही कर्म में प्रवृत होते हैं। तत्कालीन लोक हृदय की गंगा में सत्य शील सदाचार एवं नीति का पुनीत शीतल जल प्रवहमान रहा है।



1. क. स. सा. 5 | 228
2. वही 25 | 73

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

उपसहार

लोकसाहित्य लाक का लोक के लिए लाक के द्वारा रचित मौखिक परम्परा में पीढी दर पीढी प्रवहमान साहित्य है परवर्तीकाल म भले ही उस सगृहीत कर लिपिबद्ध कर लिया जाता रहा हो। "प्रत्यक्षदर्शी लाकाना सवदर्शी भवनर। "लाक के इसी प्रत्यक्ष जीवन के समस्त पक्षों का उसके हृदय के सुख दुख राग विराग आशा निराशा ईर्ष्या द्वेष, प्रेम लोक प्रचलित परम्परा आस्था विश्वास एव उनके अनुष्ठान का यथार्थ निश्छल एव स्वाभाविक चित्र लोक साहित्य है। अत लाक सस्कृति का जैसा निमल एव अकृत्रिम प्रतिबिम्ब इस साहित्य म उपलब्ध हाता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ हो जाता है। लोक साहित्य की निर्मल सरिता में अवगाहन कर केवल काया ही पवित्र नहा हाती प्रत्युत आत्मा भी पूत बन जाती है।

लाककथा लाक साहित्य का तो सशक्त एव प्रमुख अग है ही वह विश्व साहित्य का मूल उत्स एव सनातन प्रेरणा स्रोत भी है। "लाककथा समाज का वैसा है जिसके चित्र मार्मिक एव यथार्थ होते हैं। लोक साहित्य के मर्मज्ञ श्री रामनारायण उपाध्याय न सटीक शब्दा मे कहा है— आदमी ने जा कुछ किया इसका लखा जाखा ता इतिहास म आ जाता है लेकिन अपने मनोजगत में उसने जा कुछ भी साचा विचारा रगीन कल्पनाए बुनीं सुन्दर सपने सजोए उनका विवरण इन लाककथाओ म सुरक्षित है।...। इनम व्यक्ति स्थान या काल का कोई महत्त्व नहीं होता वरन् ये अपारुषेय और शाश्वत है। मनस्ताप के क्षणो म इन्होंने हम बहलाया और घोर निराशा के क्षणो में भी मनुष्य म अमिट आशा का सचार किया है।

विश्वसाहित्य में सस्कृत लाककथा की अपनी विशिष्ट छवि है। जिसकी सुव्यवस्थित परम्परा गुणाढ्य की "बृहत्कथा" स आरम्भ होती है जो लोक भाषा पैशाची प्राकृत में लिखी गई। पैशाची प्राकृत तत्कालीन लाक जीवन में प्रचलित भाषा थी। बृहत्कथा की वाचनाओ—वसुदेवहिण्डी बृहत्कथाश्लोकसग्रह बृहत्कथमजरी कथासरित्सागर के अतिरिक्त वेतालपचविंशतिका सिंहासनद्वात्रिंशिका शुकसप्तति आदि सस्कृत लाककथा की कृतियाँ हैं। इन कथाओ मे लोक जीवन के न जाने कितने ऐसे सुपरिचित पक्ष उद्घाटित होते हैं जिनका यथार्थ स्वरूप हम न ता समसामयिक साहित्य स ज्ञात होता है और न ही इतिहास के पन्नों स। लोककथाओं में जहाँ धन धान्य स सम्पन्न "सोने का थाली" में छप्पन प्रकार के पक्वान्न परोसन खान वाले उच्चवर्गीय जीवन का वर्णन है वहा दरिद्र दीन हीन निराहार दिन काटने वाले का करूणापूर्ण स्थिति का वर्णन भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष हुआ है। मूर्ख चोर जुआरी धूर्त वेश्यागामी चालबाज हँसोड कपटी बदमाश ठग

लुच्चे, रगीले भिक्षु तथा समाज के भले बुरे, उच्च-निम्न, धनी कगाल, धर्मात्मा वञ्चक आदि से सम्बन्धित कथाएँ प्रचुर मात्रा मे हैं तो दूसरी ओर उच्चवर्गीय राजा, सामत एव सार्थवाहो के जीवन की विलासिता, ऐश्वर्य सुरा सुन्दरी से सम्बन्धित कथाएँ भी कम नही है।

अधिकाश सस्कृत लोककथाएँ प्रत्यक्ष रूप में लोक-जीवन से सम्बन्धित नही हैं, प्राय इन कथाओं के मुख्य पात्र राजा, सामत या ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग के लोग हैं। प्रसगवश यत्र-तत्र प्रत्यक्ष रूप में "लोक" से सम्बन्धित कथाएँ भी आई हैं जिनमें लोक जीवन की यथार्थ छवि अभिव्यक्त हुई है। सस्कृत लोककथाएँ प्रत्यक्षत "लोक" से इसलिए भी सम्बन्धित न रही हो कि "लोक' सदैव कष्ट, बाधाओं से घिरा रहा है, जीविका की जटिल समस्या के समाधान में ही लगा रहा है। "लोक" स्वय स्व जीवन से सम्बन्धित कथा कहता तो घाव को हरा करने का सा ही होता। अत दैनन्दिन कष्ट, दुख, उत्पीडन की विस्मृति हेतु कल्पना लोक की परियों की कथाएँ एव सम्पन्न वर्गीय जीवन के सुख भोग की कथाएँ मनोविनोद का साधन बनी।

सोमदेव भट्ट ने कथासरित्सागर के आरम्भ में ही कहा है—"बृहत्कथाया सारस्य सग्रह रचनाम्यहम्।" (1 3 3) यथा मूल तथैवेतन्न मनागप्यतिक्रम। ग्रथविस्तरसक्षेपमात्र भाषा च भिद्यते॥ (1 1 10) बृहत्कथामजरी" में कवि क्षेमेन्द्र की स्वीकारोक्ति है—

मेय हरमुखाद्गीर्णा कथानुग्रहकारिणी।
पिशाचवाचि पतिता सजाता विघ्नदायिनी॥ 29
अत सुखनिषेव्यासौ कृता सस्कृतया गिरा।
समा भुवमिवानीता गङ्गा श्वभ्रावलम्बिनी॥ 30

सिद्ध होता है कि इन दोनों कवियों की रचना का उद्देश्य "बृहत्कथा" के मूल एव सार को पैशाची प्राकृत से सस्कृत भाषा में प्रस्तुत करना है। इन कथाओं का मूल स्रोत स्वय भगवान शङ्कर हैं, जिन्होंने स्वप्रिया पार्वती की जिज्ञासापूर्ति के लिए प्रथमत इनका उद्घाटन किया। शङ्कर के "पुष्पदत" नामक गण ने इन्हें चोरी से सुना, जिस अपराध के कारण उसे भारतवर्ष की प्रसिद्ध कौशाम्बी नगरी के सोमदेव के पुत्र कात्यायन वररुचि के रूप में जन्म लेना पडा। कात्यायन से काणभूति तथा काणभूति से गुणाढ्य, यही अवतरण क्रम है इन कथाओं का। (कथापीठ, बृ क म एव क स सा—प्रथम लम्बक, प्रथम तरग)। बुद्धस्वामी ने अपने ग्रथ "बृहत्कथाश्लोकसग्रह" के अभिधान से ही इस ओर सकेत किया है कि वह "बृहत्कथा" के अत्यधिक निकट है। इन उल्लेखों से यह सिद्ध है कि ये कथाएँ "बृहत्कथा" के मूल से जुडी हैं। "वेतालपचविंशतिका" की कथाएँ कथासरित्सागर एव बृहत्कथामजरी दोनों ग्रथों में पद्य में निबद्ध मिलती हैं। "वेतालपचविंशतिका" अभिधान से स्वतत्र ग्रथ गद्य में निबद्ध है। ये कथाएँ "बृहत्कथामजरी" की अपेक्षा कथासरित्सागर में अधिक विस्तृत है। बृहत्कथामजरी में जहाँ 1206 श्लोक हैं, वहाँ कथासरित्सागर में 2195 श्लोक हैं। सभव है कि "वेतालपचविंशतिका" की ये कथाएँ मूल बृहत्कथा में उपलब्ध न रही हों। प्रत्यक्षत नरवाहनदत्त की कथा से इन कथाओं का सम्बन्ध नही है।

बृहत्कथाश्लोकसग्रह में ये कथाएँ सगृहीत नही हैं। पचतत्र की कतिपय कथाएँ बृहत्कथामजरी एव कथासरित्सागर म सगृहीत हैं। ऐसी स्थिति म यह कहना कठिन हो जाता है कि सस्कृत लोककथाओ मे प्रतिबिम्बित लोक जीवन किस काल एव देश का है। सोमदेव भट्ट एव क्षेमेन्द्र ग्यारहवी बारहवी शती म कश्मीर म हुए एव बृहत्कथाश्लोकसग्रह के रचयिता बुद्धस्वामी नेपाल म आठवी नवी शताब्दी मे हुए। विद्वान गुणाढ्य को ईसा प्रथम से चतुर्थ शताब्दी के मध्य सातवाहन राज्य के प्रतिष्ठान नामक किसी नगर के किसी सुप्रतिष्ठित नामक उपनगर का निवासी स्वीकार करते है। ऐसी स्थिति म सोमदेव एव क्षेमेन्द्र के मतैक्य के आधार पर यह कहने की स्थिति है कि इन कथाओ का मूल स्रोत "बृहत्कथा" है और उसकी वाचनाओ में अधिकाश कथाएँ "बृहत्कथा" की ही है। हाँ कथाओं की भाषा शैली सक्षेप विस्तार के साथ ही कवि के काल एव स्थान विशेष की परिस्थितियों का प्रभाव उनमें अवश्य आ गया होगा। कवि जिस समाज एव स्थान में रहता है उनके प्रभाव से अछूता नही रह सकता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इन कथाओं में चित्रित "लोक जीवन" मूलत गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के रचनाकाल ईसा प्रथम म चतुर्थ शती का है।

एक समस्या यह भी है कि सिंहासनद्वात्रिंशिका एव शुकसप्तति तो परवर्ती रचनाएँ है उन्हें बृहत्कथा के काल म कैसे रखा जा सकता है इस विषय म यह कहा जा सकता है कि *'सिंहासनद्वात्रिंशिका एव शुकसप्तति' दोनो ऐसे कथाग्रथ हैं जो प्रसग* एव परिस्थिति विशेष में लिखे गये है जहाँ सिंहासनद्वात्रिंशिका का उद्देश्य दुराचारी अकर्मण्य विलासी, अनैतिक राजा के प्रति आक्रोश अभिव्यक्त करके योग्य एव कुशल आदर्श प्रजापालक राजा की जीवन्त तस्वीर प्रस्तुत करता है वहाँ शुकसप्तति में विवाहिता स्त्रियों के नैतिक पतन को उजागर करते हुए उन्हें सुपथ बताकर अपने चरित्र की रक्षा करने का उपदेश दिया गया है। इन दोनों ग्रथो में सगृहीत कथाएँ यथार्थ एव आदर्शपरक हैं।

सस्कृत कवि भले दरबारी रहा हो परन्तु वह सकीर्ण विचारों वालों कदापि न था जो अपने काव्य में मात्र राज दरबार का ही वर्णन करता रहता। वह अत्यधिक सवेदनशील था। समाज के सुख दुख उसके हृदय को स्पर्श करते थे। दीन दुखियों की दीनता पर वह द्रवीभूत हो जाता था। यद्यपि सस्कृत साहित्य में प्रत्यक्षत अभिजात वर्ग के लोगों का ही वर्णन है परन्तु सस्कृत कवि की सूक्ष्म एव तीक्ष्ण दृष्टि एव शैली को जानने समझने के लिए सूक्ष्म एव तीक्ष्ण दृष्टि की ही आवश्यकता होती है। राजा के आश्रय में रहते हुए भी सस्कृत कवि कितनी सूझ बूझ से समाज के यथार्थरूप को अपने साहित्य म प्रस्तुत करता है, यह उसकी विशेषता है। साहित्य तो समुद्र है उसकी सतह पर तैर कर मोती प्राप्त करना असभव है मोती पाने के लिए हमें तो उसमें गहरे तक गोते लगाने पडेंगे। लोक सस्कृति साहित्य रूपी समुद्र में बहुत गहरे जमी पडी है। वहाँ तक पहुँचने एव उसे पाने के लिए नवदृष्टि एव साहस की अत्यावश्यकता है। लोक सस्कृति हमारी पारम्परिक मूल विरासत है, जिसका विलुप्त होना जीवन चेतना का ह्रास जैसा है। उसके अभाव में हम निष्क्रिय बन जायेंगे स्व में सिमट कर रह जायेंगे। प्रेम स्नेह आस्था विश्वास सद्भाव

त्याग, समर्पण आदि जीवन के मूल मंत्र हैं। जीवन के ये मूल मंत्र लोक-जीवन में सदैव प्रवहमान रहे हैं—पीढ़ी दर पीढ़ी।

संस्कृत लोककथा में "लोक" विषयक सामग्री प्रत्यक्षतः दृष्टिगत नहीं होती है। जब हम इन कथाओं की गहराई में उतरते हैं, तब हम लोक जीवन की जीवन्त छवि देख पाने में समर्थ होते हैं। लोक-जीवन के विभिन्न पक्षों को उजागर करने के लिए लोक एवं उच्च, अभिजात वर्ग की जीवन शैली, दिनचर्या एवं अन्य सम्बन्ध का तुलनात्मक अध्ययन भी किया गया है।

सैद्धान्तिक रूप में वर्ण व्यवस्था के आधार गुण, कर्म एवं रुचि थे परन्तु व्यावहारिक रूप में उनका स्थान जाति जन्म ले रहे थे। समाज दो वर्गों में विभक्त हो चुका था—सम्पन्न एवं विपन्न अर्थात् उच्च निम्न जिनके आधार शक्ति, सम्पत्ति एवं प्रतिष्ठा रहे हैं। चमार, भील किरात डोम्ब चाण्डाल, शबर, भांड, भाट, नट, विट आदि ऐसी जातियाँ थीं जो ग्राम नगर से बाहर या जंगल में रहा करती थी। नाई, चमार, सुनार, कुम्हार, सुथार, लुहार, मालाकार भाट नट चारण आदि जातियाँ पुश्तैनी व्यवसाय कर रही थीं। वस्तुतः ग्राम नगर या कहीं और जगह रहने वाला साक्षर या निरक्षर, किसी भी जाति, धर्म, वर्ण का, परिस्थितियों एवं अभावों के कारण समाज का ऐसा वर्ग जो सम्पत्ति, सम्मान एवं शक्ति की दृष्टि से, सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक एवं धार्मिक जीवन में, कहे जाने वाले उच्च, सभ्य, सुशिक्षित एवं सम्पन्न वर्ग की दृष्टि में उपेक्षित रहा, फिर भी उसकी जीवन शैली में उस देश की पुनीत संस्कृति प्रवहमान रही, वही "लोक" है।

"लोक" की जीवन शैली के अतिरिक्त संस्कृत लोककथाएँ यह भी सिद्ध करती हैं कि सम्पन्न वर्ग के उसके साथ कैसे, क्या सम्बन्ध रहे, प्राकृतिक विपदाओं में उसकी क्या दशा हुई, किस प्रकार उसके पारम्परिक जीवन एवं विश्वासों का उच्चवर्ग ने अपनी स्वार्थपूर्ति में उपयोग किया, किस प्रकार उसे भाग्य, पूर्वजन्म के कर्म फल, परलोक आदि का पाठ पढ़ाकर स्वार्थ सिद्ध किये गये और क्यों निश्छल सरल, भाग्य एवं कर्म में विश्वास करने वाला "लोक" उच्चवर्गीय एवं धर्म पाखण्डी शासकों, सामंतों व धनपतियों के छल छद्म एवं अनयकनुष को नहीं समझ पाया।

लोक कथाओं में प्रेम वर्णन नितान्त स्वाभाविक है। कहीं भाई बहिन का विशुद्ध प्रेम है, तो कहीं माता पिता के साथ पुत्र पुत्री का अकृत्रिम वात्सल्य है। किस प्रकार माँ अपने प्यारे पुत्र को प्राणों से भी अधिक प्यार करती है, दीनता में अपने दिन काटते हुए भी अपने लाडले को कष्ट नहीं होने देती। पति पत्नी, प्रेमी प्रेमिका का पुनीत दिव्य प्रेम यहाँ है तो प्रेम के कुत्सित रूप का वर्णन भी यहाँ है। ननद भाभी, सास-बहू के एवं भाई भाई के बीच बँटवारे को लेकर शाश्वतिक विरोध झगड़े का चित्रण भी हुआ है। लोक के रहन सहन, खान पान, आभूषण शृंगार, उत्सव, पर्व त्यौहार, मनोविनोद, संस्कार, रीति रिवाज, विश्वास, शकुन, मान्यताएँ, शिक्षा, प्रेम, नारी, उसकी सामाजिक स्थिति, परतन्त्रता, वैधव्य जीवन, सती प्रथा, पर्दा प्रथा, वेश्यावृत्ति, नारी एवं प्रेम आदि पक्षों की जीवन्त एवं यथार्थ छवि संस्कृत लोककथा की विशेषता है।

वर्ण व्यवस्था के छिन्न भिन्न होने का प्रमुख कारण आर्थिक पक्ष रहा है। "लोक" परिश्रम कर जीविकोपार्जन करता रहा। व्यापार कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त ऐसे कई व्यवसाय हैं जो परम्परा में पीढ़ी दर पीढ़ी प्रवहमान रहे हैं। एक बहुत बड़े समूह की जीविका का साधन दास दासी एवं भृत्य होना था। निन्द्य कर्म धूर्तता, चालाकी एवं भिक्षा से भी कुछ लोग जीविकोपार्जन करते थे। प्राणियों का आखेट भी जीविका का एक साधन था। समाज में धन का सदैव महत्त्व रहा है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न निर्धन का शोषण करते थे। लोगों की प्राथमिक अनिवार्य आवश्यकता जीविका भी सम्पुपलब्ध न थी।

कथा साहित्य में सामाजिक मर्यादा एवं नैतिकता के व्यावहारिक जीवन में निर्वाह की दृष्टि से देखा जाए तो लोक अर्थात् दीन हीन एवं पारम्परिक प्रवाह में जीवन जीने वाला वर्ग ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। उसे ही उच्च कहा जाना चाहिए। उच्च कहा जाने वाला सम्पन्न प्रतिष्ठित एवं शक्तिशाली वर्ग वस्तुतः चरित्रहीनता अनैतिकता अकर्मण्यता आदि दुर्गुणों अवगुणों का आगार था।

प्रकृति का असंतुलन ही प्राकृतिक आपदा है। अतिवृष्टि अनावृष्टि अत्यधिक शीत आतप में लोक की स्थिति दयनीय थी। लोग दो ग्रास तक खाने को विवश हो जाते थे। वस्तुतः प्रकृति के आंगन में निवास करने वाला क्रीडा करने वाला सरल सरस हृदय "लोक" ही उसके प्रकोप का भाजन बना। प्राकृतिक असन्तुलन स्थिति में वह सर्वहारा बन चुका था। लोक जीवन में जिसके पास जो कुछ धन अन्न था वे उसे बाँटकर खा रहे थे सहयोग कर रहे थे परन्तु लोकपाल सामन्त एवं अन्य धनी व्यक्ति इसका स्थिति से स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे। ऐश्वर्यसम्पन्न वर्ग दीन हीन वर्ग का येन केन प्रकारेण शोषण करता रहा। व्यक्ति को योग्यता रुचि के अनुरूप कार्य के अवसर प्राप्त न थे। सामन्तवादी व्यवस्था का ही लक्षण है कि अवसरों को अगमाग्नता के साथ धनी और अधिक धन पाने के लिए लालायित रहते वहीं वे राजा सामंत के चाटुकार भी बन रहे थे। आर्थिक शोषण के विरोध में यत्र तत्र लोक चेतना का स्वर भी प्रस्फुटित हुआ है।

संस्कृत लोककथाएँ शासक वर्ग एवं सम्पूर्ण शासन तंत्र का यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत करती हैं तथा राजा सामंत मंत्री दास दासी प्रजा आदि के अधिकार एवं कर्तव्य के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष का ज्ञान कराती हैं। राजनीति छल कपट अनीति एवं भ्रष्टाचार जैसी दुष्प्रवृत्तियों का घर बन चुकी थी। राजा सामंत विलासिता के पंक में आकण्ठ डूब चुके थे। अपने कर्तव्यों को भूलकर अधिकारों का स्वार्थ सिद्धि में उपयोग कर रहे थे। "लोक" राज्य की नीति मर्यादा का पालन कर रहा था। राजनीति का सैद्धान्तिक रूप राज दरबारों में जिह्वा पर था और व्यावहारिक रूप लोक जीवन में था। राजा प्रजा के लिए नहीं अपितु प्रजा राजा के लिए था। राजा सुन्दरी यश एवं ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए युद्ध कर रहे थे। किन्तु सभी राजा ऐसे नहीं थे कुछ ऐसे राजाओं के भी उल्लेख हैं जो अपने अधिकार एवं कर्तव्यों के प्रति सजग हैं तथा लोक कल्याण को ही श्रेष्ठ धर्म मानते हैं।

धर्म वाछनीय है, धर्म ही व्यक्ति को कर्त्तव्य अकर्त्तव्य में भेद बताता है और व्यक्ति उसी के अनुसार सत्कर्म में प्रवृत्त होकर नीति के मार्ग पर चलता है। धर्म का सम्बन्ध आस्था, विश्वास, सदाचार एव अनुष्ठान से है, चाहे वह आस्था परम्परा से मिली हो या आप्तवक्ता से या चमत्कार से सहज उद्भूत हुई हो। संस्कृत लोककथा की आत्मा उपदेश देती है कि धर्म वाणी में नही, जीवन क्रिया में है और उसकी परिणति है—लोक- कल्याण। कृत्रिमता से दूर "लोक" सच्चे, सरल हृदय से धर्म का पालन करता रहा। हृदय की शान्ति के लिए आस्था, विश्वास से उद्भूत एव पूर्व परम्परा से प्राप्त पूजा-पाठ, व्रत, अनुष्ठान एव विभिन्न देवी देवताओं की स्तुति पूजा करता रहा। उसका विश्वास है कि निश्छल भाव से उद्भूत हृदय की पुकार भगवान् अवश्य सुनता है। वृक्ष, गाय, नदी आदि में आस्था से ही उनकी देवी-देव के रूप में पूजा करता है। सत्य भाषण, निष्कपट, व्यवहार, निष्ठा, दया क्षमा, धैर्य निर्लोभ वृत्ति अभय कामना, ईश्वर-भक्ति, देवी देवता की पूजा, उसके नाम का स्मरण, व्रत, उपवास दान, यज्ञ, तीर्थोपासना, अतिप्राकृतिक शक्तियाँ, प्राणीमात्र की सेवा आदि लोक-धर्म के तत्त्व हैं।

लोक-जीवन में कर्म अर्थात् पौरुष में अटल विश्वास था। लोक पूर्णत भाग्य के भरोसे नही बैठते, उनका मानना था कि भाग्य तो पूर्वजन्म में कृत कर्मो के फल का ही दूसरा नाम है। यदि इस जन्म में सुकर्म न करेंगे तो पुनर्जन्म भी कष्टकारक होगा। वर्तमान जीवन में भाग्य का प्रबल होना पूर्वजन्म क अच्छे कर्मों का फल है।

सत्य लोक हृदय सस्कृति का आदि स्रोत है। लोक हृदय वह हिमालय है, जहाँ से गङ्गा उद्भूत होती है, इस लोक हिमालय से उद्भूत गङ्गा में सस्कृति का निर्मल पुनीत जल सदैव प्रवहमान रहा है। समय के साथ साथ यह सास्कृतिक गङ्गा का उद्गम स्थल लोक हृदय हिमालय अद्यतन उसी पुनीत रूप में है। दुर्भाग्य है कि लोककथा का उद्गम ग्रन्थ "बृहत्कथा" मूल रूप में अनुपलब्ध है। यद्यपि उसकी वाचनाओं एव परवर्ती कथा ग्रन्थों ने उसकी परम्परा को अक्षुण्ण रखा, परन्तु 'बृहत्कथा" की क्षति को पूर्ण नही किया जा सकता है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध एक भावी शोध दिशा की ओर सकेत करता है। "बृहत्कथा" की वाचनाओ के रचना क्षेत्र-कश्मीर, नेपाल एव केरल में प्रचलित तथा पिछले वर्षों में सकलित की गई एव अद्यतन लोक जीवन में मौखिक परम्परा में प्रवहमान लोक-कथाओं का "बृहत्कथा" की वाचनाओं की कथाओं के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इससे बृहत्कथा की वाचनाओं में सगृहीत कथाओं एव मौखिक परम्परा में जीवित परवर्ती लोक कथाओं में समानता-असमानता, परिवर्तन आदि का ज्ञान सम्भव हो सकेगा। यह भावी शोध कार्य लोक-साहित्य की "मौखिक परम्परा" एव लोक सस्कृति के इतिहास को प्रामाणिकता प्रदान कर सकता है।

सन्दर्भ सूची

सस्कृत ग्रन्थ

1 अथर्ववेद (शौनकीय) — श्री सायणाचार्यकृत भाष्यसहित भाग 4 विश्वबन्धु (सपा) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान होशियारपुर वि.स. 2019

2 अभिज्ञानशाकुन्तलम् — कालिदास निरूपणविद्यालंकार बाबूराम पाण्डेय (सपा) साहित्य भण्डार मेरठ 1971

3 अमरकोश — रामाश्रमीटीका चौखम्बा सस्कृत सस्थान प्रकाशन वाराणसी

4 अष्टाध्यायी — (भाष्य) प्रथमावृत्ति द्वितीय भाग ब्रह्मदत्त जिज्ञासु रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर 1965

5 उत्तररामचरितम् — भवभूति डॉ रमाकान्त त्रिपाठी (व्याख्याकार) चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 1980

6 ऋग्वेद — विश्वबन्धु (सपा) सप्तमभाग विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान होशियारपुर 1964

7 ऐतरेय ब्राह्मण — सायणभाष्य हाग द्वारा सपादित बम्बई 1863

8 कठोपनिषद् — गीताप्रेस गोरखपुर, स 2021

9 कथासरित्सागर — सोमदेवभट्ट पण्डित जगदीशलाल शास्त्री (सपा) मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1977 (पुनर्मुद्रण)

—प्रथम भाग स्व पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत (अनु) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना 1974 (द्वितीय सस्करण)

—द्वितीय भाग स्व पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत (अनु) 1979 (द्वितीय सस्करण)

—तृतीय भाग, श्रीजटाशङ्कर झा, श्री प्रफुल्लचद आझा "मुक्त" (अनु) 1973

10 काव्यप्रकाश — मम्मट श्रीनिवास शास्त्री (सपा), साहित्य भण्डार, मेरठ 1985 (नवम सस्करण)

11 कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् — वाचस्पति गैरोला (व्याख्याकार), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1984 (तृतीय सस्करण)

12 छान्दोग्योपनिषद् — सायणभाष्य सहित

13 दशरूपक — धनञ्जय, श्रीनिवास शास्त्री (सपा), साहित्य भण्डार मेरठ, 1979, (चतुर्थ सस्करण)

14 धातुपाठ — पाणिनिमुनि रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, स 2038

15 नाटयशास्त्रम् — भरतमुनि, श्रीबाबू लाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा सस्कृत सस्थान वाराणसी, 1978

16 निरुक्तम् — आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1966

17 नीतिशतकम् — भर्तृहरि, गङ्गासागराय, चौखम्बा ओरियण्टालिया वाराणसी, 1978

18 पातञ्जलयोगदशन — स्वामी श्री ब्रह्मलीन मुनि (व्याख्या) चौखम्बा सस्कृत सस्थान वाराणसी, 1990, (चौथा सस्करण)

19 बृहत्कथामजरी — क्षेमेन्द्र शिवदत्त काशीनाथ पाण्डुरग परब पाणिनि, नई दिल्ली, 1982

20 बृहदारण्यकोपनिषद् — डॉ उमेशानद शास्त्री, श्री कैलाश आश्रम, शताब्दी समारोह महासमिति, ऋषिकेश, विक्रम सवत 2036

21 भगवद्गीता — राधाकृष्णन राजपाल एण्ड सस, दिल्ली, 1972

22 मनुस्मृति — जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे (सपा), भारतीय विद्याभवनम्, बम्बई 1972

23 महाभारत — गीताप्रेस गोरखपुर वि स 2025, (तृतीय सस्करण)

24 याज्ञवल्क्यस्मृति — उमेशचद्र पाण्डेय (व्याख्या) चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी 1967

25 रामायणम् — वाल्मीकिमहामुनि श्रीनिवास शास्त्री श्रीमानमुखोपाध्याय शर्मा (सम्पा.) परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली 1983

26 वेतालपचविंशति — पण्डित दामोदर झा साहित्याचार्य (व्याख्या) चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1987 (द्वितीय संस्करण)

27 व्याकरण महाभाष्य — भगवत्पतञ्जलि चारुदेव शास्त्री (अनु.) मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली सं 2025

28 शतपथब्राह्मण — सायणभाष्य वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई

29 शुकसप्तति — पण्डित रमाकान्त त्रिपाठी (व्याख्याकार) चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी 1966

30 शुकसप्ततेरालोचनात्मकमध्ययनम् — दीपनारायण शर्मा पीएचडी शोध प्रबन्ध काशी हिन्दूविश्वविद्यालय 1981

31 सांख्यतत्त्वकौमुदी — वाचस्पति मिश्र डा गजानन्द शास्त्री मुसलगाँवकर (व्याख्या) चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 2040 (तृतीय संस्करण)

32 सिंहासनद्वात्रिंशिका — हस्तलिपि पुराति गिरिर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान उदयपुर

33 हरिवंशपुराण — आचार्य जिनसेनकृत पन्नालाल जैन भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन 1962

हिन्दी-ग्रन्थ

1 अग्रवाल, डॉ कैलाशचन्द्र — लोक साहित्य विधाएँ एवं दिशाएँ विनय प्रकाशन आगरा 1986

2 अग्रवाल नीलम — बृहत्कथा किताब महल प्राइवेट लिमिटेड रजिस्टर्ड ऑफिस इलाहाबाद 1965

3 अग्रवाल, वासुदेवशरण — पाणिनिकालीन भारतवर्ष मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी विस 2012
— कला और संस्कृति साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद [illegible]

4 आचार्य, चतुरसेन — गोली प्रभात प्रकाशन दिल्ली [illegible]

5 उपाध्याय डॉ कृष्णदेव — लोकसाहित्य की भूमिका साहित्यभवन (प्राइवेट) लिमिटेड इलाहाबाद 1957

6	उपाध्याय बलदेव	संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा निकेतन, वाराणसी, 1978 (दशम संस्करण) पुनर्मुद्रण, 1987
7	उपाध्याय, महावीर प्रसाद	अष्टछाप कृष्णकाव्य में लोक तत्त्व, पीएचडी, शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976
8	कवठेकर, डॉ प्रभाकर नारायण	संस्कृत साहित्य में नीतिकथा का उद्गम एवं विकास, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1969
9	कालेलकर, काका	लोक जीवन, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1950 (नवीन संस्करण) अनु श्रीपाद जोशी
10	कीथ एबी	संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ मंगलदेव शास्त्री (अनु) मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1967 (द्वितीय संस्करण)
11	गैरोला, वाचस्पति	संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1960
12	गौड, मनोहर लाल	आचार्य क्षेमेन्द्र, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ
13	चतुर्वेदी, डॉ गोपाल मधुकर	भारतीय चित्रकला, साहित्य संगम, इलाहाबाद, 1989 (प्रथम संस्करण)
14	चारण डॉ सोहनदान	राजस्थानी लोकसाहित्य का सैद्धान्तिक विवेचन, साहित्य मन्दिर, जोधपुर, 1980
15	चौहान, डॉ विद्या	लोकसाहित्य, सरस्वती प्रकाशन, कानपुर, 1986
16	झवेरी, डॉ भारती	गुजराती बालवार्ताओ स्वरूप अने समीक्षा (गुजराती) डॉ भारती झवेरी (प्रकाशक) अहमदाबाद, 1984
17	ठाकुर डॉ सम्पन	हिन्दी की मार्क्सवादी कविता, प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1978 (प्रथम संस्करण)
18	त्रिपाठी, आद्या प्रसाद	सूर साहित्य मे लोक-संस्कृति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1889
19	दशोरा, करुणा	संस्कृत लोककथा में नारी समालोचनात्मक अध्ययन, पीएचडी शोध प्रबन्ध, सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर, 1986

20 दाधीच, रामप्रसाद — राजस्थानी लोकसाहित्य अध्ययन के आयाम जैन सस जोधपुर 1979

21 दुबे श्यामचरण — मानव और सस्कृति राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1960

22 द्विवेदी डॉ रामचन्द्र — जैन विद्या का सास्कृतिक अवदान (सपादन) आदश साहित्य सघ प्रकाशन चूरू 1976

23 द्विवेदी, डॉ रेवा प्रसाद — आनदवर्धन मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल 1972 (प्रथम सस्करण)

24 द्विवेदी, डॉ वाचस्पति — कथासरित्सागर एक सास्कृतिक अध्ययन सुशीलकुमार द्विवेदी पटना 1977

25 द्विवेदी, डॉ हजारी प्रसाद — विचार और वितर्क साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद 1954 (नवीन सस्करण)

26 नागर, अमृतलाल — साहित्य एव सस्कृति राजपाल एण्ड सस दिल्ली 1986

27 पाठक डॉ मूलचन्द्र — सस्कृत नाटक में अतिप्राकृत तत्व देवनागर प्रकाशन, जयपुर, 1976

28 पाण्डेय डॉ त्रिलोचन — लोक साहित्य का अध्ययन लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद 1978

29 पाण्डय, आचार्य राजेन्द्र — धर्मद्रुम किशोर विद्या निकेतन वाराणसी 1980 (प्रथम सस्करण)

30 पाल, डॉ रमन — ऋग्वेद में लौकिक सामग्री इण्डोविजन प्राइवेट लिमिटेड गाजियाबाद 1988

31 प्रसाद, डॉ दिनेश्वर — लोक साहित्य और सस्कृति जयभारती प्रकाशन इलाहाबाद 1989

32 प्रसाद, डॉ एसएन — कथासरित्सागर तथा भारतीय सस्कृति चौखम्बा ओरियण्टालिया 1978

33 मेक्सम्यूलर — धर्म की उत्पत्ति और विकास ब्रजरत्न दीक्षित ललाम (अनु) आदश हिन्दी पुस्तकालय इलाहाबाद, 1968 (प्रथम सस्करण)

34 डॉ मोतीचन्द्र — धमन्द्र और उनका समाज उत्तरप्रदेश हिन्दी सस्थान लखनऊ 1984 (प्रथम सस्करण)

35 यादव शङ्करलाल — हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य हिन्दुस्तानी एकडमी इलाहाबाद

36 लेविन, गर्बोगार्द — भारत की छवि, योगेन्द्र नागपाल (अनु) पीपुल्स पब्लिशिग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1984

37 विद्यालकार, डॉ निरुपण — भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1971

38 वेदालकार, वेद शर्मा — भारतमञ्जरी का समीक्षात्मक परिशीलन, परिमल पब्लिकेशन, अहमदाबाद (दिल्ली), 1980 (प्रथम सस्करण)

39 शर्मा, चित्रा — सस्कृत नाटकों में समाज चित्रण, मेहरचद लक्ष्मणदास, दिल्ली, 1969

40 शर्मा, डॉ दीपचन्द्र — सस्कृत-काव्य में शकुन, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1966, (प्रथम सस्करण)

41 शर्मा, शिवशङ्कर — मामूली आदमी, प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1987

42 शुक्ल, डॉ केसरी नारायण — रूसी लोक साहित्य, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, 1967

43 सक्सेना डॉ ओमवती — हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्ग-सघर्ष, सूर्य प्रकाशन मन्दिर, बीकानेर, 1986 (प्रथम सस्करण)

44 डॉ सत्येन्द्र — लोक साहित्य विज्ञान, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, आगरा, 1962 (प्रथम सस्करण)

45 साकृत्यायन, राहुल — मानव-समाज, किताब महल, इलाहाबाद, 1946 (द्वितीय सस्करण)

46 साडेसरा, प्रो भोगीलाल ज — वसुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, (गुजराती अनुवाद) श्री जैन आत्मानद सभा, भावनगर, वि स 2003

47 सिंह, गोविन्द — सिंहासनबत्तीसी, साधना पॉकेट बुक्स, दिल्ली, 1988

48 सिंह, मदन मोहन — मानसेतर तुलसी-साहित्य में लोक-तत्त्व की विवेचना, पीएचडी शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977

49 सिंह, रविशङ्कर — पचतत्र में लोक जीवन, पीएचडी शोध प्रबन्ध, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1982

50	सिंह, विजय कुमार	क्षेमेन्द्र एक मामाजिक अध्ययन पीएचडी शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी 1979
51	डॉ स्वर्णलता	लोकसाहित्य विमर्श रत्न स्मृति प्रकाशन बीकानेर 1979 (प्रथम सस्करण)
52	हण्डू, जवाहरलाल	कश्मीरी और हिन्दी के लोकगीत एक तुलनात्मक अध्ययन, विशाल पब्लिकेशनज, कुरक्षेत्र 1917
53	डॉ हरगुलाल	सूरसागर में लोक जीवन हिन्दी साहित्य सस्थान दिल्ली 1967

अंग्रेजी ग्रन्थ

1	Agrawala, VS	Ancient Indian Folk Cults, Prithivi Prakashan Varanasi 1970 —Brihatkathaslokasamgraha A Study Prithivi Prakashan, Varansi 1974
2	Chattopadhyay, Aparna	Socio Cultural life of India as known from Somadeva B H University Varanasi Ph D Research Work, 1964
3	Chaudhary, Bani Roy	Folk tales of Kashmir Sterling Publishers (P) Ltd Delhi First edition 1969
4	Dundes, Alan	Essays in Folkloristics, Folklore Institute Meerut 1978 —A study of Folklore University of California at Berkeley 1965
5	Emeneau, M B	Jambhaldatta s Version of the Vetālapancavinsati, American Orient Society, New Haven Connecticut 1934

6	Haldav, Smt Santı Ranı	Development of the art of Story tellıng ın Sanskrıt Specıally from Panchatantra to Dasakumarcharıta, Banaras Hındu Unıversıty, Varansaı, Ph.D Research work, 1982
7	Krıshnamacharıar, M	Hıstory of Classıcal Sanskrıt Lıterature, Motılal Banarasıdas, Varansı, first Reprınt, 1970
8	Macdonell, Arthur A	A Hıstory of Sanskrıt Lıterature, Motılal Banarasıdas, Varansı, Second Indıan Edıtıon, 1971
9	Mande, Dr PB	Aspects of Folk Culture, Parımal Prakashan, Aurangabad, Fırst edıtıon, 1984
10	Patıl, N B	Folklore ın the Mahābhārata, Ajanta Publıcatıon, Delhı, 1983
11	Penzer, N M	The Ocean of Story, Vol I, IX, X, Motılal Banarasıdas, Varanası, Indıan Reprınt, 1968
12	Shastrı, Pandıt Madhusudan Kaul	Desop-adesa of Narmamla of Kshemendra of Texts and Studıes, Research Department, Kashmır State, Srınagar, 1923
13	Srıvastava, Sahab lal	Folk Culture and Oral Tradıtıon, Abhınav Publıcatıons, New Delhı, 1974
14	Steın, M A	Kalhanas Rājatarangını, Vol I-III, Motılal Banarasıdas, New Delhı, Reprınt, 1989
15	Stermbach, L	Aphorısms and Proverbs ın the Kathāsarıtsāgar, Akhıl Bharatıya Sanskrıt Parıshad, Lucknow, 1980

16	Suryakant	Ksemendra Studies, Oriental Book Agency, Poona 1954
17	Wilson, N H	Sanskrit Literature Asian Educational Services New Delhi 1984
18	Winternitz Maurice	History of Indian Literature Vol III Subhadra Jha (Trans) Motilal Banarasidas, Varansi 1967

कोश-ग्रन्थ

1	नालन्दा विशाल शब्द सागर	नवल जी (सपा) आदीश बुक डिपो दिल्ली सवत 2007
2	पौराणिक कोश	राणाप्रसाद शर्मा ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी वि स 2028
3	वाचस्पत्यम्	(बृहत्सस्कृताभिधानम्) तारानाथतर्कवाचस्पति भट्टाचार्य षष्ठोभाग चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी 1962
4	वैदिक इण्डेक्स	एए मैक्डोनल एबी कीथ रामकुमार राय (अनु) भाग 2 चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1962
5	शब्दकल्पद्रुम	राजाराधाकान्तदेव चतुर्थोभाग चौखम्बा सस्कृत सीरीज वाराणसी 1961
6	शब्दस्तोम महानिधि	श्री तारानाथ भट्टाचार्य चौखम्बा सस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी 1967
7	सस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे नाग प्रकाशन दिल्ली 1988 छात्र सस्करण
8	हिन्दी विश्वकोश	सम्पूर्णानद एव अन्य (सपा) नागरीप्रचारिणी सभा वाराणसी 1963 प्रथम सस्करण
9	हलायुधकोश	(अभिधानरत्नमाला) जयशङ्कर जोशी (सपा) सरस्वती भवन वाराणसी कृत प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग उत्तरप्रदेश द्वारा प्रकाशित
10	हिन्दी साहित्यकोश	धीरेन्द्र वर्मा एव अन्य (सपा) भाग 1 ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी स 2020 द्वितीय सस्करण

11	Encyclopaedia Britanica, Vol IX, Chicago, London, 1960	
12	Sabdastotma-Mahanidhi, A Sanskrit Dictionary	TaranathaBhatacharya, Chowkhambha Sanskrit Series Office, Varanasi, 1967

पत्र-पत्रिकाएँ

1	जनपद	वर्ष 1 अक, वाराणसी
2	परिषद् पत्रिका	शोध त्रैमासिक बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना वर्ष 16 अक 2, 4 वर्ष 17 अक- 1-4 वर्ष 18 अक 1-4
3	सस्कृति	वर्ष 27 अक 3 जुलाई सितम्बर, 1985, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।